मनोविज्ञान के क्षेत्र

राममूर्ति वर्मा

मनोविज्ञान के क्षेत्र

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—१००

मनोविज्ञान के क्षेत्र

लेखक

रामपूर्ति लूम्बा

लखनऊ विश्वविद्यालय

हिन्दी समिति, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९६४

मूल्य
साढ़े सात रुपये

मुद्रक
नरेन्द्र भार्गव
भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी

प्रकाशकीय

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला का यह सौवाँ प्रकाशन पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है।

समिति की जो प्रकाशन-योजना तैयार की गयी थी, उसमें उच्च कोटि की तीन सौ पुस्तकें निकालने का लक्ष्य सामने रखा गया था—सौ सामान्य मौलिक क्रम की, सौ अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के उपयोगी ग्रन्थों के अनुवाद की तथा सौ सामान्य श्रेणी के पाठकों के लिए लोकप्रिय ढंग की पुस्तकें रखी गयी थीं। हाल में इसमें कुछ संशोधन किया गया और अब विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं के लिए महत्त्व-पूर्ण पाठ्य-ग्रन्थ प्रकाशित करना भी समिति के लक्ष्य में सन्निविष्ट कर लिया गया है। अभी तक हम जो सौ पुस्तकें निकाल चुके हैं, उनमें लगभग ४० वैज्ञानिक विषयों की तथा शेष इतिहास, दर्शन, साहित्य, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि की हैं। इधर केन्द्रीय सरकार द्वारा भी कुछ ग्रन्थों का प्रकाशन-कार्य हमें सौंपा गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मनोविज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों का वर्णन किया गया है। यों तो मनोविज्ञान का अध्ययन प्राचीन काल से ही होता आ रहा है, पर इधर इसका विकास काफी तेजी से हुआ है और विस्तृत चिन्तन, मनन एवं अध्ययन और अनुसंधान के परिणामस्वरूप इसके बहुत-से अलग-अलग स्वतंत्र क्षेत्र बन गये हैं। इसमें इन्हीं क्षेत्रों का परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। इसमें समाविष्ट सामग्री सबके काम की है, क्योंकि जीवन के हर क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक तथ्यों तथा सिद्धान्तों के अध्ययन का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। लेखक ने विद्यार्थियों तथा अध्येताओं की आवश्यकताओं का विशेष ध्यान रखा है। हमें आशा है कि इसके पठन और अध्ययन से वे यथेष्ट लाभान्वित हुए बिना न रहेंगे।

ठाकुर प्रसाद सिंह

सचिव, हिन्दी समिति

प्राक्कथन

वर्तमान शताब्दी को मनोविज्ञान-प्रधान शताब्दी कहा गया है। इसमें मनोविज्ञान का बड़े वेग से विकास हो रहा है। यह विकास कई दिशाओं में फैला है। परिणामस्वरूप मनोविज्ञान के अलग-अलग बहुत-से स्वतंत्र क्षेत्र बन गये हैं। प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति की अपनी-अपनी गति रही है और समयानुसार बढ़ती-घटती रही है। मानव का आधुनिक विचार मनोविज्ञान के इस विकास से बहुत प्रभावित है। मानवचेष्टा के सम्पूर्ण विस्तार में मनोविज्ञान के अनुप्रयोग हो रहे हैं। इन अनुप्रयोगों का महत्त्व यह समझने पर और भी बढ़ जाता है कि मनुष्यों के मनों के अंदर ही युद्ध, अपराध, रोग आदि की मूल जड़ें होती हैं और वहीं उनसे बचने के प्रयत्नों को केन्द्रित होना चाहिये। यही नहीं, मनुष्य अपनी व्यक्तिगत, सामाजिक, क्रियात्मक, आर्थिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक सभी प्रकार की प्रगति में मनोवैज्ञानिक विधियों, तथ्यों तथा सिद्धान्तों के प्रयोग द्वारा अधिक सफलता और संतुष्टि की आशा कर सकता है।

इस ग्रंथ में मनोविज्ञान के मुख्य क्षेत्रों के उन अंगों का परिचय देने का प्रयत्न किया गया है जो कालांतर में टिक कर स्थायी हो गये प्रतीत हो रहे हैं। आरम्भ के एक अध्याय में मनोविज्ञान के ऐतिहासिक विकास का पृष्ठभूमि रूप से संक्षिप्त वर्णन भी किया गया है। इसके उपरांत तीन अध्यायों में प्रचलित मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों का परिचय दिया गया है। इन सम्प्रदायों की क्षेत्रों में गणना प्रायः नहीं की जाती परन्तु लेखक का विचार है कि होनी चाहिए। प्रत्येक सम्प्रदाय मनोविज्ञान के लगभग समस्त प्रश्नों के एक सूत्रबद्ध उत्तर ज्ञात करने का प्रयत्न है। प्रायः इन सम्प्रदायों में किसी एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की विशेषताओं का अन्य मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के समझने में भी अनुप्रयोग किया गया है। अनेक मनोवैज्ञानिकों ने अपना बहुत-सा परिश्रम मनोविज्ञान के विविध विषयों की किसी एक ऐसी एक सूत्रबद्ध व्याख्या के निर्माण, विकास, पुष्टिकरण अथवा प्रतिपादन में लगाया है। अतः लेखक इन मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों को भी मनोवैज्ञानिक अध्ययन, अनुसंधान अथवा अनुप्रयोग के क्षेत्र मानता है।

पुस्तक लिखने में प्रायः ऐसे पाठकों को ध्यान में रखा गया है जो किसी विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान का अध्ययन करने आये हैं अथवा किसी भी विशेष उद्देश्य से मनोविज्ञान

शास्त्र के वर्तमान रूप को जानना और समझना चाहते हैं। विशेषतया उनकी आवश्यकताओं को मन में रखा गया है जो यह निर्णय करना चाहते हैं कि मनोविज्ञान के कौन-से क्षेत्र में विशेष अध्ययन अथवा अनुसंधान करना उनके प्रयोजनों और रुझानों के अधिक अनुकूल बैठेगा। लिखने की शैली को इतना स्पष्ट बनाये रखने का प्रयत्न किया गया है कि किसी भी वर्ग का सामान्य सुशिक्षित व्यक्ति भी आज के इस प्रमुख विज्ञान का परिचय प्राप्त कर सके। परन्तु परिचय संक्षिप्त रखने की दृष्टि से कुछ विषयों की ओर संकेत मात्र किया गया है और आशा है कि इनसे पाठकों को मनोविज्ञान का अन्य साहित्य देखने की प्रेरणा मिलेगी।

लेखक ने इस ग्रंथ में मनोविज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों का जिस क्रम से वर्णन किया है उसे वह क्रम स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। फिर भी आशा है कि पाठक इसके अध्यायों को अपनी रुचि अनुसार जिस क्रम से चाहें बिना किसी विशेष कठिनाई के पढ़ सकेंगे। कदाचित् कुछ पाठकों को पहले चार अध्याय शेष सभी अध्यायों के उपरांत पढ़ने में ही सुविधा होगी।

—लेखक

विषय-सूची

मनोविज्ञान के क्षेत्र

१

मनोविज्ञान का विकास

मनोविज्ञान के विषय की ओर मनुष्य का ध्यान सदा से ही आकर्षित रहा है। सदा से ही मनुष्य ने अपने में, अन्य मनुष्यों में, और कदाचित् अन्य सभी जीवों, वनस्पतियों और निर्जीव पदार्थों में भी शरीर के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के तत्त्व को पहचाना है और उसे समझने का प्रयत्न किया है। उसे अपने और दूसरों के स्वभावों, गुणों, सामर्थ्यों, व्यवहारों, सम्बन्धों, प्रयासों, दुःखों, सुखों तथा अन्य अनुभवों में सदा से ही रुचि रही है। वह मन अथवा आत्मा नाम के इस अभौतिक अंश को ग्रसित करने वाले रोगों से मुक्ति का प्रयास भी करता रहा है, और उसके सम्बन्ध में गम्भीर साहसपूर्ण चिंतन और व्याख्या भी। मनुष्य की इस सब उधेड़-बुन में शतियों तक प्रेक्षणों, अनुमानों, वाद-विवादों और खोजों की अनेक धाराएँ चलती रही हैं। उन्हीं में से मनोविज्ञान का जन्म एवं विकास हुआ है।

अति प्राचीन मनोवैज्ञानिक विचार

मनोविज्ञान के विकास के कुछ प्रारम्भिक चरण असभ्य, अति प्राचीन यूनान के साहित्य और इतिहास में मिलते हैं। जागना तथा सोना, संवेगों का उदय तथा विलय एवं व्यक्तियों का सामान्यता से विचलन प्राचीन यूनानी को विलक्षण एवं विचारणीय लगा। इससे उसके चिन्तन में आत्मा की एक आधारभूत धारणा बनने लगी। उसने सोचा कि निद्रा में, उग्र रोग में और गहरी चोट लगने पर अवश्य ही मनुष्य में से कोई ऐसा तत्त्व बाहर निकल जाता होगा, जो उसके जागने या ठीक हो जाने पर उसमें फिर लौट आता होगा। उसे प्रतीत हुआ कि स्मरण में, जाग्रत व्यक्ति का शरीर एक जगह उपस्थित रहने पर भी, उसका कोई अंश पूर्व की घटनाओं के स्थलों पर फिर से पहुँच जाता होगा। तभी तो वह उन घटनाओं का फिर से रसास्वादन कर लेता है और उनको भी करा देता है जिन्होंने उक्त घटनाएँ नहीं देखीं। स्वप्न में तो वह इह-लौकिक शरीर के बिना ही बहुत से ऐसे स्थानों और घटनास्थलों में पहुँच जाता है जिनको शायद उसने स्वयं भी कभी नहीं देखा। तभी तो मृत अथवा अनुपस्थित व्यक्तियों का रूप, शब्द आदि कोई अंश कभी-कभी लोगों के अनुभवों में आ जाता है।

इन सब बातों को सोचने पर शरीर से भिन्न, अन्तःक्रियाशील, परन्तु अलग रह सकने में समर्थ, वैयक्तिक आत्मा की धारणा बनी। आरम्भ में इसे पारलौकिक तत्त्वों, नक्षत्रों आदि द्वारा निर्धारित भी समझा गया। स्वाभाविक ही था कि इस आदि मनश्चिन्ता में आत्मा के उपचार की दृष्टि से व्यावहारिक प्रश्न भी उठते। इस ओर ध्यान दिया जाने लगा कि भटकती हुई आत्माओं को अपने शरीर में लौटाने के लिए, उन्हें स्वस्थ और सबल बनाने के लिए, और जीवन की कठिनाइयों को सहने तथा उन पर विजय प्राप्त करने योग्य करने के लिए उपयुक्त साधन सोचे, निश्चित किये और व्यवहार में लाये जायें। ताड़न, सुझावदान, सम्मोहन और मानसिक विश्राम आदि उपाय सूझने लगे और उनके प्रयोग आरम्भ हुए। आत्मा की धारणा के इन सब संदर्भों की विषमता और उस धारणा की व्यावहारिक उपयोगिता ने उसका महत्त्व बढ़ा दिया। धीरे-धीरे आत्मा विश्व के एक मात्र आधार के रूप में प्रतिपादित तत्त्वों में से एक हो गयी। इस प्रकार मानव-आत्मा के रहस्यों का उद्‌घाटन, उसके विचार-व्यवहार को समझने का प्रयत्न और आत्मा एवं शरीर के द्वैत को सुलझाने का प्रयास दर्शन का एक अंग हो गया। तब से उन्नीसवीं शताब्दी ईसवी के आरम्भ तक मनोविज्ञान औपचारिक रूप से लगभग पूर्णतया दर्शन की एक शाखा रहकर ही विकसित हुआ है। बहुत काल तक तो यह दर्शन के उस अंग का एक भाग रहा जिसे तत्त्वशास्त्र कहा जाता है और जिसके ईश्वर, आत्मा और भौतिक जगत् तीन प्रमुख विषय रहे हैं। इसीलिए इस बात में इसे मानसिक तत्त्वशास्त्र अथवा मानसिक दर्शनशास्त्र भी कहा गया है। यह प्रधानतया साधारण अनुभव पर, चिन्तन, गम्भीर परन्तु आंशिक एवं अनियन्त्रित प्रेक्षण, अनुमान तथा सूझ पर आधारित रहा है।

प्राचीन यूनानी दार्शनिकों ने आन्तरिक मानसिक तथ्य और बाह्य भौतिक पदार्थ के स्वरूप और परस्पर सम्बन्ध पर ध्यान केन्द्रित किया और यह निष्कर्ष निकाला कि बाह्य भौतिक पदार्थ और अनुभूत पदार्थ एक नहीं भिन्न हैं। उनका अनुमान था कि अनुभत पदार्थ केवल एक आकृति मात्र है जो बाह्य भौतिक पदार्थ का सम्पर्क हमारे मन अथवा आत्मा कहलाने वाली कोरी अभौतिक सतह पर छोड़ जाता है। प्लेटो ने इन अभौतिक आकृतियों अर्थात् प्रत्ययों को अनुभवोत्पन्न नहीं, मानव में स्वयंभू अर्थात् अपने स्वतंत्र अधिकार से स्थित माना। उसके विचार के अनुसार ये प्रत्यय वयस्क मनुष्यों में अपने मौलिक पवित्र रूप में होते हैं परन्तु बच्चों और जन्तुओं में प्रकृति-भ्रष्ट हुआ करते हैं। आत्मा तथा प्रत्ययों के अभौतिक होने के कारण प्लेटो ने धार्मिक विश्वास का अनुसरण करते हुए इन्हें शरीर की अपेक्षा श्रेष्ठ और मृत्यु के उपरान्त भी रहनेवाले माना। परन्तु उसके शिष्य अरस्तू ने जन्तुओं और वनस्पतियों से

मनुष्य की समानता दर्शाते हुए मानव आत्मा अथवा मन को मनुष्य के पशु-समान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव पर आधारित व्यावहारिक बुद्धिरूप बताया। साथ ही उसने यह अवश्य स्वीकार किया कि मनुष्य में एक अंश रचनात्मक बुद्धि का भी है, जो अक्षय तथा अमर होता है और पशुओं में नहीं पाया जाता। आत्मा की अभौतिकता के कारण यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक था कि फिर यह भौतिक जगत् से अनुभवरूपी सम्बन्ध में कैसे बँध जाती है। प्राचीन यूनानी विचारकों ने न्यमा नाम के एक वायु-रूपी पदार्थ को इस सम्बन्ध का आधार माना।

सत्रहवीं शती ईसवी

साढ़े बारह शतियों तक अनुभव को आत्मा और उसके प्रत्ययों के ज्ञान के आधार के रूप में नहीं स्वीकार किया गया। तब कहीं प्राकृतिक विज्ञान की अनुभव पर आधारित नवीन धाराओं से प्रभावित होकर सत्रहवीं एवं अठारहवीं शतियों में मनोविज्ञान स्पष्ट अपरोक्ष अनुभव पर आधारित होने लगा। इस क्षेत्र में कदाचित् पहले पहल फ्रांसीसी चिंतक डेकार्ट ने मनस्थ विश्वासों और विचारों में से केवल स्पष्ट अनुभव में आने वाले और संदेह का विषय न बनाये जा सकने वाले तथ्यों को ही सत्य मानने का साहसपूर्ण प्रयोग किया। मनोविज्ञान को सहज क्रियाओं अर्थात् प्रतिवर्तों की धारणा उसी के सूक्ष्म प्रेक्षण की देन है। अपने समय के प्राकृतिक विज्ञान की गति केन्द्रित प्रथा के अनुसार उसने यह सुझाया कि संवेदना-ग्राहक नाड़ियाँ ज्ञानेन्द्रियों से मस्तिष्क को जाती हैं और वहाँ से जीवस्फूर्तियाँ नलियों में से होकर मांस-पेशियों को कार्यशील करती हैं। जन्तुओं के सभी व्यवहार सर्वदा इसी व्यवस्थावश यंत्रवत् हुआ करते हैं। मनुष्य भी यंत्रवत् सहज क्रियाएँ करता है। परन्तु उसके मस्तिष्क के अन्दर मध्य में स्थित एक छोटी सी 'पीनियल' नाम की ग्रन्थि में वास करने वाली एक आत्मा भी होती है, जो उसे मूल्यांकनात्मक, वरणात्मक एवं तर्कसंगत स्वतंत्र क्रिया में लगा सकती है। डेकार्ट ने समस्त औद्वेगिक जीवन को आश्चर्य, प्रेम, घृणा, कामना, आनन्द और शोक छः मूल संवेगों के अन्तर्गत रखा। इन मूल संवेगों को उसने एक ओर तो मस्तिष्क, रुधिर-स्फूर्तियों और जीवनांगों के अंदर की गतियों से यंत्रवत् उत्पन्न घटनाएँ माना, परन्तु दूसरी ओर उन्हें बौद्धिक प्रकार्य स्वीकार किया। प्रेम को विषय से प्राप्त सुख के परिगणन पर और घृणा को प्रत्याशित दुःख पर आधारित बताया। इस प्रकार सर्वप्रथम डेकार्ट ने ही मानसिक प्रक्रियाओं और व्यवहारों तथा तंत्रिकाओं के प्रकार्यों के सम्बन्ध का सविस्तर वर्णन किया।

डेकार्ट के बाद मन और देह के सम्बन्ध का प्रश्न लाइब्नीत्स ने उठाया। उसने इन

विभिन्न विरोधी स्वरूप वाले तथ्यों में किसी प्रकार की अन्त:क्रिया की संभावना स्वीकार नहीं की और इसकी जगह उनमें पूर्वस्थित तारतम्य युक्त समानान्तरता का प्रतिपादन किया, बिलकुल ऐसी समानान्तरता जैसी एक ही समय बताने वाली दो घड़ियों में हुआ करती है। डेकार्ट द्वारा उपयोग की गयी मानसिक स्पष्टता में उसने कई मात्रा-भेद किये और स्पष्टतम प्रत्यक्षों से लेकर सर्वथा अस्पष्ट प्रत्यक्षों की सम्भावना को स्वीकार कर लिया। साथ ही उसने मनोविज्ञान को सहप्रत्यक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष के गतानुभवाधारित अर्थ की धारणा प्रदान की।

डेकार्ट के एक समकालीन अंग्रेज़ हॉब्ज़ ने शरीर-मन-सम्बन्ध के विषय को यह मानकर बहुत ही सरल कर दिया कि मानव मन अर्थात् उसके विचार, भाव, उद्देश्य सभी का मूल रूप आन्तरिक, यांत्रिक मस्तिष्कीय गति ही है। भय और तृष्णा वह आन्तरिक गतियाँ हैं जिनसे कर्म रूपी परिणाम उत्पन्न होते हैं। संकल्प भी चिन्तन प्रक्रिया में वह अन्तिम तृष्णा अथवा भय है जो विचार को स्पष्ट बाह्य रूप में प्रकट कर देता है। संवेदना ज्ञानेन्द्रिय तक पहुँचने वाली बाह्य गति का आन्तरिक रूपान्तर है। अनुभव के विषय का रूप-गुण कुछ भी बाह्य अर्थात् अनुभूत पदार्थ में नहीं होता, सब बाह्य पदार्थ के द्वारा मस्तिष्क में उत्पन्न गतियों, उपद्रवों अथवा परिवर्तनों का हमारे मन में व्यक्त होने वाला रूप है। बाह्य पदार्थ से ज्ञानेन्द्रिय का सम्पर्क टूट जाने के बाद भी यह आन्तरिक गति होती रहती है, और उसी के आभास को स्मरण अथवा कल्पना कहा जाता है। कल्पना और विचारों में इन गतियों का क्रम वही होता है जो साक्षात् अनुभव में होता है। मनोविज्ञान के इतिहास में आगे चलकर इसी को विचार-सम्बन्ध कहा गया है और मानसिक जीवन का मूलाधार नियम माना गया है। हॉब्ज को यह भी सूझ गया था कि किसी विचार से अनुभव द्वारा सम्बद्ध कई अन्य विचारों में से कौन-सा उसके बाद मन में आयेगा यह प्राथमिकता पर निर्भर होता है, अर्थात् जो विचार पूर्व विचार के साथ सबसे पहले सम्बद्ध हुआ होगा उसी के मन में आने की अधिक सम्भावना होती है। परन्तु न तो हॉब्ज़ इस सूझ पर स्थिर रह सका, और न ही उसका ध्यान विचार-प्रवाह का निर्धारण करने वाले अन्य नियमों की ओर गया। उसने यह अवश्य समझ लिया था कि विचार-प्रवाह मुक्त भी हो सकता है और विशिष्ट उद्देश्यों के अनुसार निर्देशित भी।

विचार-प्रवाह को पूर्णतया समझने के लिए विचारों और उनके उद्गमों का प्रेक्षण आवश्यक था। यह काम हॉब्ज़ के बाद जान लॉक ने किया। उसने देखा कि सब विचार अनुभव से उत्पन्न होते हैं। अनुभव में विचारों के दो प्रकार के उद्गम होते हैं; एक संवेदनाएँ, और दूसरे प्रत्यक्षण, चिंतन, तर्क तथा संकल्प जैसी प्रतिबिम्बात्मक प्रक्रियाएँ। इसलिए उसने संवेदक और प्रतिबिम्बक दो विचार-प्रकार बताये। संवेदक विचार रंग, ताप,

स्वाद आदि अनुभवों के गुण हैं, बाह्य उत्तेजकों के नहीं। इनमें भी लॉक ने मूल एवं गौण गुणों में भेद किया। आकार तथा गति आदि मूल गुण हैं। इनके विचार भौतिक उत्तेजकों के प्रतिरूप होते हैं। परन्तु रंग, स्वाद आदि गौण, अनुभव मात्र के गुण हैं। इन जैसा बाह्य जगत् के वास्तविक पदार्थों में कुछ नहीं होता। इन सब मूल तथा गौण गुणों के विचार मन में या तो अपने मौलिक सरल रूप में उठा करते हैं, या मिश्रित जटिल विचारों के रूप में। मिश्रित जटिल विचार संवेदक अथवा प्रतिबिम्बक विचारों के बारम्बार अनुभव में आने और परस्पर संगठित हो जाने से बन जाया करते हैं। उदाहरण के लिए रंगों की धारणा पदार्थता, हल्के श्वेत रंग, विशेष भारमात्रा विशेष दुर्मेयतामात्रा, विशेष प्रतन्यतामात्रा और विशेष द्राव्यतामात्रा के सरल विचारों के सम्मिश्रण से बनी होती हैं। इसी प्रकार सत्रहवीं शती में अंग्रेज अनुभववादियों ने विरोधी तथा सहचारी विचारों की सम्बन्धरूपी मानसिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करना एवं विचार-सम्बन्ध के नियमों की व्याख्या करना आरम्भ किया।

इसी शती में असामान्य मनोविज्ञान का क्षेत्र भी कुछ आकृति लेने लगा। १६२१ ई० में बर्टन ने अपने विशद शरीर विषयक ग्रन्थ 'एनाटमी आफ मैलेंकोली' में उन्माद परिचित प्रकारों का वर्णन किया। १६६२ में सिडेनहम ने मानसिक रोगों के विभिन्न प्रकारों के लक्षण बताये।

अठारहवीं शती ईसवी

अठारहवीं शती में विचार-सम्बन्ध का अध्ययन बहुत आगे बढ़ा और कुछ मात्रा में मानसिक रोग का भी। अंग्रेज पादरी बर्कले ने सभी गुणों को संवेदक अर्थात् अनुभवीय मात्र और इस अर्थ में गौण मानकर, मानसिक तथ्य प्रकार को एक मात्र तथ्य प्रकार बताया। उसने दूरी के जटिल, मिश्रित विचार का विश्लेषण किया, तथा उसमें वर्तमान दृष्टि-अनुभवों तथा भूत स्पर्शानुभवों की स्मृतियों के मिश्रण द्वारा क्रियात्मक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति को दर्शाया।

बर्कले को इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई थी कि अनुभवों एवं स्मृतियों के इस प्रकार एक शृंखला में गुंथन के लिए आत्मा में किसी एक सूत्र अथवा आधार के रूप में तथा साथ ही एक उत्पन्न कर्ता एवं सम्बद्ध कर्ता के रूप में, ईश्वर में विश्वास किया जाय। डेविड ह्यूम ने इन दोनों धारणाओं को बाह्य जड़ पदार्थ के समान ही अनावश्यक और अनुभवीय आधार रहित घोषित किया। उसने कहा कि प्रेक्षण में केवल मानसिक अवस्थाओं अर्थात् अनुभवों की अनन्त शृंखला ही आती है। इनका संगठन और क्रम प्राकृतिक मनः-सम्बन्ध शक्ति पर ही आधारित समझा जा सकता है। हार्ट्ले ने मनःसम्बन्धवाद को

सुसंगठित मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त की आकृति दी और मन:सम्बन्ध का दैहिक आधार दर्शान का प्रयत्न किया। भौतिकी से प्रेरणा लेते हुए उसने कहा कि उत्तेजना द्वारा स्नायु-तंत्रिकाओं में कम्पन उत्पन्न होते होंगे और वे ही प्रत्यक्षानुभव का दैहिक आधार होंगे। जब किसी ज्ञानेन्द्रिय का एक उत्तेजना के पश्चात् दूसरी उत्तेजना से सम्पर्क होता होगा, तब मस्तिष्क में पहली उत्तेजना से उत्पन्न कम्पनों के बाद दूसरी उत्तेजना से उत्पन्न कम्पन होते होंगे। इससे मस्तिष्क के विभिन्न अंगों में ऐसे सम्बन्ध स्थापित हो जाते होंगे कि आगे चलकर प्रथम उत्तेजना के पुनः उपस्थित होने पर मस्तिष्क के प्रथम भाग में उत्पन्न कम्पन दूसरी उत्तेजना की अनुपस्थिति में भी उससे सम्बन्धित मस्तिष्क-भाग में यदि पूर्ण मात्रा में नहीं, तो उससे कुछ कम मात्रा में कम्पन अवश्य उत्पन्न कर देते होंगे, अर्थात् इस प्रकार मस्तिष्क में कई संवेदनाओं का ऐसा सम्बन्धीकरण हो जाता होगा कि कि बाह्य परिवेश के सम्पर्क द्वारा एक संवेदना की उत्पत्ति से शेष संवेदनाएँ स्वयं तो नहीं परन्तु उनकी स्मृति-प्रतिमाएँ अवश्य प्रस्तुत हो जाती होंगीं। इस बात में गति बानें और मानसिक बानें समान रूप से पड़ जाया करती हैं। इस सिद्धांत के प्रतिपादन में हार्ट्ले ने प्रतिभा को दैहिक तथा मानसिक दोनों स्तरों पर संवेदना का कम तीव्र रूप ही माना। इसीलिए उसका यह विश्वास था कि मस्तिष्क में किसी संवेदना का और उसकी प्रतिभा का एक ही दैहिक स्थान होगा। इस प्रकार उसने व्यक्ति के सम्पूर्ण मन:सम्बन्ध-तंत्र का संवेदनात्मक अणुओं की संयुक्त आकृति के रूप में वर्णन किया। उसकी दृष्टि में समस्त ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, धर्म, नीति का यही स्वरूप था। हार्ट्ले ने प्रतिबिम्बक मन:प्रक्रियाओं को विचारों का स्वतंत्र उद्गम मानना अस्वीकार कर दिया।

लगभग इसी समय से जर्मनी में क्रिस्वन वुल्फ, कांट आदि ने इस विश्वास का प्रचार आरम्भ किया कि आत्मा की स्मृति, तर्क, संकल्प आदि कई अलग-अलग शक्तियाँ हैं और यह जब भी जिस शक्ति का प्रयोग करती है, उसमें पूरी तरह लग जाती है। परन्तु आत्मा एक इकाई है, केवल विभिन्न भागों का योग मात्र नहीं। स्काटलैण्ड में भी टॉमस रीड के नेतृत्व में मानसिक शक्तियों तथा उनके आधार मन के पक्ष में अनुभववादी ह्यूम के विरुद्ध, अनुभव का ही साक्ष्य प्रस्तुत किया गया। कहा गया कि प्रत्यक्ष शक्ति, स्मरण शक्ति, तर्क शक्ति, नैतिक बोध शक्ति, संवेदनात्मक अणुओं के मन:सम्बन्धों से उत्पन्न नहीं, वरन् मन की मौलिक अनुभव-सिद्ध शक्तियाँ हैं। अनुभववादियों के संदेहवाद के स्थान पर व्यक्ति तथा समाज में विश्वास की पुनः स्थापना की ओर संकेत करने के कारण, स्काटलैंड, इंग्लैंड, फ्रांस तथा अमरीका में इस विश्वास ने बहुत व्यापक मान्यता प्राप्त की।

फ्रांस में मन:-सम्बन्धवाद की एक अन्य प्रकार की प्रतिक्रिया भी हुई। कौंडिला को लगा कि मानसिक जीवन को समझने के लिए संवेदनाओं के अतिरिक्त मन:सम्बन्धों जैसे

किसी अन्य प्रकार के तथ्यों की धारणा अनावश्यक है। संवेदनाएँ स्वयं ही पर्याप्त हैं। वे स्वयं ही अपनी विषमता के कारण अनुमान और तुलना में आ जाती हैं, एवं सुखात्मक अथवा दुःखात्मक होती हैं। स्वाभाविक है कि सुखात्मक संवेदनाएँ देर तक बनी रहें और बारम्बार हों तथा दुःखात्मक संवेदनाएँ यथासम्भव शीघ्र ही समाप्त हो जाएँ। स्वयं संवेदनाओं का यही स्वभाव और नियम है। दृष्टि, स्पर्शादि संवेदना-प्रकार विविध अवश्य हैं परन्तु उन सबके नियम एक से ही हैं। इस संवेदना-केन्द्रित मनोविज्ञान को बोने ने दैहिक आधार दे दिया। उसने यह सुझाया कि विभिन्न संवेदना-प्रकारों में अन्तर इतना ही है कि वे मस्तिष्क के विभिन्न भागों की क्रियाशीलता पर निर्भर हैं।

इस शती के अन्तिम भाग में दैहिक आधार खोजने वाली, डेकार्ट, होब्ज़, हार्टले से आती हुई मनोविज्ञान की इस धारा के अन्तर्गत काबानी ने एक विचित्र प्रश्न उठाया, कि फाँसी पर लटकाये गये व्यक्ति को कष्ट होता है कि नहीं। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मनोदैहिक प्रक्रिया के तीन स्तर होते हैं। निम्नतम स्तर पर मेरु-रज्जु है। यह उत्तेजनाओं की प्रतिक्रिया में सहज क्रियाएँ करता है। मध्य स्तर पर अर्धचेतन, अर्धसंगठित क्रियाएँ होती हैं। उच्चतम स्तर पर चिंतन एवं संकल्प जैसे जटिल प्रकार्य होते हैं। फाँसी पर लटकने से देह में केवल निम्न स्तर की यंत्रवत् होने वाली सहज क्रियाएँ ही होती हैं, मस्तिष्क का उनमें कोई काम नहीं होता। इसलिए मानसिक प्रक्रिया नहीं हो सकती और कष्ट भी असम्भव होगा।

यही नहीं, काबानी ने मस्तिष्क की प्रक्रियाओं को भी सहजप्रक्रिया के समान स्नायु-प्रकार्य द्वारा परिवेश के प्रति सक्रिय समायोजन का यंत्रवत् साधन ही माना। केवल उसमें विकास द्वारा प्राप्त कुछ अधिक जटिलता स्वीकार की। काबानी ने सामाजिक उत्तेजना से उत्पन्न व्यक्तिगत व्यवहार के नियमों के अध्ययन के लिए समाज-मनोविज्ञान की स्पष्ट धारणा भी व्यक्त की।

इसी शताब्दी में मनोरोगों के अध्ययन का पुनरारम्भ भी फ्रांस में काबानी के मनोदैहिकी विचारों से ही हुआ। उसने मस्तिष्क के स्नायु-प्रकार्य आधार के पक्ष में, मस्तिष्क-रोग और मानसिक रोग का सम्बन्ध दर्शाने वाले बहुत से प्रदत्त एकत्रित किये। उसके बाद बिका ने मानवदेह को अवयव-समूह समझने वाली अब तक प्रचलित धारणा से आगे बढ़कर, देह का सूक्ष्मतर विश्लेषण करके, कुछ थोड़े से प्रकारों के ऊतकों से बनी हुई सिद्ध किया। परिणामस्वरूप उसने मानसिक रोग को शारीरिक एवं औतिकीय असामान्यता के रूप में दर्शाया। लगभग इसी समय पेरिस के उन्मादी सदन के संचालक पिने ने उन्मादियों के प्रति शैतानग्रसित नहीं; मस्तिष्क-रोग-ग्रस्त और सहानुभूति योग्य होने पर बल दिया। उनकी बेड़ियाँ कटवा दीं, उनके रोगों का वर्गीकरण किया

और जहाँ-जहाँ हो सका मस्तिष्क-विकार एवं मानसिक विकार के परस्पर सम्बन्ध को दर्शाया।

अठारहवीं शती में मनोविज्ञान के एक अन्य क्षेत्र का बीज भी पड़ने लगा। इंग्लैण्ड में रोडम् स्मिथ और जेरेमी बैन्थम ने व्यापार तथा अन्य आर्थिक प्रक्रियाओं के मानसिक आधारों अर्थात् उत्प्रेरणों का अध्ययन आरम्भ किया।

जर्मनी में कान्ट के ग्रन्थों में मनःशक्ति की धारणा पुनः प्रकट हुई। उसने आत्मा को निगमनात्मक तर्क द्वारा सिद्ध करना तो असम्भव माना, परन्तु ज्ञान, भाव तथा संकल्प इन बोध-व्यापारों को अविश्लेष्य, स्वाभाविक तथा जन्मजात स्वीकार किया। इन्हीं व्यापारों में उसे आत्मा का असंदिग्ध दर्शन हुआ।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी

परन्तु उन्नीसवीं शती में जर्मनी का यह परातत्त्ववाद अंग्रेज़ी मनःसम्बन्धवाद से दब गया। हर्बार्ट ने आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी मनोविज्ञान पर एक ऐसी पाठ्यपुस्तक लिखी, जिसमें संवेदन-गुणों को ही अनुभव के अन्तिम तथ्य मानकर विचारों तथा अन्य जटिल मानसिक अवस्थाओं को इन्हीं के समूहकरण से बना दर्शाया। किन्तु हर्बार्ट ने मानसिक प्रकारों को, अंग्रेजी और फ्रांसीसी, सांचावादी मनःसम्बन्धवादियों द्वारा प्रतिपादित निष्क्रिय सम्बन्धों की नहीं, क्रियाशील प्रवृत्तियों अथवा मनःशक्तियों की अभिव्यक्तियाँ माना। और इनके परस्पर सम्बन्धों को किसी अज्ञात सत्ता द्वारा गणितात्मक सिद्धान्तों पर आधारित समझते हुए एक मनःकलन के निर्माण के लिए आधारसूत्रों की व्याख्या की।

हर्बार्ट ने कई नवीन तथ्यों की ओर ध्यान आकर्षित किया। उसने बताया कि अनुभव-तत्त्वों का सम्बन्ध संगति का भी हो सकता है और परस्पर विरोध अथवा संघर्ष का भी। असंगत विचारों में चेतना में स्थान पाने के लिए होड़ होती है। वे एक दूसरे को चेतना से निकाल बाहर करने का प्रयत्न करते हैं। इस परिस्थिति में विचार कैसे पूर्ण चेतना के उच्च स्तर पर पहुँचते हैं अथवा कैसे वहाँ से गिरकर अवचेतना में आ जाते हैं, इसे व्यक्त करने के लिए हर्बार्ट ने कुछ गणितात्मक सूत्रों का निर्माण किया। हारे हुए निर्वासित विचार, जब तक वे पुनः किसी प्रकार चेतना में लौटने में सफल न हो जायँ, तब तक, मन के किसी अँधेरे कोने में मुँह छिपाये पड़े रहते होंगे, इस आधार पर हर्बार्ट को अवचेतना की महत्त्वपूर्ण धारणा सूझी। ऐसे ही हर्बार्ट ने एक चेतना-द्वार की धारणा भी प्रस्तुत की जिसको पार करके ही विचार चेतना में प्रवेश पा सकते हैं अथवा चेतना के बाहर जा सकते हैं। मानसिक संघर्ष, अवचेतना तथा चेतना-द्वार की इन धारणाओं ने मनोविज्ञान के

विकास में बड़े महत्त्वपूर्ण प्रयोगों और गंभीर वाद-विवादों को प्रेरणा दी है, परन्तु मनोविज्ञान को हर्बार्ट की सबसे अधिक विख्यात देन है सक्रिय पूर्वानुभव-कोष की धारणा। प्रत्येक नवीन अनुभव इसी कोष के अनुसार अर्थ प्राप्त करके चेतना में स्थान पाता है और उसका इसी कोष में समावेश हो जाता है। इस धारणा ने सीखने की प्रक्रिया में व्यक्ति के पूर्वानुभव-कोष के उपयोग तथा संसार के विभिन्न क्षेत्रों के प्रेक्षण द्वारा इस कोष की वृद्धि का महत्त्व दर्शा कर शिक्षा-पद्धति में बहुत बड़ी प्रगति की संभावना की है।

हर्बार्ट ने मनोविज्ञान को स्वतंत्र, अनुभवाधारित, गणितानुप्रयोगी, प्राकृतिक विज्ञान के रूप में स्वीकार कर लेने पर बहुत बल दिया। धीरे-धीरे कुछ जर्मन देह-प्रक्रिया-विज्ञानियों ने थोड़े से ऐसे प्रदत्त एकत्र कर लिये, जो प्रायोगिक मनोविज्ञान का आरम्भिक रूप बन गये। चेक देहवैज्ञानिक पर्किजे ने दृष्टि सम्बन्धी अनुभवों पर दो भागों में एक बृहत् ग्रन्थ लिखा। उसके द्वारा खोजे इस नियम ने तो मनोविज्ञान में मान्य पद प्राप्त किया है कि रात्रि को दृष्टि में रंग की चमक सापेक्षतः कम हो जाया करती है। योहानेज़ मुलर ने भी दृष्टि पर एक ग्रंथ प्रकाशित किया और दृष्टि के कुछ अनुभवों का वृत्तान्त उपलब्ध किया। ऐसे ही स्पर्श के विषय में बेबर ने प्रारंभिक खोजें कीं। प्राग विश्वविद्यालय में पर्किजे के उत्तराधिकारी हेरिंग ने दस वर्ष तक दृष्ट देश-प्रत्यक्ष पर अनुसंधान किये और तत्सम्बन्धी नैसर्गिक वाद का प्रतिपादन किया। इसी दिशा में आगे चलकर प्रत्यक्ष को, अनुभव से अर्जित गुणों पर नहीं, तंत्री-तंत्र के प्राकृतिक गुणों पर आधारित मानकर मनोविज्ञान में गेष्टाल्ट-वाद की स्थापना हुई। हेरिंग ने वर्ण-सिद्धान्त में भी अपना अलग स्वतंत्र मत प्रकाशित किया जिसके अनुसार रेटिना में लाल-हरा, पीला-नीला और श्वेत-श्याम तीन पदार्थ होते हैं। इनमें से प्रत्येक में उपचयन तथा अपचयन दो प्रकार का उत्तेजन हो सकता है। यों छः प्रकार की मूल वर्ण संवेदनाएँ सम्भव हो जाती हैं। हेरिंग ने १८८० में ताप-संवेदना के विषय में भी अपने वर्ण-सिद्धान्त से मिलता-जुलता सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसमें उसने शीत एवं उष्ण को विरोधी प्रतिक्रियाओं पर आधारित बताया। इसके अतिरिक्त हेरिंग ने स्मरण का भी दैहिक गुण के रूप में अध्ययन किया।

इस समय तक भौतिकी और दैहिकी की प्रगति ने प्रकाश, शब्द आदि के पारगमन के नियमों तथा आँख, कान, नाक, त्वचा आदि में होने वाली संवेदना-ग्रहण-प्रक्रियाओं का कुछ ज्ञान उपलब्ध कर लिया था। अब प्रत्येक मानसिक व्यापार का मस्तिष्क में भिन्न स्थान है कि नहीं, इस प्रश्न को लेकर बड़ा विवाद उठा। जर्मनी में शती के आरम्भिक काल में ही गाल (१७५८–१८२८) ने कपाल सामुद्रिक की स्थापना की थी। उसका विचार था कि अलग-अलग मन के बहुत से प्रकार्य होते हैं। प्रत्येक प्रकार्य मस्तिष्क के किसी विशिष्ट भाग में स्थित होता है। गाल ने स्वयं मस्तिष्क में तीस के ऊपर मानसिक प्रकार्यों

की तथा बाद में दूसरे अनुसंधानकों ने बहुत से अन्य प्रकार्यों की स्थिति निश्चित की। गाल का यह भी विचार था कि व्यक्ति में कोई मानसिक गुण अथवा प्रकार्य कितना उन्नत है यह इस पर निर्भर होता है कि मस्तिष्क में उस प्रकार्य अथवा गुण का वास-स्थान कितने आनुवंशिक विकास को प्राप्त हो चुका है। जितना आनुवंशिक विकास मस्तिष्क के उस भाग का हुआ होता है, उतना ही वह खोपड़ी के अपने ऊपर के भाग पर दबाव डालता है, और उतनी ही उस भाग में गाँठे उभर आती हैं। हाथ से कपाल को टटोल कर समुन्नत मस्तिष्कक्षेत्रों को पहचाना जा सकता है, और इस प्रकार व्यक्ति के मानसिक गुणों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। गाल की गणना उन थोड़े से लोगों में भी होनी चाहिए जिन्होंने पहले-पहल मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों को मस्तिष्क के समायोजन-साधनों के रूप में देखा और उनमें एक उद्वेगिक अंग की उपस्थिति को भी पहचाना।

लगभग इसी समय फ्रांस में भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रवैगिक होता जा रहा था। कुछ ही पहले काबानी (१७५७–१८०८) ने प्रतिवर्ती क्रियाओं का महत्त्व दर्शाया था। अब मैन दबीरां ने (१७६६–१८२४) बान, संकल्प एवं आतमबोध की उत्पत्ति का परिवेश के प्रति समायोजन के अनुभव पर आधारित विश्लेषण किया। स्काटलैंड में भी टॉमस ब्राउन ने मन को विभिन्न अभिव्यक्तियों वाला एक पदार्थ मानते हुए मनःसम्बन्ध को उपक्षेपण के रूप में देखा। उसने इसका एक ही नियम माना; सहवर्तन, परन्तु इसकी अभिव्यक्ति को कभी समानता, कभी वैपरीत्य और कभी सामीप्य पर आधारित होने से तीन प्रकार का कहा। किन्तु इन सबसे अधिक महत्त्व इस बात का है कि ब्राउन ने इस ओर ध्यान दिया कि प्रत्येक विचार के अनेकों मनःसम्बन्ध होते हैं, परन्तु वास्तव में उपक्षपण केवल एक ही सम्बन्धित विचार का होता है। विचारधारा के इस वास्तविक क्रम का निर्धारण समझने के लिए उसने साहचर्य के नौ उपनियमों का प्रतिपादन किया। इनमें वर्णित निर्धारक है मूलोत्तेजना की दीर्घता, स्पष्टता, पुनरावृत्ति और नवीनता, उसके अन्य सम्बन्धों की न्यूनता, व्यक्ति का स्वभाव, व्यक्ति में सामयिक उद्वेगिक परिवर्तन, उसकी शारीरिक अवस्था के परिवर्तन एवं आचार-विचार की पूर्वनिर्मित बातें।

प्रावेगिक विश्लेषण की इन धाराओं को विशेष पुष्टि मनोविकार के अध्ययन, अवचेतना की धारणा के प्रतिपादन तथा मनश्चिकित्सा के जन्म ने दी। १८५२ में लोत्जे ने चिकित्सात्मक मनोविज्ञान पर एक पुस्तक प्रकाशित की। १८६९ में जर्मन दार्शनिक राडुअर्ड फ़ोन हार्टमॅन ने अवचेतना-दर्शन पर एक ग्रन्थ प्रकाशित किया। फ्रांसके साल्पेट्रियेर केन्द्र ने मनोविकारों के वैज्ञानिक अध्ययन के विकास में बहुत बड़ा योग दिया। इस केन्द्र का नेता शार्का था, जिसने १८७५ में मनश्चिकित्सा में सम्मोहन-विधि को प्रतिष्ठित किया।

परन्तु इस काल में मनोविज्ञान में अप्रावेगिक अर्थात् प्रायोगिक धारा का प्रवाह बहुत वेग से आगे बढ़ा। फ्लूरां ने मस्तिष्क में मानसिक व्यापारों के लिए विशिष्ट स्थानों का होना स्वीकार नहीं किया परन्तु १८३१ में फ्रांस में ही ब्रोका ने वाक्केन्द्र का पता लगा लिया। उससे फ्लूरां के सिद्धान्त की मान्यता गिर गयी, और तंत्रीय ऊर्जा की विशिष्टता का यह नियम भी प्रतिपादित हुआ कि विभिन्न नाड़ियों के अलग-अलग विशिष्ट व्यापार होते हैं। दृष्टि-नाड़ी देखने के लिए और श्रवण-नाड़ी सुनने के लिए होती है। दृष्टि-तंत्री के यांत्रिक, रासायनिक अथवा वैद्युतिक किसी भी प्रकार की उत्तेजना से प्रकाश-संवेदना होती है। दृष्टिग्राहक नाड़ीतंत्र से शब्द आदि अन्य किसी प्रकार की संवेदना प्राप्त नहीं हो सकती, यही नहीं, किसी एक ज्ञानेन्द्रिय के अन्दर कई अलग-अलग नाड़ियाँ होती हैं। इन सब का भी इस इन्द्रिय के संवेदना-क्षेत्र के अंदर ही अलग-अलग विशिष्ट कार्य होता है। इस ज्ञान से संवेदना और प्रत्यक्ष जैसी मानसिक प्रक्रियाओं की वैज्ञानिक समझ प्राप्त कर लेने की आशा बँध गयी और मनोवैज्ञानिक खोज ने मनोभौतिकीय तथा मनोदैहिकीय प्रयोगों का रूप ले लिया।

इन प्रयोगों के फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का स्पष्ट उदय हुआ। इसका सर्वाधिक श्रेय फ़ेख्नर और वूंट दो जर्मनों को है। फ़ेख्नर ने १८६० में प्रकाशित अपने ग्रन्थ मनोभौतिकी में मनोमापन की नींव डाली और संवेदना-प्रक्रिया के अध्ययन में सांख्यिकीय विधि का प्रयोग आरम्भ किया। उसके पूर्वगामी वेबर ने तथा फ़ेख्नर ने अपने प्रयोगात्मक प्रेक्षणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि किसी भी प्रकार की संवेदना की तीव्रता का उसकी भौतिक उत्तेजना की मात्रा से निश्चित सांख्यिकीय सम्बन्ध होता है, और इस सम्बन्ध को निम्न समीकरण के रूप में लिखा जा सकता है।

$$\text{संवेदना} = \text{स} \times \text{लघुगणक} \; (\text{उत्तेजना})$$

इस समीकरण में व्यक्त नियम को यों भी कहा जा सकता है कि किसी उत्तेजना में होनेवाली वृद्धि का बोध व्यक्ति को तभी हो सकता है जब वृद्धि कम-से-कम उस मूल उत्तेजना के एक निश्चित अनुपात में हो। फ़ेख्नर ने प्रतिमा-प्रवाह और स्मृति-उत्तर-प्रतिमा का भी अध्ययन किया और प्रतिमा-प्रवाह के प्रकार खोज निकाले।

फिर वर्षों तक प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के मुख्य विषय संवेदना और प्रत्यक्ष ही रहे। दृष्टि-सिद्धान्त स्थिर करने के लिए प्रयोग हुए। हेरिंग द्वारा दृष्टि-देश-प्रत्यक्ष के नैसर्गिक सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ। वर्णमिश्रण के नियम की स्थापना हुई। प्रकाश और वर्ण की संवेदनाएँ, एकनेत्रीय एवं द्विनेत्रीय प्रत्यक्ष-वैपरीत्य, उत्तर प्रतिमा-चांचल्य, दक्पटीय

सूचियों और दंडों के व्यावहारिक भेद एवं दीप्ति-प्रयोगात्मक अनुसंधानों के प्रिय विषय रहे। कुछ श्रवण-सम्बन्धी खोजें भी हुईं। ताल, मिश्रित स्वर, स्वरसंगीति आदि का अध्ययन हुआ और हेल्महोल्ज द्वारा श्रवण-सम्बन्धी अनुध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ। काल-प्रत्यक्ष के बारे में भी प्रयोग हुए। संवेदनात्मक प्रतिक्रिया के माप्य अंगों की ओर ध्यान दिया जाने लगा। अवधान के विस्तार का मापन होने लगा। देश और विशेषत: दूरी के प्रत्यक्ष का विश्लेषण आरम्भ हुआ। द्विबिन्दु-स्पर्शबोध-द्वार एवं स्पर्श-स्थान-निश्चयन पर प्रयोग होने लगे। स्पर्श तथा श्रवण के सम्बन्ध में प्रतिक्रियाकाल मापा जाने लगा।

प्रायोगिक मनोविज्ञान का विशिष्ट शास्त्र के रूप में जन्म १८७९ में माना जाता है। इस वर्ष जर्मनी के लाइप्त्सिग विश्वविद्यालय में वूंट (१८३२–१९२०) ने विश्व की प्रथम मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला स्थापित की, प्रायोगिक मनोविज्ञान का शास्त्रीय शिलान्यास किया और उसके लिए एक अनुसंधान-कार्यक्रम बनाया। वूंट ने इसके क्षेत्र में संवेदना, प्रत्यक्ष और अवधान ही नहीं; क्रिया और संकल्प को भी स्थान दिया और मानव ही नहीं; जन्तुमन को भी विषय के रूप में स्वीकार किया।

वूंट की मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला में कई देशों से विद्यार्थी इस नवीन विज्ञान के क्षेत्र में खोज की दीक्षा लेने के लिए आने लगे। उसने अपने इन शिष्यों को मन की सरल प्रतिक्रियाओं के अंतर्दर्शन-विधि से मनोभौतिकी प्रयोगों द्वारा विश्लेषण करने की प्रेरणा दी। इन प्रयोगों में मानव-व्यवहार के सुनियंत्रित परिस्थितियों में प्रेक्षण-विषय बनाने को महत्त्व दिया जाता था। चेतना तथा उसकी मानसिक अवस्थाओं में मूल शुद्ध संवेदनात्मक अंशों की खोज होने लगी। संवेदना विषय-वर्ण-बोधों, आकार-बोधों, चमक-बोधों आदि के पुंज के रूप में वर्णित होने लगी। इस प्रकार मनोविज्ञान में अनुभव में वस्तुतया प्रत्यक्ष होने वाले और किसी भी प्रभाव में आकर केवल मान लिये जाने वाले अंशों को अलग-अलग कर देना संभव हुआ। मनोविज्ञान में सतर्क-विधि-नियमबद्धता आयी। वेबर और ब्रे ने श्रवण के विषय में महत्त्वपूर्ण खोजें कीं और वेवर-ब्रे प्रक्रिया नाम से विख्यात नियम खोज निकाला।

वूंट के शिष्यों ने लाइप्त्सिग से लौटकर अलग-अलग दिशाओं में प्रायोगिक मनोविज्ञान का विकास आरम्भ किया। कुछ ही वर्षों में संसार के कई देशों में मनोवैज्ञानिक प्रयोग-शालाएँ खुल गयीं। इंग्लैण्ड में प्रथम मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला मायर्स ने १९१३ में स्थापित की। अमरीकन कैटेल ने वूंट के पास प्रतिक्रियाकालों का तथा उनमें वैयक्तिक अंतरों का अध्ययन किया था। उसने अपने देश लौट कर क्षमताओं और क्रियाकौशलों में वैयक्तिक अंतरों की खोज आरम्भ की। इस प्रकार वहाँ विद्यालयों के बच्चों, नौकरी के लिए अभ्यर्थियों और सैनिकों के मनोवैज्ञानिक परीक्षण की नींव तैयार होने लगी।

यों मनोविज्ञान एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में विकसित हो गया। अपनी निजी समस्याएँ, अपनी निजी विधियाँ और अपने निजी दृष्टिकोण तथा सिद्धान्त लिये हुए वह अपने निजी क्षेत्र में निजी प्रदत्तों, अध्ययन-फलों, नियमों तथा अनुप्रयोगों की खोज में व्यस्त हो गया। साथ ही अपनी समस्याओं के विश्लेषण तथा पुनःकथन की ओर, अपनी विधियों की परीक्षा और परिशोध की ओर, और अपने दृष्टिकोणों तथा सिद्धान्तों के पुनश्चिन्तन तथा पुनस्संगठन की ओर वह प्रौढ़ता सहित प्रयासशील हो गया है।

इस प्रकार विकसित मनोविज्ञान में सामान्य सिद्धान्तविचार की प्रमुख धाराओं का वर्णन पाठक अगले तीन अध्यायों में तथा विशेष विषयों पर प्राप्त ज्ञान का वर्णन उनके आगे के अध्यायों में पढ़ेंगे। इनमें पहले सामान्य व्यक्तिगत मानसिक जीवन, असामान्य व्यक्तियों के मानसिक जीवन, सामाजिक जीवन के मनोवैज्ञानिक अंगों तथा बाल मनोविज्ञान के अध्ययन का परिचय दिया जायगा। तत्पश्चात् जीवन के विभिन्न व्यावहारिक क्षेत्रों में मनोविज्ञान के अनुप्रयोगों का वर्णन किया जायगा।

२

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय (१)

पूर्वोक्त विकास का परिणाम मनोविज्ञान का स्वतंत्र शास्त्र के रूप में उदय था। परन्तु इसका उपपरिणाम यह भी हुआ कि अब मनोविज्ञान की परिभाषा, इसके क्षेत्र, इसकी विधियाँ और इसकी एकसूत्रता के सिद्धान्त के विषय में महत्त्वपूर्ण प्रश्न मनोवैज्ञानिकों के चिंतन में प्रमुख स्थान प्राप्त करने लगे। इन सभी विषयों पर मनोवैज्ञानिकों में मतवैषम्य प्रकट हुआ और फलस्वरूप बहुत से मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों का उदय हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का अन्तिम भाग और वर्तमान शताब्दी का पूर्वार्ध मुख्यतः इन मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों का काल कहा जा सकता है। इस अध्याय में उन प्रमुख सामान्य मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया जायगा, जो इस काल में प्रचलित रहे हैं और जिनकी आज के मनोविज्ञान पर अमिट छाप पड़ी है। बहुत से मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त विशिष्ट मानसिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में बने और प्रतिपादित हुए हैं। परन्तु यहाँ केवल उन सामान्य मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों पर ध्यान केन्द्रित किया जायगा, जिनके विषय मनोविज्ञान का स्वरूप, इसका अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध, इसकी समस्यासूची, इसकी अनुसंधान-विधियाँ, इसमें अनुभवगत तथ्यों का अर्थ तथा महत्त्व एवं प्रत्यय-निर्माण जैसे सामान्य मनोवैज्ञानिक प्रश्न हैं। इन सम्प्रदायों के निर्माण में मनोवैज्ञानिकों के समक्ष प्रायः यह प्रश्न रहा है कि क्या मनोविज्ञान के सभी तथ्यों और विचारों को किसी प्रकार के एक सुसंगत सिद्धान्त में समन्वित किया जा सकता है। स्वाभाविक है कि इन सब विषयों में मतभेद के कारण ये सब सम्प्रदाय अलग-अलग अन्तिम निष्कर्षों पर पहुँचें। इन अन्तरों की ओर भी ध्यान दिया जायगा।

मनोरचना अस्तित्ववाद

विश्व की प्रथम मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला के निर्माता वूंट और उनके एक प्रमुख शिष्य टिचनर का विश्वास था कि मनोविज्ञान को देह-रचना-विज्ञान तथा देहप्रकार्य-विज्ञान पर आधारित होकर "वैज्ञानिक" हो जाना चाहिए। मनोविज्ञान का विषय मन अथवा आत्मा जैसा कोई पदार्थ नहीं। कार्यकारण नियमों के अनुसार होने वाली चेतन-प्रक्रिया प्रत्यक्ष अनुभव है। अन्य प्राकृतिक विज्ञानों का विषय भी अनुभवजगत्

है। वह अनुभवजगत् अनुभवों से बना है। सभी वस्तुएँ, पौधे, शरीर, मन अनुभव मात्र हैं। ये सब वर्णों, देशों, कालों, उष्णताओं, शब्दों आदि सरल संवेदना रूपी तत्त्वों के संयोगफल होते हैं; कभी स्थायी और कभी अर्ध स्थायी संयोगफल। यह सरल संवेदनात्मक तत्त्व स्वयं अर्थहीन, विषयहीन और अव्यक्त होते हैं। परन्तु इनका इस स्वरूप में वास्तविक अनुभव हमें कभी-कभी ही होता है, जैसे नदी के किनारे के दृश्य में तल्लीन हो जाने पर। ऐसे अनुभव को अस्तित्वात्मक अनुभव कह सकते हैं। विभिन्न विज्ञानों में यही अस्तित्वात्मक अनुभव, जो स्वयं वास्तव में अर्थहीन, विषयहीन और अव्यक्त है, विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है और विभिन्न अर्थों एवं महत्त्वों को प्राप्त होता है। जब हम उसे अपने से अलग स्वतंत्र रूप में देखते हैं, तब वह भौतिक विज्ञान अर्थात् वस्तुरूप हो जाता है, और उस वस्तु का अनुभव प्रकाश आदि अन्य वस्तुओं पर निर्भर प्रतीत होने लगता है। इसके विपरीत जब हम उसे अपने ही में तंत्रिकातंत्र की सक्रियता पर निर्भर चेतनारूप में देखते हैं, तब वह मनोविज्ञान का विषय अर्थात् मानसिक प्रक्रियारूप हो जाता है। मानसिक प्रक्रिया के रूप में प्रत्यक्षानुभव व्यक्तियों को ही होता है। मनोविज्ञान का काम व्यक्तियों के इन अनुभवों के सरलतम तत्त्वों का अध्ययन करना है। मनोरचना-अस्तित्ववादी वूंट तथा टिचनर का विश्वास था कि अनुभव का चरमांश अथवा परमाणु संवेदनानुभव है, जो ज्ञानेन्द्रियों, तंत्रिकाओं तथा मस्तिष्क-केन्द्रों के उत्तेजन से समानांतर रूप से सम्बन्धित होता है। इसलिए उनका विचार था कि मनोविज्ञान की विधि के तीन अंग होंगे—देह प्रकार्यात्मक प्रयोग, अनुभवकर्ता द्वारा आत्म-प्रेक्षण, तथा मानव-व्यक्तियों की सांस्कृतिक कृतियों का विश्लेषण। मनोविज्ञान में स्वभावतः ही आत्म-प्रेक्षण का महत्त्व सर्वाधिक होगा। आत्मप्रेक्षण अनुभवकर्ता व्यक्ति द्वारा अपने ही अनुभवों का अंतःप्रेरण है। इसमें प्रत्येक अनुभव का अंतर्निरीक्षण द्वारा अनुभवांशों में विश्लेषण किया जाता है और यह विश्लेषण तभी रुकता है जब आगे विश्लेषण असम्भव हो जाता है। जिस मानसिक प्रक्रिया अथवा अनुभवांश का आगे विश्लेषण नहीं हो पाता, उसे अनुभवाणु मान लिया जाता है। इस प्रकार का अंतःप्रेक्षण कठिन कार्य होता है और विशेष प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्तियों द्वारा ही संपादित हो सकता है। इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि अनुभवों के निरीक्षण में ध्यान, प्रायः अनुभव की मानसिक प्रक्रियाओं के बजाय अनुभवों के विषयों की ओर चला जाता है। मान लीजिए आप अपने कक्ष में बैठे कोई पुस्तक पढ़ रहे हैं और बाहर मार्ग पर जाती हुई एक मोटर के शब्द के साथ एक तीव्र चीत्कार सुनकर आप उछल पड़ते हैं और दौड़कर बाहर जाते हैं। साधारणतया इस अनुभव के वर्णन में पुस्तक, कमरे, मोटर, चीत्कार तथा मार्ग का उल्लेख होगा। परन्तु अन्तःप्रेक्षण में पठनक्रियाओं, पुस्तक की रुचिकरता, मन की तल्लीनता, मोटर के शब्द और चीत्कार के

श्रवण, ध्यानभंग, ऐसी परिस्थिति में अपने कर्तव्य के भाव, मार्ग पर उपस्थित परिस्थिति संबंधी अनुमान, स्मृति में किसी पूर्व घटना की झलक, पीड़ात्मक चिंता, श्वासावरोध और पसीने का बोध, स्थिति-बाध्यता और वेग का अनुभव आदि आन्तरिक प्रक्रियाओं पर ध्यान केन्द्रित होगा। इन सब का आगे विश्लेषण करने पर कदाचित् पुस्तक में तल्लीनता, स्थिति-बाध्यता और वेग के अनुभवों में गति-संवेदना की प्रधानता दिखेगी, पूर्व दुर्घटना की स्मृति में दृष्टि-प्रतिमाओं की, और सम्भव है, "कोई बच्चा" जैसी शब्द-प्रतिमाओं की भी। मनोरचना-अस्तित्ववादी मनोवैज्ञानिकों ने आत्म-प्रेक्षण में प्रेक्षण विषय-रूप मानसिक प्रक्रियाओं के लोप की सम्भावना की ओर ध्यान दिया है और प्रयोग अर्थात् परिस्थितियों के नियंत्रण द्वारा मानसिक प्रक्रियाओं को सुरक्षित एवं आत्म-प्रेक्षण को संभव रखने की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। वूंट ने यह भी स्वीकार किया था कि प्रत्येक प्रक्रिया एवं समस्या के साथ प्रयोग विशिष्ट भिन्न रूप भी लेगा। सब प्रकार की मानसिक प्रक्रियाओं के साथ प्रयोग किया भी नहीं जा सकता। केवल भौतिक निर्धारकों द्वारा प्रभावित हो सकने वाली मानसिक प्रक्रियाओं के साथ ही अंतःप्रेक्षणात्मक मनोवैज्ञानिक प्रयोग हो सकेंगे। उच्चतर मानसिक प्रक्रियाओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, वह प्रयोग द्वारा नहीं, उनसे उत्पन्न भाषाओं, रीतियों, विश्वासों, परम्पराओं, संस्थाओं, संस्कृतियों आदि के प्रेक्षण तथा विश्लेषण द्वारा ही संभव समझता था। अतः प्रेक्षण की सीमाओं को ही ध्यान में रखते हुए टिचनर ने भी मनोविज्ञान के दो लक्षण बताये; विवरण तथा सिद्धान्त-व्याख्या। विवरण में तथ्य क्या हैं और तथ्य "कैसे" अर्थात् किन संयोजनों और परस्पर सम्बन्ध में हुआ करते हैं, इन प्रश्नों का उत्तर दिया जाता है। इसके विपरीत सिद्धान्त-व्याख्या में, मानसिक प्रक्रियाएँ "क्यों" अर्थात् तंत्रिकातंत्र के किन प्रकार्यों के कारण होती हैं, इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है। परन्तु वूंट ने मनोविज्ञान की प्रमुख रुचि प्रकार्य के नहीं, रचना के विश्लेषण में ही मानी। उसका तर्क था कि प्रकार्यों के पूर्व रचना होती है और रचना के ज्ञान के बिना प्रकार्य भी यथार्थतया नहीं समझे जा सकते।

मनोरचना-अस्तित्ववादियों का विचार प्रायः यह रहा है कि सरलतम अनुभवाणु तीन प्रकार के ही होते हैं। वूंट ने चेतन अनुभव के इन तीन मूल प्रकारों को विचार, भाव तथा प्रेरण बताया और इसीलिए इन तीनों ही को मनोविज्ञान का विषय माना। उसके विचारानुसार, विचार बाहर से आते हैं, और गुण तीव्रता भेदयुक्त संवेदनाओं से बनते हैं। ये संवेदनाएँ ज्ञानवाही तंत्रिकाओं द्वारा प्रेषित होती हैं और इनके उत्तर में क्रियावाही तंत्रिकाओं द्वारा नियंत्रित पेशीय क्रियाएँ हुआ करती हैं। इसलिए वूंट का मत था कि साहचर्य विचारों के बीच नहीं, इन संवेदनाओं तथा क्रियाओं के बीच हुआ करता है। भाव-संवेदना-सामग्री पर व्यक्तिगत संचयी बोध की सक्रिय प्रक्रिया के रूप में होते हैं और

उन्हें सुख तथा दुःख, तनाव तथा शान्ति और उत्तेजन तथा विषाद में वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रेरण अर्थात् संकल्प स्पष्ट, दृष्ट क्रिया—उत्पादक निश्चयभावों को कहते हैं। यह जीव की आवश्यकताओं के और उसमें प्रयोजनात्मक व्यवहार-प्रवृत्तियों के परिचायक होते हैं। टिचनर ने चेतना के मूल तत्त्व संवेदनाओं, प्रतिमाओं और भावों को माना और कहा कि मनोविज्ञान में इन्हीं तीन प्रकार के अनभवाणुओं का अस्तित्व-विश्लेषण होना चाहिए। उसका विचार था कि संवेदनाओं से प्रत्यक्षानुभव, प्रतिमाओं से विचार और भावों से उद्वेग बनते हैं। संवेदनाओं और प्रतिमाओं में स्वभाव, तीव्रता, काल, प्रसार और स्पष्टता के भेद होते हैं। स्वभाव वह गुण है जिसके आधार पर, उदाहरण स्वरूप, दृष्टिसंवेदना का शब्दसंवेदना से भेद किया जा सकता है। तीव्रता संवेदना अथवा प्रतिमा के हलकेपन अथवा गहरेपन को कहते हैं। गुलाबी रंग और गहरे लाल रंग के अनुभवों में तीव्रता का अन्तर होता है। काल संवेदना अथवा प्रतिमा की अवधि को कहते हैं। प्रसार संवेदना अथवा प्रतिमा का देश में फैलाव होता है, और अनुभव के विषय के आकार से अथवा उसकी संख्या से विदित होता है। स्पष्टता संवेदना अथवा प्रतिमा की संदिग्धता अथवा सजीवता की मात्रा को कहा जाता है। भावों में भी स्वभाव, तीव्रता, प्रसार और काल के भेद तो होते हैं, परन्तु उनमें स्पष्टता होती ही नहीं। टिचनर व्यक्तिगत संचयी बोध जैसी अनुभवोपरि प्रक्रिया को मानने के पक्ष में नहीं था। इसकी जगह उसने अवधान को महत्त्व दिया, क्योंकि संवेदनाओं तथा प्रतिमाओं से स्पष्टता अवधान से आती और बढ़ती है। ऐसे ही उसने चिन्तन जैसी उच्चतर मानसिक प्रक्रियाओं पर भी प्रयोग किये और उनमें भी उन्हीं अनुभवाणुओं, संवेदना, प्रतिमा एवं भाव का सम्मिश्रण पाया। इस प्रकार अनुभवाणुओं के विषय में वूंट से टिचनर के विचार कुछ भिन्न थे। फिर भी दोनों का इस बात पर मतैक्य था कि सभी प्रकार के अनुभवाणुओं का चेतना में अस्तित्व, परिवर्तन एवं लय हुआ करता है। इनका अनुभव में वास्तविक अस्तित्व होता है और वह अंतःप्रेक्षण से पहचाना जा सकता है। अंतःप्रेक्षण इस अनुभवाणुओं से बनी चेतना की वर्तमान क्षणिक अवस्थाओं और उनकी वास्तविकता का हुआ करता है। अतएव मनोविज्ञान का उद्देश्य अंतःप्रेक्षण द्वारा मानसिक प्रक्रियाओं और उनके अनुभवाणुओं के वास्तविक अस्तित्व और स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना है। अर्थात् वे जैसे भी अनुभव में आते हैं, उन्हें वैसे ही जान लेने का प्रयत्न करना चाहिए।

बहुत से मनोवैज्ञानिक वूंट तथा टिचनर के उपर्युक्त सिद्धान्तों से असन्तुष्ट रहे हैं। अंतःप्रेक्षण के लिए प्रयोगों के प्रयोज्यों का विशेषतया प्रशिक्षित एवं निर्वाचित होना आवश्यक बताया गया था। इसका परिणाम यह भी हुआ कि जो अंतःप्रेक्षणाधारित मनो-विज्ञान बन रहा था, वह केवल विशेष योग्यतायुक्त व्यक्तियों का अध्ययन कहा जा सकता

था। फिर, अंतःप्रेक्षण की व्यक्तिगतता के कारण उसकी प्रामाणिकता एवं विश्वस्तता सिद्ध करना असम्भव प्रतीत हुआ। अंतःप्रेक्षण द्वारा प्राप्त तथ्यों और उनके देह-प्रकार्यात्मक कारणों में परस्पर सम्बन्ध भी रहस्यपूर्ण रह जाता था। बहुत से मनोवैज्ञानिकों ने ऐसे मनोवैज्ञानिक परीक्षणों का विकास किया, जिनमें अंतःप्रेक्षण की आवश्यकता ही नहीं पड़ी और तब भी व्यक्तियों के वर्तमान गुणों और भविष्य के व्यवहारों एवं निष्पत्तिलाभों का पूर्वानुमान सम्भव हो जाता है। यह परीक्षण उच्चतम और कठिनतम मानसिक प्रक्रियाओं के मापन में भी सफल प्रतीत हुए हैं। शिक्षा, उद्योग, मनश्चिकित्सा और जीवन के अन्य व्यावहारिक क्षेत्रों में मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से काम लेना सरल भी सिद्ध हुआ है और उपयोगी भी। इसके विपरीत अन्तःप्रेक्षणात्मक प्रायोगिक मनोविज्ञान व्यावहारिक जीवन से दूर मनोवैज्ञानिक प्रयोगशालाओं तक ही सीमित रहता प्रतीत हुआ है। कुछ मनोवैज्ञानिक मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य जन्तुओं पर अथवा बच्चों पर योग करने में लगे रहे हैं, जिनसे अंतःप्रेक्षण कराना असम्भव था। उनका काम बिना अंतःप्रेक्षण के प्रयोग के चलता रहा है। बहुत से अन्य मनोवैज्ञानिक भी जन्तु-मनोविज्ञान में विकसित नियमाल्पता-सिद्धान्त और बनस्पतिविज्ञान में प्रचलित अभिवक्रण-धारणा से अति प्रभावित हुए हैं। मनश्चिकित्सा शास्त्रियों ने अचेतन प्रेम, द्वेष, स्मृति, इच्छा आदि का अस्तित्व सिद्ध किया है और इनका चेतन प्रक्रियाओं पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पाया है। सुझावन और सम्मोहन के अध्ययनों तथा मनोविश्लेषण के इतिहास से केवल चेतन और अंतःप्रेक्ष्य अनुभव पर आधारित मनोविज्ञान की अपर्याप्तता प्रमाणित हो गयी है। और मानव-अंतःक्रियाओं, सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं, संस्कृतियों एवं ऐतिहासिक घटनाओं के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में अंतःप्रेक्षणात्मक प्रयोगशालागत विधियों की अपर्याप्तता तो स्वयं वूंट ने भी कुछ-कुछ स्वीकार की ही थी।

परिणामस्वरूप मनोविज्ञान में अनेक अन्य सम्प्रदायों का विकास हुआ है।

व्यापारवाद

उपर्युक्त कठिन परिस्थितियों में सर्वप्रथम व्यापारवाद अर्थात् प्रकार्यवाद ने एक नवीन मार्ग सुझाया। सब प्रकार की चेतन अवस्थाओं का अंतःप्रेक्षण सम्भव न सही, परन्तु सव प्रकार के वैयक्तिक व्यापार का किसी प्रकार का प्रेक्षण तो सम्भव है ही। इसलिए इसे ही मनोविज्ञान का उद्देश्य बनाना उपयुक्त प्रतीत हुआ। यही व्यापारवाद का प्रथम सूत्र हुआ। समस्त व्यापार-समूह को समझने के लिए व्यापारवादियों ने जीव-विज्ञान में उत्पन्न विकास और परिवेश के प्रति अनुकलन की धारणाओं का मनोविज्ञान में अनप्रयोग किया। जीव-विज्ञान में से आकर विकास, समायोजन, शिक्षाग्रहण, मलप्रवृत्ति, पुनरावर्तन,

वंशानुक्रम आदि की धारणाओं ने मनोविज्ञान में नयी अनसंधान-दिशाएँ खोल दीं। इन दिशाओं में प्रारम्भिक प्रयास तो स्पेन्सर, डार्विन और गाल्टन कर चुके थे। परन्तु व्यापार-वाद के विकास और साहसपूर्ण स्पष्ट प्रतिपादन का प्रमुख श्रेय विलियम जेम्ज़, जौन ड्यूवी, रांजल, कार और रौबिन्सन को है। इनके सम्प्रदाय की विशेषता कोई विभिन्न विधि नहीं, मनोविज्ञान में "क्या" को छोड़कर "कैसे" और "क्यों" के प्रश्नों पर अध्ययन-रुचियों को केन्द्रित करना था। उन्हें यह जानने में कोई विशेष लाभ नहीं प्रतीत हुआ कि मानसिक जीवन में क्या, क्या अनुभवाणु देखे जा सकते हैं। उन्हें यह लगा कि मानव-जीवन की वास्तविक समझ सम्पूर्ण जीवन को ध्यान में रखते हुए यह अध्ययन करने से आयेगी कि मानसिक प्रक्रियाएँ किस प्रकार जीव और उसके परिवेश के बीच मध्यस्थ का काम करती हैं। और इस प्रयास में परिवेश के भौतिक ही नहीं सामाजिक अंश का भी समान महत्त्व मानना पड़ेगा। अंतःप्रेक्षण को व्यापारवादियों ने भी मनोविज्ञान की प्रमुख विधि के रूप में स्वीकार किया, परन्तु उसके साथ अन्य व्यक्तियों के अपरोक्ष तथ्यात्मक बाह्य प्रेक्षण का उपयोग भी संभव और आवश्यक घोषित किया। व्यापारवादियों के मतानुसार मनोविज्ञान का मुख्य कार्य इन दोनों विधियों की सहायता से यह समझना है कि मानसिक प्रक्रियाएँ किसलिए हुआ करती हैं। उनका विश्वास रहा है कि जैसे शारीरिक अंग उपस्थित परिवेश में जीवन-रक्षा करते हैं, वैसे ही मानसिक प्रक्रियाएँ भी अनुकूलन के साधन और परिवेश के प्रति अनुकूलन द्वारा जीव के हित के लिए ही होती हैं। उनसे ही जीवन के समस्त व्यापार सिद्ध होते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन अनुकूलन अर्थात् समायोजन-प्रक्रिया है। समस्त व्यवहार उपयोगिता अथवा सुख-प्राप्ति द्वारा अनुप्रेरित होता है। मानसिक जीवन भी, जीव के परिवेश से बाह्य सम्बन्धों की सेवा में, चेतना और अनुभव के अन्तर्गत, आन्तरिक सम्बन्धों का अनुकूलन ही होता है। यह अनुकूलन उत्प्रेरणों के वश ही हुआ करता है। व्यक्ति की प्रत्येक प्रतिक्रिया सम्पूर्ण परिस्थिति को उत्प्रेरणा की संतुष्टि की दिशा में परिवर्तित करती है। उत्प्रेरणा की संतुष्टि हो जाने के उपरान्त प्रतिक्रिया समाप्त हो जाती है। उत्प्रेरणा व्यक्ति की वास्तविक आवश्यकता की अभिव्यक्ति होती है। उसकी संतुष्टि जीव के कल्याण के लिए आवश्यक होती है। जिन विषयों से उसकी संतुष्टि होती है वे जीव को प्रतिक्रिया करने के लिए प्रलोभन रूप होते हैं। प्रक्रिया का उत्तेजना से भेद भी कृत्रिम ही है। वास्तव में केवल क्रियाएँ ही हैं, जिनमें कुछ उकसाता अर्थात् उकसाने वाली क्रियाएँ और कुछ उकसित अर्थात् उकसायी जाने वाली क्रियाएँ हैं। उदाहरणार्थ, संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ, प्रत्यक्ष अथवा विचार-प्रक्रियाएँ उकसाता क्रियाएँ हैं और उकसित क्रियाएँ ग्रन्थिभाव, प्रत्यक्ष, विचार, भाव अथवा पेशीय क्रियाएँ हो सकती हैं।

कुछ मानसिक अनुकूलन व्यवस्थाएँ आनुवंशिक होती हैं। प्रतिवर्ती क्रियाओं और अन्य स्वचालित अथवा अप्रयास-कियाओं का आधार बहुत कुछ आनुवंशिक ही होता है। व्यक्ति को इन्हें कर सकने के लिए लम्बा शिक्षा-काल लगाना नहीं पड़ता। प्रतिवर्ती क्रियाएँ आरम्भ से ही अपने आप होने लगती हैं। जब कोई पदार्थ आँख में पड़ने लगता है तो स्वरक्षा में आँख की पलक अपने आप बंद हो जाती है। जब प्रकाश बहुत तीखा होता है तब आँख अपने अन्दर केवल थोड़े से प्रकाश का प्रवेश होने देती है और जब प्रकाश हलका होता है तब आँख परिस्थिति के अनुकूल अपने अन्दर बहुत सा प्रकाश ग्रहण कर लेती है। प्रतिवर्ती में उत्तेजना और प्रक्रिया का भेद भी रचनात्मक नहीं, अनुसंधान की सुविधा मात्र के लिए ही प्रतिपादित है। वास्तव में प्रतिवर्त जीव के परिवेश के प्रति अनुकूलन की एक ही सम्पूर्ण प्रक्रिया है। अप्रयास क्रियाओं में पहले-पहल तो पर्याप्त मात्रा में ध्यान देना पड़ता है और उनकी चेतना बनी रहती है, परन्तु धीरे-धीरे ये क्रियाएँ हमें अभ्यस्त हो जाती हैं और फिर जीवन भर हम उन्हें बिना प्रयास के कर लिया करते हैं। चलना, बात करना, लिखना, किसी वाहन का चलाना, टाइप करना आदि ऐसी ही बिना प्रयास होनेवाली क्रियाएँ हैं। इन्हें करते समय हम अपना ध्यान जिन अन्य विषयों में आवश्यकता अथवा रुचि हो लगा सकते हैं। इससे व्यापारवादी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि चेतना परिवेश के प्रति अनुकूलन स्थापित करने की अनुपम अचूक विधि है। इसकी उत्पत्ति विकास-क्रम में काम आने के लिए ही हुई है। जब भी वंशानुक्रमात्मक अथवा अर्जित अप्रयास-क्रियाओं से काम नहीं चलता, अथवा तंत्रिकातंत्र इतना जटिल हो जाता है कि इससे स्वयं अपना नियंत्रण नहीं हो पाता, तब चेतना सहायता के लिए मैदान में उतरती है। संकटकाल बीत जाने पर अर्थात् अनुकूलन पुनः स्थापित हो जाने पर चेतना क्षेत्र से हट जाती है और सब काम फिर से अप्रयास ही चलने लगते हैं। क्योंकि जीवन में मृत्यु पर्यन्त नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न होती ही रहती हैं, परिवेश के प्रति पूर्ण अनुकूलन कभी भी स्थापित नहीं हो पाता, और अनुकूलन स्थापन में सहायता के लिए चेतन क्रियाओं की आवश्यकता बारम्बार पड़ती ही रहती है। बारम्बार जीव सम्पूर्णतः अर्थात् शरीर और मन दोनों से इनमें लगता ही रहता है। बोधात्मक और क्रियात्मक चेतन प्रक्रियाओं की अनुकूलन में उपयोगिता आसानी से स्पष्ट हो जाती है। चिन्तन कर्म करने के हितार्थ ही होता है; जीने के हितार्थ, जीवन की व्यावहारिक परिस्थितियों के प्रति अपना अनुकूलन करने के लिए। जीवन और कर्म आवश्यकताओं, उद्देश्यों एवं प्रयोजनों द्वारा ही निर्धारित होते हैं। प्रत्ययनिर्माण का और धारणाओं तथा अर्थों में स्थिति का इनके प्रकार्यात्मक व्यापारों से अलग कोई महत्त्व अथवा अस्तित्व नहीं हो सकता। चिंतनशील विचार का प्रकार्य अस्पष्टता, अनिश्चितता, संशय, कठिनता, संघर्ष और मानसिक उथल-पुथल की

परिस्थिति को स्पष्ट, सुसंगत, स्थिर, समन्वित परिस्थिति में बदल देना है। इसलिए विचारप्रक्रिया में ड्यूवी ने क्रम से सुझाव-स्थापन, समस्या-व्याख्या, उपकल्पना, तर्क और प्रायोगिक सत्यनिर्णय के अस्तित्व की ओर ध्यान आकर्षित किया है।

इस सम्प्रदाय के अनुसार ज्ञान, सुरक्षासंघर्ष के कारण विकसित ऐसा शस्त्र है जिसका काम प्रकृति, समाज और नीति के विषय में मनुष्यों के विचारों को स्पष्ट कर देना है। दर्शन मनुष्यों के भौतिक, सामाजिक और नैतिक कल्याण के हितार्थ सामूहिक मानव के अनुभव की संभावनाओं को न्याययुक्त सिद्ध करने का प्रयत्न है। व्यक्तियों के व्यक्तित्व-स्तर भी व्यापारानुसार अस्तित्व अथवा अनस्तित्व को प्राप्त होते रहते हैं। वैभवात्मक व्यक्तित्व, सामाजिक व्यक्तित्व, आध्यात्मिक व्यक्तित्व आदि में से व्यक्ति जिससे भी अपना कल्याण समझता है, वही वास्तविक रह जाता है, और शेष सब अवास्तविक हो जाते हैं। व्यापारवादी सीखने, उत्प्रेरणा, आदतों, भावों और उद्देश्यों की अनुकूलनात्मक उपयोगिता की ओर विशेषतः ध्यान आकर्षित करते हैं। जानवरों में उद्वेगावस्थाओं में चीखना, गुर्राना, चिंघाड़ना, उद्विग्न आसन, बालों अथवा परों का खड़े हो जाना आदि जीवन की रक्षा के लिए उपयोगी होते हैं। मनुष्य में भी क्रोध और भय से संकट का और परिस्थिति के अनुसार क्रिया करने की आवश्यकता का बोध होता है। व्यापारवादियों का विश्वास है कि प्रबल उद्वेग विशेष परिस्थितियों में साधारण मनोवृत्तियों के परस्पर संघर्ष के समय ही प्रकट हुआ करते हैं। जेम्ज़ का मत था कि उद्वेग जीवनरक्षा के लिए आवश्यक दैहिक परिवर्तनों के प्रकार्य हैं। हम दुःख का अनुभव इसलिए करते हैं कि परिस्थितिवश हम रोते हैं, क्रोध का अनुभव इसलिए करते हैं कि परिस्थितिवश हम मारते हैं, और भय का अनुभव इसलिए करते हैं कि परिस्थितिवश हम काँपते हैं। एसा नहीं है कि हम दुःख, क्रोध अथवा भय के कारण रोते, मारते अथवा काँपते हों। इसी प्रकार सुख और दुःख के भाव भी जीव के हितों से संबद्ध होते हैं। जब हमारी मानसिक क्रियाएँ अपने उद्देश्य की ओर निर्विघ्न बढ़ती हैं, तब हमें सुख का अनुभव होता है। यदि किसी भी कारण लक्ष्य की ओर प्रगति करने में कोई बाधा आती है, तो दुःख का अनुभव हुआ करता है। ऐसे ही मूल प्रवृत्त्यात्मक व्यवहार स्वाभाविकता, उपयुक्तता तथा सुखदायकता के लिए किया जाता है। ड्यूवी का मत तो यह था कि मूल प्रवृत्तियों का अलग-अलग विशिष्ट स्थिर स्वभाव ही नहीं होता। कोई भी मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार केवल एक नम्र प्रारम्भ होता है जो परिवेश के साथ अंतःक्रिया द्वारा कोई भी रूप ले सकता है। इस प्रकार भय, कायरता, सतर्कता, आदर आदि के कई रूप हो सकते हैं। फिर मूल प्रवृत्तियों की बुद्धिहीन बाल-अभिव्यक्ति भी हो सकती है और उनका सीखने से, अर्थात् परिवेश के साथ अंतःक्रिया से, सामाजिक अनुकूलनात्मक परिशोधन भी सम्भव है।

इस प्रकार व्यापारवादियों के मतानुसार चेतना में होनेवाली सभी मानसिक प्रतिक्रियाएँ, चाहे वे संवेदन-क्रियाएँ, स्मरण-क्रियाएँ, कल्पना-क्रियाएँ, तर्क-क्रियाएँ, भय-क्रियाएँ, संकल्प-क्रियाएँ आदि कुछ भी हों, सब मनुष्य की अपने परिवेश के प्रति अनुकूलन स्थापित करने की अनेक विधियाँ मात्र हैं। उन्होंने मनोविज्ञान को चेतना की रचना के अन्तः-प्रेक्षणात्मक अध्ययन तक ही सीमित रखने का विरोध किया और मानसिक जीवन में उसे चेतनावस्थाओं के साथ-साथ मनोविकार-विज्ञान एवं मनश्चिकित्सा-शास्त्र द्वारा स्थापित अवचेतन अवस्थाओं, भग्न चेतनाओं, स्मृतिनाशों आदि का प्रवाह माना। इस प्रवाह में से उन्हें आदतों के निर्माण और सीखने के नियमों में विशेष रुचि रही। जेम्ज़ ने आदतों को अन्तःप्रेक्षणीय, मस्तिष्कीय, अव्यवधान साहचर्य द्वारा उत्पन्न माना। ड्यूवी ने इनके द्वारा परिवेश पर नियंत्रण प्राप्ति की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए स्थिर परिवेश के प्रति अनुकूल करने वाली साधारण आदतों और बदलते हुए परिवेश के प्रति अनुकूलन स्थापित करने वाली बुद्धियुक्त नम्य आदतों में भेद किया। उसने बुद्धि का प्रकार्य चिंतन-शील विचार बताया।

कार ने व्यापारवाद को साहचर्यवादी मनोविज्ञान का ही संशोधित, नवीन एवं संख्यात्मक और प्रायोगिक दिशा में विकसित रूप प्रतिपादित किया और अनुकूलन में असंतुष्टि और संघर्ष के कारण समस्या-सुलझाव प्रक्रिया को प्रमुख स्थान दिया।

सम्बन्धवाद अर्थात् संयोजनवाद

सम्बन्धवाद में साहचर्यवाद और प्रकार्यवाद का मिश्रण है। इसका प्रवर्तक एडवर्ड ली थौर्नडाइक हुआ। वह अलेक्ज़ेन्डर बेन के इस सिद्धान्त से प्रभावित था कि मानसिक विकास देह में तंत्रिकाओं और उनके परस्पर सम्बन्धों के विकास का परिणाम होता है, और जितने ही ये सम्बन्ध जटिल होते जाते हैं, उनसे उत्पन्न मानसिक प्रक्रियाएँ भी उतनी ही जटिल होती जाती हैं। इसलिए उसको विश्वास था कि तंत्रिकातंत्र में और उसकी तंत्रिकीय कोशिकाओं अर्थात् न्यूरानों में ही मानव-व्यवहार की गुत्थियों का सुलझाव है। संवेदनाएँ अभिवाही तंत्रिकाओं द्वारा ज्ञानन्द्रियों से प्राप्त उत्तेजनाओं की रीढ अथवा मस्तिष्क तक, और फिर उनकी अपवाही तंत्रिकाओं द्वारा तंत्रिकाकेन्द्रों से पेशियों तक संप्रेषण पर निर्भर होती हैं। न्यूरानों के अभिवाही प्रवर्ध अन्य कोशिकाओं के रोक्सनों को छूते हुए होते हैं। इनके बीच के अन्तर्ग्रथनों, संयोजनों अथवा सम्बन्धों में से ही तंत्रिकीय धारा का संप्रेषण होता है। इन अन्तर्ग्रथनों की सबल अथवा निर्बल अवस्था हो सकती है। यदि दो कोशिकाओं के बीच का अन्तर्ग्रथन सबल अवस्था में है तो प्रथम कोशिका से धारा दूसरी कोशिका में ही जायगी, कहीं अन्यत्र नहीं। सीखना इन अन्तर्ग्रथनों के सबल हो जाने अथवा बनाने को ही कहते हैं। संयोजनवाद का सिद्धान्त है कि सीखना ही मनो-

विज्ञान का प्रमुख विषय और उसकी प्रमुख समस्या है। क्योंकि सभी मानसिक प्रकार्यों का नियंत्रण तंत्रिकाओं के संयोजनों पर निर्भर तंत्रिकीय धारा के वहन से होता है, अतः थौर्नडाइक ने सीखने के अध्ययनों के आधार पर ही सम्पूर्ण व्यवहार सिद्धान्त को आधारित किया। उसने सीखने को प्रयत्नमूल, चयन एवं अन्तर्ग्रंथन की प्रक्रिया कहा। उसका मत था कि सीखने की प्रक्रिया का आधार कोई मूल उत्प्रेरणा होती है। इच्छा अथवा उत्प्रेरणा-रहित, पूर्णतया संतुष्ट व्यक्ति न तो कुछ सीखेगा और कदाचित् सीखने की क्रियाएँ भी न करेगा। उसका विश्वास था कि सीखने की प्रक्रिया का मुख्य नियम, परिणाम-नियम अर्थात् सुख-प्राप्ति का नियम है। उत्प्रेरणापूर्ति के अनेक सफल, असफल प्रयत्नों में असफलता एवं खीझ की ओर ले जाने वाली क्रियाएँ छूट जाती हैं और सफलता अर्थात् सुखसंतुष्टि की ओर ले जाने वाली क्रियाएँ पकड़ जाती हैं। किन्हीं परिस्थितियोंवश की हुई अनेक प्रतिक्रियाओं में से, वे प्रतिक्रियाएँ उस परिस्थिति के साथ अधिक पक्के रूप से सम्बद्ध हो जायेंगी, जिनके साथ-साथ, अथवा जिनके उपरान्त, शीघ्र ही जीव को संतुष्टि की प्राप्ति होगी। पुनः जब यह परिस्थिति आयेगी, जीव में उन्हीं प्रतिक्रियाओं के करने की प्रवृत्ति अधिक होगी, अन्य प्रतिक्रियाओं की बहुत ही कम। जितनी ही अधिक संतुष्टि होगी, उतना ही अधिक यह परिस्थिति-प्रतिक्रिया सम्बन्ध पुष्ट हो जायगा। संतुष्टिदायक परिणाम का यह भूतलक्षी प्रभाव इसलिए सम्भव है कि दैहिक परिस्थिति-प्रतिक्रिया-सम्बन्ध तत्काल समाप्त नहीं हो जाते। वे परिणाम के साथ साथ रहते हैं और इसीलिए उससे प्रभावित भी हो सकते हैं। थौर्नडाइक ने संतुष्टि की तथ्यात्मक परिभाषा देने का प्रयत्न किया। उसके कथनानुसार संतुष्टिदायक परिस्थिति वह होती है जिससे जीव बचने का प्रयत्न न करे और जिसे वह बनाये रखने अथवा पुनः स्थापित करने का प्रयत्न करे, और खीझोत्पादक परिस्थिति वह होती है जिसे जीव बनाये रखने का प्रयास न करके समाप्त करने वाली क्रियाएँ करे। इसी प्रकार संतुष्टिदायक परिस्थितियों अथवा प्रतिक्रियाओं के परिणाम को थौर्नडाइक ने मनोभाव के रूप में नहीं, वरन् "ठीक है" प्रतिक्रिया रूप में देखने का आग्रह किया। उसका कथन था कि यह तंत्रिकीय कोशिकाओं की एक अज्ञात प्रतिक्रिया है, जो संतुष्टिदायक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप होती है और सभी तात्कालिक संयोजनों को पुष्ट करती है, चाहे वह सुखदायक एवं उपयोगी हों अथवा अयथार्थ एवं व्यर्थ हों। संतुष्टि एवं खीझ की ये पहचानें प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्रेक्ष्य हैं। आरम्भ में थौर्नडाइक का विचार था कि खीझ, कष्ट अथवा असफलता दायक, अर्थात् दंड का अनुभव देने वाली प्रतिक्रियाओं का सम्बन्ध परिस्थिति के साथ फीका पड़ जाता है, परन्तु कुछ समय उपरान्त उसने अपने कुछ प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकाला कि दंड से दंडित सम्बन्ध फीके अर्थात् निर्बल नहीं पड़ते।

इस प्रकार संयोजनवाद में सीखना साहचर्यों का पुरस्कारों द्वारा पक जाना ही है, जो मुख्यतया क्रियाओं अथवा विषयों के भावात्मक बल पर नहीं वरन् मस्तिष्कीय नियंत्रण अथवा धकेलों पर आधारित होता है। इस दृष्टिकोण से मनुष्यों एवं जन्तुओं का व्यवहार प्रयोजनात्मक होता है। उन पर पुरस्कारों का पोषक प्रभाव मस्तिष्क के प्रान्तस्थ भाग के उच्च स्तरों के उन बड़े अंशों द्वारा निर्मित एवं नियंत्रित है, जो जीव के सामयिक आसज्जनों एवं उद्देश्यों से संबंधित होते हैं। उसका विचार था कि संतुष्टिदायक परिणामों द्वारा व्यवहार-पुष्टि के कारण का स्वरूप कदाचित् जैविक है। अन्तिम मस्तिष्कीय नियंत्रक द्वारा उत्तेजना की प्रतिक्रिया स्वरूप नवीनतम अर्थात् अर्वाचीनतम संयोजन की पुष्टि संभव होनी चाहिए, और इस पुष्टि को उत्पन्न करने वाली उत्तेजना अन्तिम नियंत्रक के लिए संतुष्टिदायक होनी चाहिए।

थौर्नडाइक ने अपने प्रयोगों द्वारा एक और अनुभव-तथ्य ज्ञात किया, जिसे उसने परिणाम-प्रसार कहा। प्रयोगकर्ता कुछ शब्द उत्तेजना रूप बोलता गया और प्रयोज्यों को आदेश था कि प्रत्येक बार १ से १० तक का कोई अंक बोलकर प्रतिक्रिया करें। प्रत्येक बार प्रयोगकर्ता उच्च स्वर से प्रयोज्य की प्रतिक्रिया को यथार्थ अथवा अयथार्थ घोषित कर देता था। उत्तेजना-शब्दों की संख्या बहुत बड़ी थी और प्रयोज्य के लिए यह याद रखना लगभग असम्भव था कि उसने प्रत्येक बार क्या प्रतिक्रिया की थी और प्रयोगकर्ता ने उसे यथार्थ घोषित किया था कि अयथार्थ। फिर भी यथार्थ घोषित की गयी प्रतिक्रियाएँ तो अधिक बार हुईं हीं, पर इनके आस-पास बोली गयी उत्तेजनाओं का भी अन्य सब उत्तेजनाओं से अधिक प्रत्यास्मरण हुआ। इस दूसरे तथ्य को ही परिणाम-प्रसार कहते हैं। इससे भी थौर्नडाइक के परिणाम नियम की पुष्टि हुई।

थौर्नडाइक का आग्रह था कि दुहराने मात्र से सीखने में प्रगति नहीं होती। जब तक उत्साह नहीं होता, अन्त में इच्छाओं की पूर्ति अथवा उद्देश्य की प्राप्ति में सफलता की आशा नहीं होती, तब तक दुहराना मात्र व्यर्थ रहता है। थौर्नडाइक ने कई प्रयोगों द्वारा अपने इस मत को पुष्ट किया। आँख पर पट्टी बँधे प्रयोज्यों को कई बार बतायी हुई लम्बाई की सरल रेखा खींचने का आदेश दिया गया। अनेक बार इस क्रिया को दुहराने से भी कोई उन्नति देखने में नहीं आयी। परन्तु प्रयोज्यों को यह बतलाने पर कि उनकी क्रिया सफल हुई या नहीं, यथेष्ट उन्नति होने लगी। ऐसे ही एक अन्य प्रयोग में संयोजनों के दुहराने पर थोड़ी सी उन्नति तो हुई, परन्तु किसी रूप में पुरस्कार प्राप्ति पर उन्नति छः गुनी हो गयी। इन प्रयोगफलों के आधार पर थौर्नडाइक ने साहचर्य-वादियों द्वारा प्रमुख माने गये दुहराने अर्थात् अभ्यास के नियम को पहले गौण स्थान दिया, और फिर सर्वथा खंडित किया।

परिणाम नियम के अन्तर्गत थौर्नडाइक ने मुख्य स्थान एक अन्य नियम को दिया जिसे उसने असज्जा का का नियम कहा। यह सीखने की प्रेरणा से संबंधित है और इस प्रकार है....

"जब कोई तंत्रिकीय धारा-संप्रेषण-प्रबन्ध संप्रेषण के लिए आसज्जित होता है, तब उसके कार्यशील होने से संतुष्टि का अनुभव होता है, और जब कोई इस प्रकार का संप्रेषण-प्रबन्ध संप्रेषण के लिए आसज्जित नहीं होता, तब उसका क्रियाशील होना खीझोत्पादक होता है।"

इनके अतिरिक्त थौर्नडाइक ने छः अधीन नियमों का प्रतिपादन किया—बहुप्रतिक्रिया-नियम, सज्जा-नियम, सहचारी-विवर्तन-नियम, उपमान-नियम, सामग्री की पूर्वयोग्यता का नियम और संबंधितता का नियम। ये नियम इस प्रकार हैं—

(१) **बहुप्रतिक्रिया-नियम**—त्रुटयुत्तर पुनः प्रयत्न युक्त सीखने में प्रत्येक नवीन परिस्थिति में जब तक कतिपय प्रयोगों के उपरान्त कोई एक प्रतिक्रिया सही अर्थात् सफल संतुष्टिदायक प्रतिक्रिया नहीं निकलती, तब तक अनेक विविध प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं और बहु प्रतिक्रिया करने की अक्षमता से सीखने की प्रक्रिया का अवरोध होता है।

(२) **सज्जा-नियम**—सीखना परिस्थिति पर ही नहीं सीखने वाले की मानसिक अवस्था पर, उसकी मानसिक सज्जा पर, अर्थात् उसके पूर्व अनुभवों और उसकी प्रवृत्तियों पर निर्भर होता है, और इसीलिए किसी भी शिक्षा-ग्रहण-परिस्थिति में सभी व्यक्तियों की प्रतिक्रिया एक सी नहीं होती।

(३) **सहचारी-विवर्तन-नियम**—किसी सीखने वाले के लिए किसी भी सम्भव प्रतिक्रिया को किसी भी ऐसी परिस्थिति से सम्बद्ध किया जा सकता है, जिसके प्रति वह व्यक्ति संवेदनशील हो।

(४) **उपमान-नियम**—किसी भी परिस्थिति में मनष्य वही प्रतिक्रिया करता है, जो वह किसी समान परिस्थिति के अथवा उसके किसी अंश के पुनरावर्तन पर करता है।

(५) **सामग्री की पूर्वयोग्यता का नियम**—सीखनेवाला किसी परिस्थिति के किसी भी अंश के प्रति नहीं, वरन् उसमें से ऐसे चुने हुए महत्त्वपूर्ण अंशों के प्रति ही प्रतिक्रिया करता है जिन्हें वह विशेषतः प्रतिक्रियायोग्य पाता है।

(६) **सम्बन्धितता का नियम**—सीखना सम्भव होने के लिए कालिक अव्यवधान और दुहराना मात्र ही नहीं, संबंधितता भी आवश्यक है। एक प्रयोग में थौर्नडाइक ने एक सामूहिक परीक्षण के अन्तर्गत प्रयोज्यों को दस वाक्य दस बार पढ़कर सुनाये, और उनसे वाक्यों का प्रत्यास्मरण करवाकर देखा। प्रत्येक वाक्य के प्रथम और

द्वितीय शब्द व्यक्तियों के नामों के प्रथम और द्वितीय शब्द थे। किसी वाक्य के अन्तिम शब्द और अगले वाक्य के प्रथम शब्द का क्रमिक सम्बन्ध उतनी ही बार हुआ, जितनी बार प्रत्येक वाक्य के प्रथम और द्वितीय शब्द का। फिर भी वाक्य का प्रथम शब्द कहे जाने पर प्रायः प्रयोज्य दूसरा शब्द बताने में सफल हुआ, परन्तु किसी वाक्य के अन्तिम शब्द के कहे जाने पर वह अगले वाक्य का प्रथम शब्द प्रायः नहीं ही बता सका। प्रथम प्रत्यास्मरण में वाक्य तथा नाम में संबंधितता थी, जो द्वितीय प्रत्यास्मरण में नहीं थी।

थौर्नडाइक ने प्रशिक्षण के स्थानान्तरण पर भी विशेष ध्यान दिया। अपने संयोजनवादी सिद्धान्त के अनुसार इसके विषय में उसका मत था कि किसी एक प्रकार्य में परिवर्तन किसी दूसरे प्रकार्य को वहाँ तक ही परिवर्तित करता है, जहाँ तक दोनों प्रकार्यों में समरूपी खंड होते हैं।

थौर्नडाइक ने बुद्धि की भी संयोजनवादी व्याख्या की। उसने बुद्धि को सर्वोपरि सामान्य मानसिक योग्यता मानने वाली, स्पियरमैन, स्टर्न आदि द्वारा प्रतिपादित विचारधारा का विरोध किया। वह मन को व्यक्ति की भावनाओं, क्रियाओं और बाह्य घटनाओं से उसकी प्रतिक्रियाओं के सम्बन्धों और इस प्रकार के भावों, कार्यों तथा सम्बन्धों की संभावनाओं का योग मात्र मानता था। इसलिए उसने बुद्धि को परिमाणात्मक, संश्लेषणात्मक एवं मस्तिष्क के अन्दर संयोजनों की संख्या पर निर्भर बताया। अनुभव की दृष्टि से उसने बुद्धि का अमूर्त, सामाजिक एवं यांत्रिक तीन प्रकारों में भेद किया। अमूर्त बुद्धि प्रतीकों, शब्दों और प्रत्ययों द्वारा अपना कार्य करती है। सामाजिक बुद्धि का विषय मानव-सम्बन्ध है, और वह नेतृत्व, चातुर्य आदि सामाजिक योग्यताओं का योग है। यांत्रिक बुद्धि पदार्थों, यंत्रों तथा उपकरणों से संबंधित है और भौतिक पदार्थों से काम लेने की क्षमताओं का योग है। इन सभी प्रकार की बुद्धियों में थौर्नडाइक आनुवंशिकता को प्रधान मानता था। उसका विश्वास था कि परिवेश के विभिन्न प्रभाव होते हुए भी कुछ व्यक्तियों में अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक तंत्रिका-नियोजन विद्यमान होते हैं और वे ही व्यक्ति अधिक बुद्धिमान् भी होते हैं। वह बिने द्वारा निर्मित सामान्य मानसिक योग्यता की धारणा पर आधारित बुद्धि-परीक्षणों का विरोधी था। उसने अमूर्त बुद्धि के वर्ग की चार भिन्न अपेक्षाकृत स्वतन्त्र योग्यताओं—पूर्ति, अंकगणितात्मक तर्क, शब्दज्ञान तथा आदेश-उपबोध के मापन के लिए एक अपनी अलग परीक्षणावली का निर्माण किया।

इस संयोजनवाद की कई बातों पर आलोचना हुई है। उनमें से एक बात यह है कि उसमें पूर्व उत्प्रेरण तथा उत्तर उत्प्रेरण का भेद ध्यान में नहीं रखा गया। दोनों संबंधित अवश्य हैं, परन्तु एक नहीं हैं। यह भी कहा गया है कि संयोजनवाद का

परिणाम-नियम वास्तव में मनोभाव-नियम ही है। फिर यह भी प्रश्न उठता है कि किसी प्रतिक्रिया के उपरान्त होने वाला उसका परिणाम स्वयं उसी को कैसे प्रभावित अथवा पुष्ट कर सकता है। और सबसे बड़ा दोष तो इस साम्प्रदायिक सिद्धान्त में यह है कि इसमें प्रतिपादित मस्तिष्कीय संयोजनों का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। साथ ही सीखने के विषय में अब भी अव्यवधान तथा पुरस्कार के अपेक्षाकृत महत्त्व पर मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है।

अभ्यनुबन्धनवाद अर्थात् अभ्यनुकूलनवाद

अभ्यनुबन्धनवादी अर्थात् अभ्यनुकूलनवादी सम्प्रदाय की स्थापना रूसी देहविज्ञान-विशेषज्ञ आइवन पेट्रोविच पैवलव ने की। उसे संदेह था कि मनोविज्ञान मानसिक जीवन को चेतन एवं अचेतन तत्त्वों का जमघट समझता हुआ कभी भी तथ्यात्मक एवं वैज्ञानिक अनुसंधान योग्य स्वतन्त्र शास्त्र बनने में सफल हो सकेगा। इसलिए उसका आग्रह था कि मनोवैज्ञानिक अपनी धारणाओं को देह-प्रकार्य-विज्ञान से सम्बद्ध करें, देह-प्रकार्य-विज्ञान की नींव पर मनोविज्ञान के भवन का निर्माण करें। इससे ही मानव-स्वभाव की रचना तथा उसके नियमों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। उसका विश्वास था कि नियतिवाद तथा जीव-परिवेश-साम्य के सिद्धान्तों के अनुसार, मानव-स्वभाव की, तंत्रिकातंत्र के विश्लेषणात्मक, संप्रेक्षणात्मक प्रकार्यों की शृंखला के रूप में, अर्थात् प्रेरण, विकिरण तथा सान्द्रण के नियमों के अनुसार होने वाली उत्तेजन एवं अवरोधन रूपी ऊर्जात्मक प्रक्रियाओं की शृंखला के रूप में, व्याख्या की जा सकती है। इसलिए उसने केन्द्रीय तंत्रिकातंत्र की क्रियाओं का तथ्यात्मक अर्थात् देशकालात्मक, अनुभवाधारित, आगमनात्मक तथा प्रायोगिक अध्ययन किया। अपने भौतिक एवं यांत्रिक एकवाद के अनुसार उसने मानव-जीवन का मूल स्थान तंत्रिका-ऊतकों तथा अन्तःस्रावी ग्रंथियों में माना, और मानव एवं जन्तु-जीवन दोनों में बड़े, अटल, अनुल्लंघ्य यांत्रिक नियमों अर्थात् कार्यकारण-सम्बन्धों के राज्य में विश्वास किया। उसे तंत्रिकातंत्र में ऊर्जा का गतिशील अर्जन, प्रस्राव, उत्तेजन, विकिरण तथा सान्द्रण अर्थात् कुछ सरल नियमों के अनुसार ऊर्जा का प्रवाह ही प्रमुख प्रतीत हुआ। किसी उत्तेजना की जितनी अधिक ऊर्जा होगी, उतना ही अधिक प्रबल उसका परिणाम होगा। कोई तंत्रिका-केन्द्र जितना अधिक ऊर्जायुक्त होगा, उतनी ही अधिक प्रबल उत्तेजना के प्रति उसकी प्रतिक्रिया होगी। साथ ही पैवलव ने एक साम्य-नियम भी अपनाया, जिसके अनुसार प्रत्येक जीव ऐसा जटिल सीमित तंत्र है, जिसके अस्तित्वकाल में उसकी आन्तरिक शक्तियाँ प्रत्येक क्षण उसके परिवेश की बाह्य शक्तियों के साथ साम्यावस्था में रहती है। जीव जितना ही

जटिल होता है, उसके साम्यकारी अंश उतने ही सूक्ष्म एवं बहुसंख्यक होते हैं। यह साम्य-स्थापन तंत्रिकातंत्र की दो मुख्य क्रियाओं से होता है—बाह्य उत्तेजनाओं के विश्लेषण अर्थात् प्रत्यक्ष से, तथा इन उत्तेजनाओं और देहप्रकार्यों में नवीन स्थायी संबंधों के स्थापन अर्थात् अभ्यनुबन्धन से।

बाह्य उत्तेजनाओं के विश्लेषण का कार्य केन्द्रीय तंत्रिकातंत्र की इकाइयों, प्रतिवर्त चापों के प्रथम खंड 'विश्लेषक' करते हैं। यह विश्लेषक केन्द्रोन्मुखी तंत्रिकाओं के सीमा-स्थित केन्द्रीय सिरों से आरम्भ होकर केन्द्रीय अंग की संग्राहक कोशिकाओं में समाप्त होते हैं। यह सब संग्राहक कोशिकाएँ बाह्य उत्तेजना का विघटन कर देती हैं। पेवलव का विश्वास था कि तंत्रिका-तंत्र की सभी निष्पत्तियाँ एवं पूर्णताएँ, सभी अद्भुत प्रकार्य-जटिलताएँ इस केन्द्रोन्मुखी भाग में ही स्थित होती हैं और मस्तिष्क मुख्यत: विश्लेषकों के केन्द्रीय सिरों का, अर्थात् संग्राहक केन्द्रों का द्योतक है। पैवलव स्वीकार करता था कि प्रतिवर्त चाप का दूसरा खंड संग्राहकों तथा चालकों का बंधन और तीसरा खंड प्रेरणा-खण्ड है, अर्थात् तंत्रिकातंत्र, संप्रेषण-तन्त्र ही नहीं, संयोजन-तंत्र भी है। परन्तु वह चालक क्षेत्र को भी गति अर्थात् क्रिया से विशेषतया संबद्ध संग्राहक केन्द्र ही मानता था। पेवलव का अनुमान था कि सीमास्थित संग्राहक यंत्र के प्रक्षेपों के रूप में खाद्य-केन्द्र, रक्षा-केन्द्र, शीत-केन्द्र, उष्णता-केन्द्र, गति-केन्द्र आदि भिन्न-भिन्न देह-प्रकार्यात्मक केन्द्र होते हैं और इनमें से प्रत्येक केन्द्र उत्तेजना के प्रति विशिष्ट प्रकार की प्रतिक्रिया करता है। यह प्रतिक्रिया अनभ्यनुबन्धित अर्थात् नैसर्गिक, निश्चित, स्थिर, नित्य, अपरि-वर्तनीय प्रतिवर्त होती है। पैवलव प्रतिवर्तों और मूल प्रवृत्तियों में कोई भेद नहीं मानता था। दोनों ही नैसर्गिक व्यवहार-व्यवस्थाएँ हैं। मूल प्रवृत्तियाँ जटिलतर प्रतिवर्तों अथवा प्रतिवर्त-शृंखलाओं ही को कह देते हैं। प्रतिवर्त अथवा मूल प्रवृत्तियाँ कोई उत्तेजनोत्पादक एवं धन अर्थात् उत्तेजक पदार्थ की ओर ले जाने वाली तथा कोई अवरोधनात्मक एवं ऋण अर्थात् उत्तेजक पदार्थ से दूर ले जानेवाली होती हैं। धन-प्रतिवर्तों के उदाहरण भोजन-प्रतिवर्त, काम-प्रतिवर्त आदि हैं। ऋण-प्रति-वर्त उत्तेजक पदार्थों के हानिकारक एवं नाशक होने पर होते हैं।

पैवलव का कथन था कि उपर्युक्त भिन्न केन्द्रों और उनके प्रतिवर्तों में बल एवं महत्त्व के अन्तर होते हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मूल प्रवृत्ति अर्थात् प्रतिवर्त सामान्य जीवन-प्रवृत्ति है, जिसका उद्देश्य जीवन-रक्षा है। पैवलव ने इसे उद्देश्य-प्रतिवर्त भी कहा है। शेष सब प्रतिवर्त इसी के अन्तर्गत इसी के विभिन्न अंग हैं। कुछ धनगति-प्रतिवर्त हैं, जो जीवन के लिए अनुकूल परिस्थितियों की ओर ले जाते हैं और कुछ ऋणगति-प्रति-वर्त हैं, जो जीव की हानि से रक्षा करते हैं। अधिकांश अनुकूल परिस्थितियों का संचय

तथा उपयोग करने वाले धनगति-प्रतिवर्त हैं। इनमें ग्रहण, पकड़ने, देखने, सर्वेक्षण तथा प्राप्त करने के प्रतिवर्त मुख्य हैं। ग्रहण का प्रमुख प्रतिवर्त भोजन-प्रतिवर्त है क्योंकि उसके द्वारा जीवन के लिए आवश्यक रासायनिक प्रक्रियाएँ पूर्ण होती हैं। और खाद्य-केन्द्र भी जीव के अस्तित्व का रक्षक होने के नाते बहुत बलवान् देह-केन्द्र है। खाद्य-उत्तेजनाएँ इनमें लार-स्रवण-प्रतिक्रिया उत्पन्न करती हैं। जब यह केन्द्र उत्तेजितावस्था में होता है तो केन्द्र-संघर्ष-नियम के अनुसार शेष सब केन्द्रों की उत्तेजनयोग्यता कम हो जाती है, और उन पर उत्तेजन का प्रभाव नहीं के समान पड़ता है। महत्त्व एवं बल के क्रम से द्वितीय स्थान रक्षा-केन्द्र एवं रक्षा-प्रतिवर्त का है। इनके उत्तेजन विद्युत्तरंगात्मक, नाशक अथवा कष्टदायक पदार्थ होते हैं। पैवलव ने प्रतिवर्तों में ताप-प्रतिवर्त भी बताये और शीत-केन्द्र तथा ऊष्णता-केन्द्र के बीच विकिरण की सरलता दिखाते हुए इनकी परस्पर सम्बद्धता को दर्शाया। इनके अतिरिक्त पैवलव ने भय, आक्रामकता, काम, संग्रह, स्वतन्त्रता, उत्सुकता आदि का भी प्रतिवर्तों में उल्लेख किया। उसने भय को निष्क्रिय रक्षा-प्रतिवर्त कहा और उसे जीव की हानि की ओर अनभ्यनुबन्धित प्रतिक्रिया के रूप में देखा। उसका विश्वास था कि निष्क्रिय रक्षा-प्रतिक्रियाओं की ओर झुकने वाले अर्थात् डरनेवाले जीवों की प्रान्तस्था कोशिकाओं में उत्तेजक पदार्थ न्यून मात्रा में अथवा दुर्बल एवं असाधारणतया नाशवान् होते हैं, जिससे इनमें अवरोध-प्रक्रियाओं की प्रधानता हो जाती है। ऐसे ही पैवलव आक्रामकता, विरोध अर्थात् क्रोध को सक्रिय रक्षा-प्रतिवर्त मानता था। वह इस प्रतिवर्त के प्राकट्य में व्यक्तिगत अन्तर स्वीकार करता था और यह भी स्वीकार करता था कि कुत्तों में आक्रामकता तीन प्रकार से बढ़ायीं जा सकती है—(१) कुत्ते को अकेले बन्द कमरे में रखने से, (२) उसकी गति-स्वतन्त्रता सीमित करने से या उसे किसी साज में बाँध देने से, और (३) प्रयोगकर्ता के आज्ञापूर्ण अधिकारात्मक व्यवहार से।

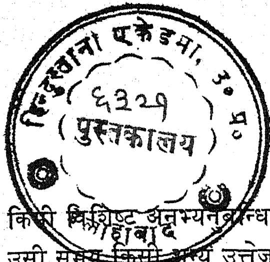
पैवलव का कथन था कि अधिक बलवान् केन्द्र पूर्णतया ऊर्जित होने पर अपनी प्रबल प्रतिक्रियाओं से कम बलवान् केन्द्रों को दबा लेते हैं और उनका अवरोधन करते हैं। जैसे त्वचा पर विद्युत्-तरंगोत्तेजन और खाद्योत्तेजन का उपस्थापन एक साथ होने पर जन्तुओं में सुरक्षा-प्रतिक्रिया नहीं, भोजन-प्रतिक्रिया होती है। बलवान् केन्द्र अल्पबल केन्द्र से ऊर्जा अपनी ओर खींच लेता है और उस केन्द्र को शान्त एवं निष्क्रिय कर देता है। हाँ, कम ऊर्जित होने पर अधिक बलवान् केन्द्र भी किसी अत्यधिक ऊर्जायुक्त अल्पबल केन्द्र से दब जा सकता है। जैसे, यदि त्वचा के बजाय अस्थियों पर नाशक उत्तेजना का प्रयोग किया जाय तब उनकी सुरक्षा का केन्द्र भोजन-केन्द्र से अधिक बलवान् प्रतीत होने लगता है। साथ ही, जीवन-प्रवृत्ति की सभी प्रतिवर्त-क्रियाओं में एक विशेष लय भी है, जिसे

पैवलव ने ''जीवनलय'' कहा है। जीव भोजन की इच्छा करता है, उसे प्राप्त करके संतुष्ट हो जाता है, और तब तक पुनः भोजन का प्रयोग नहीं करता जब तक फिर से नवीन इच्छा प्रकट नहीं हो जाती। संग्रह, काम आदि का भी ऐसा ही प्रयास, प्राप्ति तथा उदासीनता का नियम है। इस नियम के और परस्पर प्रेरण के नियम के अनुसार जीव समान उत्साह के साथ एक उद्देश्य से दूसरे उद्देश्य की ओर जाता रहता है। इसे ही पैवलव ने उद्देश्य-प्रतिवर्त कहा है। इस उद्देश्य-प्रतिवर्त का अवरोधन हो जाने पर व्यक्ति आत्महत्या तक कर सकता है। ऊर्जा आकर्षित करने वाला केन्द्र उत्तेजित हो जाता है। इस उत्तेजन-प्रक्रिया के तीन नियम हैं—(१) प्रमस्तिष्क में उत्तेजन का तरंगात्मक विकिरण, (२) उत्तेजन का सान्द्रण अर्थात् विकिरित उत्तेजन-तरंग का अपने प्रस्थान-स्थल पर लौट आना, तथा (३) आसन्न क्षेत्रों का धनात्मक अथवा ऋणात्मक प्रेरण। किसी क्षेत्र में उत्तेजन एवं विकिरण होने से निकटवर्ती क्षेत्रों में अवरोध उत्पन्न होता है और उत्तेजित क्षेत्र को सान्द्रण के लिए विवश करता है। यह धनात्मक प्रेरण है। यदि किसी क्षेत्र में अवरोध होता है, और वह अवरोध विकसित होता है तो निकटवर्ती क्षेत्रों में उत्तेजन उत्पन्न होता है और इस अवरोध को सान्द्रण के लिए विवश करता है। यह ऋणात्मक प्रेरण हुआ। दोनों प्रकार का प्रेरण उत्तेजन तथा अवरोधन को बनाये रखता है एवं उनमें स्थिरता लाता है। यही तीन नियम दूसरे प्रकार की तंत्रिका-क्रिया अर्थात् अवरोधन के भी हैं।

पैवलव का सिद्धान्त है कि अभ्यनुबन्धित उत्तेजना द्वारा उत्तेजित प्रान्तस्था कोशिकाएँ कभी आन्तरिक और कभी बाह्य कारणों से धीरे-धीरे अवरोधावस्था को प्राप्त हो जाती हैं, बाह्य अवरोधन किसी केन्द्र के क्रिया-काल में ही दूसरे केन्द्र के उत्तेजन से हो जाता है। इससे प्रथम केन्द्र का कार्य तत्काल घट जाता है अथवा सर्वथा रुक जाता है। आन्तरिक अवरोधन के स्वरूप का पैवलव कोई निश्चित विवरण नहीं दे पाया।

पैवलव के मतानुसार उत्तेजन तथा अवरोधन का आधार शरीर-रचना में है। प्रत्येक व्यक्ति के प्रमस्तिष्क की प्रान्तस्था कोशिकाओं में किन्हीं उत्तेजक पदार्थों का भंडार होता है। जब किसी व्यक्ति में इनका पूर्ण अथवा आंशिक प्रकार्य-क्षय अथवा प्रकार्य-नाश होने का डर होता है, तो इस हानि को रोकने के लिए अर्थात् इन पदार्थों की प्रकार्य-क्षमता को बचाने के लिए और नष्ट उत्तेजक पदार्थों के पुनरुद्धार के लिए, उनमें विशेष अवरोधन-प्रक्रिया होने लगती है।

पैवलव का कथन था कि उपर्युक्त अनभ्यनुबन्धित प्रतिवर्त सब केन्द्रीय तंत्रिकातंत्र के अधोभाग के प्रकार्य हैं। केन्द्रीय तंत्रिकातंत्र के उच्चतर भागों का प्रकार्य नवीन अस्थायी सम्बन्धों का निर्माण है, जिन्हें वह अभ्यनुबन्धित प्रतिवर्त कहता था। जब



किसी विशिष्ट अनभ्यनुबन्धित प्रतिवर्त को उत्पन्न करने वाली सक्रिय उत्तेजना के साथ उसी समय किसी अन्य उत्तेजना का भी उपस्थापन हो जाये और ऐसा कई बार हो, तब वह अन्य उत्तेजना अकेली उपस्थापित होने पर भी उसी प्रतिवर्त को क्रियाशील कर लेती है। पैवलव ने यह नियम धन-प्रतिवर्त और ऋण-प्रतिवर्त दोनों के विषय में सिद्ध किया। उसने मूल उत्तेजनाओं के रूप में धन-प्रतिवर्तों के लिए प्राय: भोजन का और ऋण-प्रतिवर्तों के लिए अम्ल का प्रयोग किया। भोजन द्वारा उत्पन्न लार-स्रवण-प्रतिक्रिया का उसने तालमापी के टक-टक शब्दों के साथ, रेखागणित-आकृतियों और वर्णमाला के अक्षरों के साथ, स्पर्श-उत्तेजनाओं के साथ और कपूर की गन्ध के साथ अभ्यनुबन्धन स्थापित करके दिखाया। पहले पैवलव का विश्वास था कि अभ्यनुबन्धन मस्तिष्कीय प्रान्तस्था में होता है। कई प्रयोगों में मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों को निकाल देने पर अभ्यनुबन्धन नहीं हुआ। बाद के प्रयोगों में दोनों शंखपालियों को निकाल देने पर भी शब्द के साथ लार-स्रवण का अभ्यनुबन्धन हुआ। प्रान्तस्थाहीन कुत्तों में भी अभ्यनुबन्धन सम्भव तो हुआ, परन्तु बहुत ही अस्पष्ट रूप में।

पैवलव ने अपने प्रयोगों में सदा अभ्यनुबन्धित उत्तेजना का उपस्थापन अनभ्यनुबन्धित उत्तेजना के कुछ पूर्व आरम्भ किया। कुछ प्रयोगों में अनभ्यनुबन्धित उत्तेजना का उपस्थापन एक से कम सेकेण्ड से लेकर आठ सेकेण्ड तक पीछे किया गया और अभ्यनुबन्धित उत्तेजना को भी साथ-साथ उपस्थापित रखा गया। इन प्रयोगों में अभ्यनुबन्धन तुरन्त ही स्थापित हो गया। कुछ अन्य प्रयोगों में इस प्रकार अभ्यनुबन्धन स्थापित हो जाने के पश्चात् अनभ्यनुबन्धित उत्तेजना का उपस्थापन अभ्यनुबन्धित उत्तेजना के कुछ मिनट बाद किया गया और तब अभ्यनुबन्धित उत्तेजना को हटा लिया गया। इन प्रयोगों में अभ्यनुबन्धित प्रतिक्रिया कुछ देर से हुई। एक तीसरे प्रकार के प्रयोग में दोनों उत्तेजनाओं के बीच कुछ काल बीत जाने दिया गया। इन प्रयोगों में जितना अधिक कालान्तर था, उतनी ही अधिक कठिनता से अर्थात् उतने ही अधिक समय में अभ्यनुबन्धन स्थापित हो पाया। पैवलव का मत था कि दूसरे और तीसरे प्रकार के प्रयोगों में दोनों उत्तेजनाओं के एक साथ उपस्थापित न रहने पर भी अभ्यनुबन्धन इसलिए स्थापित हो जाता है कि अभ्यनुबन्धित उत्तेजना के हटा लिये जाने के बाद भी उसके चिह्न देह में रह जाते हैं और इनके साथ ही अनभ्यनुबन्धित उत्तेजना का उपस्थापन हो जाता है। इसीलिए उसने इन दोनों प्रकार के प्रयोगों में उत्पन्न होने वाले अभ्यनुबन्धित प्रतिवर्तों को चिह्न-प्रतिवर्त कहा।

पैवलव ने अपने प्रयोगों में यह भी देखा कि उपर्युक्त प्रकार की अभ्यनुबन्धित प्रतिक्रियाओं का पुनः अभ्यनुबन्धन भी हो जाता है, अर्थात् उनका सम्बन्ध प्रथम अभ्यनु-

बन्धित उत्तेजनाओं के द्वारा अन्य नवीन अभ्यनुबन्धित उत्तेजनाओं से भी जुड़ सकता है। इस प्रक्रिया में प्रथम अभ्यनुबन्धित उत्तेजना अनभ्यनुबन्धित उत्तेजना का काम देती है और नवीन उत्तेजना अभ्यनुबन्धित उत्तेजना का। उदाहरणार्थ, तालमापी द्वारा अभ्यनुबन्धन से लार-स्रवण होने लगने के उपरान्त कुत्ते के सामने दस सेकेण्ड तक श्यामवर्ग उपस्थापित करने के बाद १५ सेकेण्ड बाद तालमापी का शब्द ३० सेकेण्ड तक करने से अब श्यामवर्ग के उपस्थापन से ही लार-स्रवण होने लगता है। इस प्रक्रिया को पैवलव ने उच्चतर स्तर का अभ्यनुबन्धन कहा। इसमें प्रतिक्रिया पहले से हलकी पड़ जाती है, उदाहरणार्थ, लार-स्रवण कम मात्रा में होने लगता है। प्रतिक्रिया उत्पन्न करने के लिए पूर्व अभ्यनुबन्धित उत्तेजना का अति प्रबल होना भी आवश्यक होता है। इससे पैवलव ने यह निष्कर्ष निकाला कि नवीन अभ्यनुबन्धित उत्तेजना अवरोध उत्पन्न करती होगी, तभी उस अवरोध पर विजय प्राप्त करने के लिए अति प्रबल पूर्व अभ्यनुबन्धित उत्तेजना की आवश्यकता पड़ती होगी।

पैवलव का विचार था कि अभ्यनुबन्धित प्रतिक्रिया मूल अनभ्यनुबन्धित प्रक्रिया के तदाकार नहीं उसके बहुत कुछ समान होती है। उसने नैसर्गिक प्रतिवर्तों के समान अभ्यनुबन्धित उत्तेजनाओं को भी धन अर्थात् उत्तेजनोत्पादक एवं ऋण अर्थात् अवरोधोत्पादक दो प्रकारों में वर्गीकृत किया। और भोजन, काम, रक्षा आदि से सम्बन्धित अनभ्यनुबन्धित उत्तेजनाओं के समान अभ्यनुबन्धित उत्तेजनाओं का उल्लेख करते हुए इन्हीं सबसे सम्बन्धित उन सबको भी उद्देश्य प्रतिवर्त के अधीन माना।

पैवलव ने अभ्यनुबन्धित प्रतिवर्तों की दो विशेषताएँ और बतायीं, सामान्यता तथा विवेक-स्थापन। उसका कथन था कि किसी अभ्यनुबन्धित प्रतिवर्त की स्थापना होने पर आरम्भ में अभ्यनुबन्धित उत्तेजना सामान्य होती है, अर्थात् उसी प्रकार की परन्तु उसकी अपेक्षा कुछ कम अथवा कुछ अधिक मात्रा की उत्तेजना से भी अभ्यनुबन्धित प्रतिक्रिया होने लगती है। उसका विश्वास था कि यह विकिरण द्वारा हो जाता है। कोई उत्तेजना प्रान्तस्था के किसी एक स्थल पर पहुँच कर वहाँ के बहुत से ग्राहक केन्द्रों में विकिरित हो जाती है। परन्तु यदि अब कई अवसरों पर अभ्यनुबन्धित उत्तेजना की केवल एक विशिष्ट मात्रा के उपस्थापन पर अभ्यनुबन्धित प्रतिवर्त को अनभ्यनुबन्धित उत्तेजना द्वारा कुमक पहुँचायी जाय और अभ्यनुबन्धित उत्तेजना की अन्य मात्राओं के उपस्थापन के साथ अनभ्यनुबन्धित उत्तेजना का उपस्थापन न किया जाय, तब उस विकिरण का अवरोध हो जायगा और व्यक्ति में अभ्यनुबन्धित उत्तेजना की विभिन्न मात्राओं में विवेक स्थापित हो जायगा।

पैवलव के अभ्यनुबन्धन-सिद्धान्त में अभ्यनुबन्धित प्रतिवर्तों को कुमक पहुँचाने की

धारणा बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह अभ्यनुबन्धित प्रतिवर्तों की स्थापना, पुष्टि और स्थिति के लिए आवश्यक है। और इसे वह अनभ्यनुबन्धित उत्तेजना के साथ अभ्यनुबन्धित उत्तेजना का उपस्थापन मात्र ही मानता था। इसमें अभ्यनुबन्धित उत्तेजना को अनभ्यनुबन्धित अर्थात् नैसर्गिक उत्तेजना की अपेक्षा निर्बल एवं संयोगिक ही समझा जाता है। नहीं तो उसके पीछे आरम्भ होने वाली और कदाचित् साथ ही उपस्थापित रहने वाली अनभ्यनुबन्धित उत्तेजना निष्फल हो जाती है और अभ्यनुबन्धन असम्भव हो जाता है। इसीलिए यह भी आवश्यक है कि अभ्यनुबन्धित उत्तेजना अनभ्यनुबन्धित उत्तेजना से कुछ पूर्व ही उपस्थित हो जाय, नहीं तो अपेक्षाकृत निर्बल होने के कारण यह थोड़ा-बहुत अवरोधन ही कर सकती है, परन्तु अधिक प्रबल अनभ्यनुबन्धित उत्तेजना से दब ही जायगी। जब अपेक्षाकृत निर्बल अभ्यनुबन्धित उत्तेजना पहले से उपस्थापित हो जायगी तो कुछ उत्तेजन उत्पन्न होगा ही। जब अपेक्षाकृत प्रबल अनभ्यनुबन्धित उत्तेजना उपस्थापित होकर प्रबल केन्द्र में अपेक्षाकृत प्रबल उत्तेजन उत्पन्न करेगी और यह उत्तेजन पूर्व उत्तेजन की अपेक्षा निर्बल ऊर्जा को अपनी ओर खींच लेगा। ऊर्जा के इस संप्रेषण से नवीन मार्ग, नवीन सम्बन्ध बनेंगे और पुष्ट होंगे। यही अभ्यनुबन्धित प्रतिवर्त होते हैं। इसी प्रकार के यांत्रिक उर्जा-संप्रेषणों से जीवन में लय आती है।

यदि किसी अभ्यनुबन्धित प्रतिवर्त को उपर्युक्त प्रकार से कुमक न पहुँचती रहे अर्थात् यदि अभ्यनुबन्धित उत्तेजना के पुनरावर्तन के साथ कई बार निरन्तर अनभ्यनुबन्धित उत्तेजना का उपस्थापन न हो, तो अभ्यनुबन्धित प्रतिक्रिया का धीरे-धीरे ह्रास और अन्त में लोप हो जाता है। और यदि अभ्यनुबन्धित उत्तेजना का विना कुमक के पुनरावर्तन छोटे-छोटे कालान्तरों पर होता है, तब तो अभ्यनुबन्धन का लोप और भी शीघ्र हो जाता है। परन्तु इस लोप से उसका सर्वथा नाश नहीं होता। कुछ अवकाश बीत जाने पर अभ्यनुबन्धित उत्तेजना के उपस्थापन होने से अभ्यनुबन्धित प्रतिक्रिया फिर प्रकट हो जाती है।

अभ्यनुबन्धन का लोप उसका एक प्रकार का आन्तरिक अवरोध है। पैवलव ने अभ्यनुबन्धित के चार प्रकार के आन्तरिक अवरोध में भेद किया——लोप, पिछड़ाव, सविकल्पावरोध तथा अभ्यनुबन्धित अवरोध। अनभ्यनुबन्धित उत्तेजना के अभ्यनुबन्धित उत्तेजना के कुछ मिनट पश्चात् उपस्थापन की अवस्था में अभ्यनुबन्धित प्रतिक्रिया का देर से होना पिछड़ाव का उदाहरण है। अभ्यनुबन्धित उत्तेजना की एक विशिष्ट मात्रा को अनभ्यनुबन्वित उत्तेजना द्वारा कुमक पहुँचने से और उसकी अन्य मात्राओं को ऐसी पुष्टि न मिलने से होने वाली प्रक्रिया विवेकात्मक अवरोध अर्थात् सवि-

कल्पात्मक अवरोध है। किसी सुस्थापित अभ्यनुबन्धित उत्तेजना के साथ किसी अन्य नवीन उत्तेजना के कुमक सहित उपस्थापन से सुस्थापित अभ्यनुबन्धित उत्तेजना का नवीन उत्तेजना के पक्ष में अवरोध, अभ्यनुबन्धित अवरोध होता है। इन चार प्रकार के आन्तरिक अवरोधों के अतिरिक्त अभ्यनुबन्धन का बाह्य अवरोधी भी संभव है। केन्द्रीय तंत्रिकातंत्र के किसी एक केन्द्र के प्रबल उत्तेजन से उसके अन्य सभी समीपवर्ती केन्द्रों की उत्तेजनशीलता कम हो जाती है। इसलिए किसी नवीन प्रबल उत्तेजना की क्रियाशीलता से पूर्वोपस्थित सभी उत्तेजनाओं का अवरोधन हो जाना स्वाभाविक है।

परन्तु इन सभी प्रकार के अवरोधों को निरवरोध भी किया जा सकता है। अवरोध के समय किसी बाह्य उत्तेजना के उपस्थित हो जाने से अवरोध स्वयं अवरुद्ध हो जाता है और अवरुद्ध प्रतिवर्त तत्काल क्रियाशील हो जाया करता है। ऐसे ही, अवरोध का विकिरण भी होता है और सान्द्रण भी। जब किसी एक अनाभ्यनुबन्धित उत्तेजना से कई अभ्यनुबन्धित उत्तेजनाएँ सम्बद्ध हो जाती हैं, तब किसी एक अभ्यनुबन्धित उत्तेजना को निर्जीव कर देने से सभी अन्य अभ्यनुबन्धित उत्तेजनाएँ भी पूर्णतः अथवा अंशतः निर्जीव हो जाती हैं। परन्तु कुछ समय में, सान्द्रण के नियम के अनुसार, यह अवरोध सिकुड़कर अपने मूल-स्थान पर सान्द्रित हो जाता है, अर्थात् केवल निर्जीव की गयी उत्तेजना निर्जीव रहती है, शेष सब उत्तेजनाएँ पुनर्जीवित हो जाती हैं।

पैवलव का कथन था कि निद्रा विस्तृततम एवं विकिरिततम आन्तरिक अवरोध है। इससे क्षय तथा पुनर्जीवन की प्रक्रियाओं में साम्य स्थापित होता है। यह भी एक नैसर्गिक अनभ्यनुबन्धित प्रतिवर्त है, और इसका भी अभ्यनुबन्धन हो सकता है। पैवलव के मतानुसार निद्रा का नियम यह है कि मस्तिष्क के किसी भाग पर किसी भी महत्त्वपूर्ण अथवा महत्त्वहीन उत्तेजन की निरन्तर क्रियाशीलता के साथ यदि किसी अन्य भाग का उत्तेजन न हो, तो शीघ्र ही अथवा कुछ ही समय में जीव सो जाता है। इसमें आन्तरिक अवरोध पूरे मस्तिष्क पर और तंत्रिकातंत्र के निम्नतर केन्द्रों पर भी छा जाता है। जब नवीन उत्तेजनाएँ इस अवरोध को सीमित कर देती हैं, तो नींद खुल जाती है। पैवलव ने कुत्तों में निद्रा की क्रमिक अवस्थाओं के विषय में भी प्रायोगिक प्रेक्षण प्रकाशित किये। कुत्तों की जाग्रतावस्था में स्राव-प्रतिवर्त एवं गति-प्रतिवर्त दोनों विद्यमान होते हैं, अर्थात् कुत्ते में खाद्य पदार्थ देखकर लार-स्रवण होने लगता है और वह भोजन को खा लेता है। निद्रा की आरम्भिक अवस्था में लार-स्रवण नहीं होता, परन्तु कुत्ता भोजन लेकर खा लेता है। द्वितीयावस्था में निद्रा जब कुछ गहरी हो जाती है तब कुत्ते में लार-स्रवण होता है, परन्तु वह भोजन लेता नहीं, अर्थात् लार-स्रवण अनवरुद्ध हो जाता है और गति-प्रतिवर्त अवरुद्ध हो जाता है। तृतीय अवस्था पूर्ण प्रगाढ़ निद्रा की होती है। इसमें लार-स्रवण प्रतिवर्त

एवं गतिप्रतिवर्त दोनों लुप्त हो जाते हैं। पैवलव ने यह भी देखा कि जागृतावस्था से सुप्तावस्था की ओर जाते समय संक्रमणकाल में कुत्तों में प्रबल उत्तेजनाओं की अपेक्षा दुर्बल उत्तेजनाओं के प्रति अधिक सफल प्रतिक्रिया हुआ करती है। पैवलव का विचार था कि यह विचित्र प्रेक्षण-फल सम्मोहनावस्था के स्वरूप पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है, क्योंकि सम्मोहनावस्था में भी बाह्य जगत् की प्रबल उत्तेजनाएँ निष्फल रहती हैं और सम्मोहक व्यक्ति द्वारा उपस्थापित उत्तेजनाएँ विशेषतया प्रभावशील हो जाती हैं।

पैवलव चेतना को केन्द्रीय अर्ध गोलों के किसी ऐसे भाग की तंत्रिकीय सक्रियता समझता था, जो किसी विशेष समय पर वर्तमान परिस्थितियों में यथेष्ट मात्रा में उत्तेजनशील होती है, इस कारण नवीन अभ्यनुबन्धित प्रतिवर्तों के निर्माण में समर्थ होती है और शीघ्रता एवं सफलतापूर्वक विवेक का विकास पर पाती है। स्वाभाविक है कि इसके साथ केन्द्रीय अर्ध गोलों के अन्य भागों की उत्तेजनशीलता घट जाती है, उनके प्रकार्य विधिबद्ध हो जाते हैं, और वे रूढ़िपक्व भाषा में अवचेतन अथवा स्वचालित कहे जाने लगते हैं। इस अर्थ में चेतना जाग्रतावस्था में मस्तिष्क के किसी भाग में होती है और निद्रा, स्वप्न और सम्मोहन में अधःप्रान्तस्थ एवं मेरुरज्जु-केन्द्रों में, जो अनभ्यनुबन्धित उत्तेजनाओं, मूल प्रवृत्तियों तथा उद्वेगों का स्थान है। इस अर्थ में चेतना पर मानवों का एकाधिकार नहीं। फिर भी मनुष्यों और अन्य जन्तुओं में यह अन्तर है कि मनुष्य विकास के उच्चतर स्तर पर कार्य करता है, प्रत्यक्ष एवं अभ्यनुबन्धन में वास्तविकताओं के प्रतिनिधि के रूप में प्रतीकों का उपयोग करता है, और अन्य जन्तुओं की भाँति तथ्यों के संकेतों के रूप में उत्तेजना और प्रमस्तिष्कीय अर्ध गोलों में रह जाने वाले चिह्नों का अर्थात् प्रथम संकेततंत्र का उपयोग तो करता ही है। साथ ही इन प्रथम संकेतों के भी संकेतों का, अर्थात् द्वितीय संकेत तंत्र, भाषा का प्रयोग भी करता है।

पैवलव ने मानसिक विकारों एवं स्वभावों की भी अभ्यनुवन्धनवादी व्याख्या की। उसका मत था कि मनोविकृति का मूल स्वरूप वही है, जो तंत्रिकीय उत्तेजनों तथा अवरोधनों के परस्पर संघर्ष की अवस्था में कुत्तों में देखा जा सकता है। उच्च शब्द तथा मध्यम शब्द के बीच विवेक-सम्बन्धी प्रयोगों में जब दोनों प्रकार के शब्दों के बीच अन्तर घटाते-घटाते इतना कम हो जाता है कि कुत्ता उनमें अन्तर-प्रतिक्रिया नहीं कर पाता तो उसका संतुलन बिगड़ जाता है और वह भौंकने तथा काटने लगता है। पैवलव के एक प्रयोग में कुत्ते को एक प्रकाशवृत्त का एक प्रकाश-दीर्घवृत्त से भेद करना था। जब दीर्घवृत का आकार बदलते-बदलते उसके अर्धाक्षों का अनुपात ९:८ हो गया, अर्थात् दोनों उत्तेजनाओं में भेद करना असम्भव-सा हो गया, तब कुत्ते का सम्पूर्ण व्यवहार एकदम बदल गया। वह अभी तक शान्त कुत्ता था, अव चीत्कार करने लगा, छटपटाने लगा, त्वचा के यांत्रिक उत्तेजन के

लिए प्रयुक्त यंत्र को अपने दाँतों से फाड़ने लगा और ज़ोर-ज़ोर से भौंकने लगा। यह सब उग्र मनोविकृति के लक्षण होते हैं। पैवलव ने यह भी देखा कि इस प्रकार के उत्तेजन-अवरोधन-संघर्ष के समय कुछ कुत्ते आसानी से संतुलन खो बैठते हैं, और कुछ कुत्ते उसका अपेक्षाकृत अधिक प्रतिरोध करते हैं। उनकी पूर्ण व्यवहार-शैली से भी उनकी संकटकालीन विकृति का स्वरूप निर्धारित होता है। पैवलव ने अपने प्रायोगिक कुत्तों के और मनोरोगियों के, और उनके आधार पर सभी मानव-स्वभावों के भी, उत्तेजन एवं अवरोधन की दृष्टि से चार वर्ग किये। एक उत्तेजनशील अर्थात् पैत्तिक वर्ग है। इस वर्ग के जीवों में धनात्मक अभ्यनुबन्धित प्रतिवर्त आसानी से बन जाते हैं और शीघ्र क्रियाशील हो जाते हैं। परन्तु ऋणात्मक अर्थात् अवरोधात्मक प्रतिवर्त उत्पन्न होना कठिन होता है। उत्तेजनात्मक प्रतिवर्तों की प्रधानता होती है और आक्रामकता अधिक होती है। इस प्रकार के व्यक्तिगत लड़ाके तीव्र स्वभाव एवं शीघ्रता तथा सुगमता से क्रोधित हो जाने वाले होते हैं। विवेक की आवश्यकता वाली परिस्थितियों में यदि उत्तेजन एवं अवरोधन के परस्पर विरोध का सुलझाना इस प्रकार के जीव की शक्ति से बाहर हो जाय, तो मनःश्रान्ति की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इस मनःश्रान्ति की अति ही चक्रीय क्षिप्ति का रूप लेती है, जिसमें अति सक्रियता तथा अति निष्क्रियता के दौरे एक दूसरे के बाद आया करते हैं। इसके विपरीत स्वभाव अवरोधनशील अर्थात् संविषादशील वर्ग का होता है। इस वर्ग के जीवों में अवरोधनात्मक प्रतिवर्त आसानी से बनते हैं। इनका व्यवहार चुपके-चुपके, कातर और दब्बू प्रकार का होता है। इनके लिए सब घटनाएँ अवरोधन सिद्ध होती हैं। इनमें न कोई विश्वास होते हैं न कोई आशाएँ। इन्हें सब ओर अंधेरा ही दिखाई देता है। उपर्युक्त प्रकार के आन्तरिक संघर्ष इनमें हिस्टीरिया उत्पन्न कर देते हैं। उग्र अवस्था में यही हिस्टीरिया अन्तराबन्ध का रूप ले लेता है, क्योंकि प्रान्तस्था की अति निर्बलता ही अन्तराबन्ध की विशेषता है। अवरोधप्रधान हिस्टीरियाग्रस्त कुत्तों में भी और मनुष्यों में भी निर्बल प्रमस्तिष्क-कोशिकाएँ होती हैं और यह बहुत शीघ्र विभिन्न मात्राओं की जीर्ण अवरोधनावस्था में पहुँच जाती हैं। इन दोनों विकारशील वर्गों के बीच में दो केन्द्रीय, स्वस्थ, अर्थात् साम्यप्राप्त वर्ग हैं। यह दोनों वर्ग तनावों में भी अशांत नहीं होते। इनमें एक शान्त वर्ग है और दूसरा सजीव वर्ग। शान्त साम्यप्राप्त वर्ग श्लेष्मीय, आत्मस्थित, दृढ़ एवं स्थिर-स्वभाव होता है। सजीव साम्यप्राप्त वर्ग के व्यक्ति ऊर्जापूर्ण, रचनाशील होते हैं, परन्तु शीघ्र उकता जाते हैं और बहुत आसानी से तुरत सो जाते हैं।

पैवलव के विचार के अनुसार स्वभाव गोलार्धों और उपप्रान्तस्थ केन्द्रों के गुणों पर अर्थात् तंत्रिकीय कोशिकाओं के नैसर्गिक गुणों पर निर्भर होते हैं। फिर भी, परिवेश से पड़ने वाले प्रभाव भी उनमें बहुत परिवर्तन ला सकते हैं।

व्यवहारवादी

मनोविज्ञान को पूर्णतया नियतिवादी बनाने का प्रयत्न व्यवहारवादी सम्प्रदाय ने किया है। यह सम्प्रदाय प्रायः अमरीका में पनपा है। इसके संस्थापक जौन ब्रोड्स, वाट्सन और मुख्य प्रवर्द्धक एलबर्ट पी. वाइस, एड्वर्ड वी. होल्ट, वाल्टर एस. हन्टर, कार्ल एस. लैशली, डौनल्ड ओ. हेब, एड्विन आर. गुथ्री, क्लार्क एल. हल, बी. एफ स्किनर, एडवर्ड सी. टोलमैन, ग्रेगोरी राज़रान, जौन डोलर्ड, नील, ई. मिलर, ओ. होबर्ट मोरर और रौवर्ट आर. सीयर्स हैं।

इस सम्प्रदाय का मूल उद्देश्य मनोविज्ञान को ऐसा असंदिग्ध प्राकृतिक विज्ञान बना देना है, जो उत्तेजना ज्ञात होने पर प्रतिक्रिया का यथार्थ पूर्वानुमान कर सके और प्रतिक्रिया ज्ञात होने पर वता सके कि यह किस उत्तेजना के कार्यस्वरूप हुई है। इसके लिए मनोविज्ञान को केवल प्रेक्ष्य तथ्यों तक सीमित रखना आवश्यक समझा गया है। व्यवहारवादियों का विचार है कि वैज्ञानिक प्रेक्षण वही है, जो कई प्रेक्षकों द्वारा किया जा सके और सबको एक से प्रदत्त उपलव्ध करे। ऐसा प्रेक्षण केवल बाहर से ही हो सकता है। अतः उन्होंने आग्रह किया है कि चेतना अप्रेक्ष्य है और मनोवैज्ञानिकों के लिए चेतना के प्रेक्षण का भ्रम त्यागना आवश्यक है। इस प्रकार अंतःप्रेक्षण भी व्यर्थ हो जाता है। लैशली ने तो अंतःप्रेक्षण को वैज्ञानिक विधि का विकृत रूप कहकर कड़ी आलोचना की है। मनोवैज्ञानिकों को चेतना अथवा संवेदना, प्रत्यक्ष, अवधान, प्रतिमा-प्रवाह, संकल्प आदि चेतनावस्थाओं और ऐसे ही सीखने में संतुष्टि, खीझ आदि परिणाम-नियमों की वात करना छोड़ देना चाहिए। व्यवहारवादी इन अंतःप्रेक्षण द्वारा ज्ञात समझे जाने वाले तथ्यों को अस्वीकार करता है, अथवा कम-से-कम इन्हें असार्वजनिक एवं तथ्यात्मक अध्ययन द्वारा अप्राप्य, अतः वैज्ञानिक अनुसंधान के अयोग्य घोषित करता है। उसके लिए चेतना अथवा अनुभव महत्त्वहीन धारणाएँ है। मनोविज्ञान का यथार्थ उद्देश्य किसी जीव पर टकराने वाली उत्तेजनाओं और उस जीव की प्रतिक्रियाओं के सम्बन्धों का ही अध्ययन है।

इस विषय में व्यवहारवादियों में ज्ञानदर्शनात्मक वस्तुवादियों ने किसी-न-किसी प्रकार का अरूढ़िवादी दृष्टिकोण अपनाया है। होल्ट ने चेतना के प्रति खण्डनात्मक भाव न लेते हुए उसे मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय नहीं, जगत् के विषयों के यथार्थ प्रेक्षण का ऐसा माध्यम मात्र माना है, जिस पर वे विषय निर्भर नहीं हैं। हन्टर ने कहा है कि मनोवैज्ञानिकों द्वारा अब तक चेतना अथवा अनुभव उसे ही कहा गया है, जिसे अन्य लोग परिवेश कहते हैं। हम उसका ही प्रेक्षण करते हैं और वह बाहर से आता है। लैशली ने सर्वथा नवीन ढंग से मन और मस्तिष्क को एकस्तरीय प्रतिपादित किया है। उसने

कहा है कि जीवन और मन अलग-अलग प्रकार का तत्त्व नहीं है। जीवन की भाँति मन भी अनेक जटिल रचनाओं अथवा सम्बन्धों का संगठन ही है। अतः मन और मस्तिष्क के बीच कोई खाई, कोई विभिन्नता नहीं, स्वाभाविक तारतम्य है। हेब ने तो चेतना को सम्पूर्ण प्रमस्तिष्क में फैली हुई क्रियात्मकता कह दिया है। स्किनर ने अंतर्धकेल को भी अनुभवगम्य तथ्य नहीं माना है और कहा है कि प्रतिक्रियागति के मापन की प्रक्रियाएँ ही प्रेक्ष्य हैं। अतः हम चाहें तो इन्हीं को अर्थात् वंचितावस्था अथवा संतुष्टावस्था के परिणामों को ही अंतर्धकेल कह सकते हैं।

व्यवहारवादियों ने अनुभव किया है कि मूल प्रवृत्ति, शिक्षा-ग्रहण आदि मनोवैज्ञानिक वृत्तियों से सम्बन्धित अनुसंधान में प्रयोग-परिस्थितियों का नियंत्रण मानव-प्रयोज्यों में इतना सफल नहीं हो पाता, जितना जन्तुओं के साथ प्रयोग करने में हो जाता है। अतः उन्होंने आग्रह किया है कि मानव-व्यवहार तथा जन्तु-व्यवहार को एक ही स्तर पर समझना चाहिए। इस प्रकार मनोविज्ञान तथा अन्य विज्ञानों में विधि का कोई अंतर नहीं होना चाहिए। विशेषतया भौतिकी एवं रसायन की भाँति मनोविज्ञान को भी पूर्णतया तथ्यात्मक, प्रायोगिक, प्राकृतिक विज्ञान का बन जाना चाहिए। अमरीकन व्यवहारवादी हन्टर ने तो मनोविज्ञान के लिए एक नया नाम ऐंथ्रोपौनोमी अर्थात् मानव-व्यवहार-नियम-विज्ञान प्रस्तावित किया है, और इसका काम जीव के बाह्य एवं मुख्यतः सामाजिक परिवेश के प्रति बाह्य व्यवहार का वर्णन, उपपादन, पूर्वानुमान एवं नियंत्रण बताया है।

लैशली ने भी कहा है कि मनुष्य के अध्ययन में ऐसा कुछ नहीं मिलेगा जिसका, यांत्रिकी तथा रसायन की धारणाओं द्वारा वर्णन न किया जा सके। क्लार्क हल ने विज्ञान की प्राक्कल्पनात्मक-नियमनात्मक-गणितात्मक धारणा को श्रेष्ठतम मानकर मनोविज्ञान को ऐसे ही ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया है। उसने एक परिभाषातंत्र स्थापित करके कुछ प्रत्ययप्रधान पूर्व नियम प्रस्तावित किये हैं। इनसे बहुत से विस्तृत प्रमेयों का नियमपूर्वक निगमन किया है। तब प्रयोगों द्वारा इनकी परीक्षा की है और आवश्यकता होने पर यथासंभव सुधार भी किया है। इस प्रकार हल ने १७८ सिद्धान्त-वाक्यों का प्रतिपादन किया है। इनमें से १२१ की प्रयोग द्वारा परीक्षा की है और इनमें से ८७ प्रतिशत को लगभग सिद्ध समझा है।

हल के विपरीत स्किनर ने मनोवैज्ञानिक अनुसंधान को आगमनात्मक रूप देने का प्रयत्न किया है। उसने केवल प्रेक्ष्य व्यवहारों के वर्णन मात्र के उद्देश्य से इन्हें पहचानने और स्पष्ट वक्तव्य-बद्ध करने, उनका वर्गीकरण करने और उनके विषय में उच्चस्तरीय सामान्य प्रत्ययों के विकास करने, और इस सब में देह-वैज्ञानिक अथवा अन्य प्रकार की प्राक्कल्पनाओं से दूर रहने का आग्रह किया है। कारण को स्वतंत्र परिवर्त्य और कार्य को

परतंत्र परिवर्त्य ही माना है। उसने यह विश्वास प्रकट किया है कि व्यक्ति का जो मानसिक कहा जानेवाला जीवन अन्य व्यक्तियों के लिए गुप्त प्रतीत होता है, वह अनुसंधान-विधियों की प्रगति के साथ तथ्यात्मक, सार्वजनिक तथा वैज्ञानिक विषय बन जायगा। उसने उत्तेजना-प्रतिक्रिया अर्थात् व्यवहार के २४ नियमों को सूत्रबद्ध करके उनके स्थिति-नियम, गति-नियम तथा अंतःक्रिया-नियम तीन वर्ग किये हैं। प्रथम वर्ग में बोधद्वार-नियम, सुप्ति-नियम, प्रतिक्रिया-परिमाण-नियम, उत्तर प्रतिक्रिया-नियम तथा कालिक योग-नियम हैं। द्वितीय वर्ग में अभ्यनुबन्धन-सम्बन्धी आठ नियम हैं। ऐसे ही अवरोध, पूर्वसक्रियता, बैजयोग, सम्मिश्रण, दैशिक योग आदि के ११ अंतःक्रिया-नियम हैं।

वाट्सन के अनुसार मनोविज्ञान के मूल प्रेक्ष्य तथ्य केवल दो हैं। एक यह कि मानव एवं जन्तु सभी जीव आनुवंशिक तथा अभ्यासार्जित उपकरणों द्वारा परिवेश के प्रति सफल अथवा असफल समायोजक प्रतिक्रियाएँ करते रहते हैं। दूसरा यह कि यह प्रतिक्रियाएँ परिवेश में स्थित उत्तेजनाओं के कारण ही हुआ करती हैं। हल ने मानव-व्यवहार में कुछ अप्रेक्ष्य अंश भी स्वीकार किया है। उसके विचारानुसार मानव-व्यवहार दो प्रेक्ष्य तथ्य, परिवेशदत्त उत्तेजना तथा जीवदत्त प्रतिक्रिया के बीच, जीव अतिजीविता-हेतु, जैव अनुकूलन के अप्रेक्ष्य संदर्भ में होने वाली अंतःक्रिया है। इसे जीव की आवश्यकता की अवस्था से प्रेरणा मिलती है, जिसमें वह अतिजीविता सरल न होने से अथवा वंचिति रूपी अंतर्धकेल के कारण रहता है। व्यवहार लक्ष्योन्मुख होता है और लक्ष्य आवश्यकता को घटाना अथवा उससे मुक्त होना है।

सभी व्यवहारवादी प्रतिक्रियाओं और उत्तेजनाओं दोनों का केवल व्यक्त, बाह्य, प्रेक्ष्य तथा व्यावहारिक रूप देखना चाहते हैं। इसलिए उनका सम्प्रदाय अनुभववादी एवं परिवेशवादी व्यवहारवाद है। उनमें से कुछ ने यह भी कहा है कि मनोवैज्ञानिक को अपने को छोड़कर अन्य मनुष्यों का ही अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि अपने को बाहर से देखा नहीं जा सकता, और अन्तःप्रेक्षण की वास्तविकता का कोई भरोसा नहीं।

उन्होंने मनोविज्ञान की अपनी धारणा के पक्ष में यह तर्क भी दिया है कि किसी विज्ञान में बड़ी प्रगति इन्द्रिय-बोध द्वारा माप्य विषयों के अध्ययन और वर्णन द्वारा ही हुआ करती है। चेतना का इन्द्रियों द्वारा बोध और मापन नहीं हो सकता। ऐन्द्रीय बोध एवं मापन केवल उत्तेजनाओं-प्रतिक्रियाओं का ही हो सकता है। इसलिए व्यवहारवादी सिद्धान्त अपनाने पर ही मनोविज्ञान में बड़ी प्रगति होने की आशा की जा सकती है।

व्यवहारवादी सभी व्यवहार को मूलतः प्रतिवर्ती मानते हैं। परन्तु उनके हाथ में प्रतिवर्त की धारणा कुछ विशिष्ट पूर्णतया यांत्रिक उत्तेजना-प्रतिक्रिया-सम्बन्धों तक सीमित न रहकर सभी प्रेक्ष्य उत्तेजना-प्रतिक्रिया-सम्बन्धों की धारणा बन गयी है। प्रायः यह सब

सम्बन्ध जैव कल्याण करने वाले तथा सुरक्षा के लिए उपयोगी समझे जाते हैं। व्यवहार-वादी मनोवैज्ञानिक इनके नियम ज्ञात करना अपना प्रमुख कर्तव्य समझते हैं।

वाट्सन ने मानव-व्यवहार के दो प्रकार स्वीकार किये हैं—स्फुट तथा अस्फुट। स्फुट व्यवहार के अंतर्गत चलना, बात करना, लकड़ी काटना, मुसकराना आदि सभी प्रेक्ष्य क्रियाएँ हैं। ग्रंथि-स्राव, कुछ पेशी-संकुचन तथा अभ्यन्तरांग एवं तंत्रिका-प्रकार्य अस्फुट व्यवहार होते हैं। संवेदना तथा प्रत्यक्ष कहे जाने वाले तथ्यों में वास्तव में कभी केवल उपस्थित उत्तेजना के प्रति शाब्दिक कथन रूपी प्रतिक्रिया होती है, और कभी कोई शारीरिक गति रूपी प्रतिक्रिया होती है। यह सभी प्रतिक्रियाएँ कभी स्फुट और कभी अस्फुट होती हैं। स्मरण भी संवेदनिक उत्तेजनाओं के अवशेषों द्वारा उत्पन्न अस्फुट शाब्दिक प्रक्रिया का ही नाम है। वाग्वादन-क्रिया बचत वाली प्रतिक्रिया है और प्रतिस्थापित उत्तेजना का काम भी देती है। इसलिए होल्ट ने भाषा को उच्च स्तर अभ्यनुबन्धन से उत्पन्न कहा है। चिंतन को भी व्यवहारवादियों ने अस्फुट स्वररहित वाग्वादन ही कहा है।

स्किनर ने एक अन्य प्रकार से व्यवहार की धारणा को विस्तृत किया है। उसका कथन है कि व्यवहार अर्थात् प्रतिवर्त प्रायः प्रतिक्रियात्मक ही समझे जाते हैं, परन्तु वास्तव में यह दो प्रकार के होते हैं। एक ओर यदि विशिष्ट उत्तेजनाओं द्वारा प्रेरित प्रतिक्रिया-त्मक व्यवहार है, तो दूसरी ओर परिवेश की किसी विशिष्ट उत्तेजना से नहीं, स्वतः ही उत्पन्न प्रक्रियात्मक व्यवहार भी होता है। इसी वर्गीकरण के आधार पर उसने प्रति-क्रियात्मक एवं प्रक्रियात्मक अभ्यनुबन्धन में भी भेद किया है।

वाट्सन ने उद्वेगों को वास्तव में कामोत्तेजक अंगों में प्रतिवर्तक्रिया से उत्प्रेरित, आनुवंशिक एवं कायिक परिवर्तनात्मक, प्रतिक्रियातंत्र बताया है। परिवर्तन सम्पूर्ण शरीर में होते हैं, परन्तु अभ्यन्तरांग-तंत्र एवं ग्रंथि-तंत्र में विशेषतया होते हैं। उपयुक्त उत्तेजना के उपस्थापन पर प्रत्येक बार वही प्रतिक्रियाएँ अवश्य और उसी क्रम से होती हैं। यह उद्वेग नामक सम्पूर्ण प्रतिक्रिया-तंत्र दो प्रकार के होते हैं—फुलावी, अर्थात् गतिशील अथवा लगावशील, और सिकुड़ावी अर्थात् अलगावशील। मूल प्रतिक्रिया-तंत्र क्रोध, भय तथा प्रेम हैं। यह तीनों आनुवंशिक हैं और शिशुओं में भी पाये जाते हैं। शेष सब उद्वेग तथा उद्वेगयोग इन्हीं तीनों से जीव के अभ्यनुबन्धन रूपी अनुभवों द्वारा उत्पन्न होते हैं। होल्ट आदि अन्य व्यवहारवादियों ने तो इन अनभ्यनुबन्धित प्रतिवर्तों को जन्मपूर्व अथवा जन्मोत्तर, तत्काल ही अर्जित, मानकर मानव-व्यवहार में आनुवंशिकता को सर्वथा अस्वीकार कर दिया है। हेब ने भी क्रोध, भय तथा प्रेम को मूल संवेग स्वीकार करते हुए इन्हें सीखा हुआ माना है। भय का आधार तंत्रिकीय अव्यवस्था कहा है। ऐसे ही उसके मतानुसार तंत्रिकीय मंडलक्रिया के नवीन वर्तमान समन्वयात्मक विकास को ही

सुख कहा जाता है। उसने कष्ट तथा भूख को रुधिरतत्त्व-परिवर्तन से उत्पन्न व्यवहार-विकार बताया है। उत्प्रेरण तंत्रिकीय मंडलों के कार्यक्रम में आग्रहशीलता है। नींद, अनुत्प्रेरण की सीमांतक अवस्था है। परन्तु गुंथ्री ने व्यवहारवाद में स्फुट उत्तेजनाओं एवं प्रतिक्रियाओं में कुछ भी स्वीकार करना अनुचित समझकर उत्प्रेरण की धारणा को कोई स्थान नहीं दिया। उसने केवल उपक्रमात्मक तथा पूर्त्यात्मक प्रतिक्रियाओं में भेद करके उपक्रमात्मक प्रतिक्रियाओं में प्रयोजन का अस्तित्व स्वीकार किया है और उसे मुख्यतः क्रियाप्रवृत्ति रूप माना है। स्किनर ने उद्वेगों को व्यवहार का कारण नहीं माना। व्यवहार का कारण तो उत्तेजना ही हो सकती है। उद्वेग तो विशिष्ट प्रकार की क्रियाएँ करने की प्रवृत्ति है। जैसे, प्रेम केवल किसी की सहायता करने की, उस पर अपनी कृपा की वर्षा करने की, अर्थात् उसके साथ रहने की अति वृत्ति है। किसी भी उद्वेग को मानसिक अथवा दैहिक किसी प्रकार की अवस्था समझना भूल है। उसने व्यवहार में सुख तथा दुःख के स्थान पर भी प्रवर्धक कुमक तथा अवरोधक कुमक का उल्लेख किया है। उसके मत से चिंता किसी उत्तेजना के उपरान्त अवरोधक उत्तेजना के आने में देर लगने के अभ्यनुबन्धित दैहिक परिवर्तन रूपी परिणामों का ही नाम है।

वाट्सन ने स्वाभाविक नैसर्गिक वंशानुक्रमजनित मूल प्रवृत्तियाँ तथा योग्यताएँ स्वीकार कीं और उनको रेखित पेशियों की गतियों से बने, क्रम से व्यक्त होने वाले अननुबन्धित प्रतिवर्त-तंत्रों की जटिल प्रतिक्रियाएँ कहा। परन्तु वह उन्हें संख्या में कम तथा महत्त्व में अनुभव की अपेक्षा हीन बताता था। उसका कथन था—"मुझे एक दर्जन स्वस्थ सुगठित शिशु पालने के लिए दे दीजिए और मैं उनमें से किसी को भी चिकित्सक, वकील, कलाकार, सौदागर, भिखारी, चोर जो चाहे बना सकने का दावा करता हूँ, चाहे उसमें कोई भी प्राकृतिक गुण, झुकाव, रुझान, योग्यताएँ, धुनें हों और चाहे उसके पूर्वज किसी भी जाति के हों।" उसका विश्वास था कि यदि किसी व्यक्ति के परिवेश के अर्थात् उसके उत्तेजनासमूह के पूर्ण नियंत्रण की सुविधाएँ हमें प्राप्त हों तो हम उपयुक्त परिवेशनियंत्रण से उसे जैसा व्यक्ति चाहें अर्थात् जैसे व्यवहारों अथवा प्रतिक्रियाओं को करने वाला व्यक्ति चाहें, वैसा ही बना दे सकते हैं, तथा उसे जो चाहें सिखा दे सकते हैं।

वाट्सन ने सीखने का अर्थ आदतों का डालना बताया है, और इसे अभ्यनुबन्धनरूपी स्वीकार किया है। बहुत पीछे हल ने भी आदत को उत्तेजना में आगामी अवसरों पर भी वही प्रतिक्रिया उत्पन्न करने की प्रवृत्ति और कुमकजनित अभ्यनुबन्धित आग्रहशील प्रतिक्रियातंत्र बताया है। व्यक्ति को जैव अनुकूलन एवं अतिजीविता की ओर न ले जाने पर अथवा कुमक की आवश्यकता न रहने पर आदत अवरुद्ध, निर्बल अथवा लुप्त हो जाती है। प्रयत्न, भूल एवं पुनः प्रयत्न से सीखना, वाग्वृत्ति तथा वाग्वादन और सभी प्रकार का

जटिल सीखना सर्व-व्यवहारवादियों द्वारा अभ्यनुबन्धन रूपी माने गये हैं। परन्तु वे अभ्यनुबन्धित उत्तेजना को मूलोत्तेजना की उपोत्तेजना अर्थात् प्रतिस्थापित उत्तेजना समझते हैं। उनका विचार है कि सीखना वास्तव में किसी विशेष प्रतिक्रिया का उसकी स्वाभाविक उत्तेजना के स्थान पर किसी अन्य अनैसर्गिक उत्तेजना से सम्बन्ध-स्थापन है।

व्यवहारवाद के प्रथम प्रतिपादक वाट्सन ने केवल आवृत्ति-नियम तथा अर्वाचीनता के नियम को ही सीखने के उपयुक्त नियम माना। एक प्रसिद्ध प्रयोग में एक बिल्ली के बच्चे का एक पिंजरे में से निकलना सीखना अध्ययन का विषय बनाया गया। उत्तेजना एक ऐसे पिंजरे के रूप में थी, जिसका एक द्वार खोलने पर एक मछली का टुकड़ा खाने को मिल सकता था। द्वार एक बटन को घुमाने से खुल सकता था। बिल्ली के बच्चे ने पंजों से, मुँह से और शरीर के अन्य अंगों से अनेकों क्रियाएँ कीं। उनमें से बहुत-सी क्रियाएँ तो निष्फल हुईं, परन्तु अन्त में कुछ पिंजरे के द्वार के बटन पर पड़ीं और द्वार खुल गया। अगली बार जब उसको पिंजरे में छोड़ा गया तब भी उसने तत्काल ही जाकर द्वार के बटन को नहीं घुमाया। इसके बजाय उसने फिर पहले वाली व्यर्थ क्रियाएँ ही कीं, परन्तु पहले वाली व्यर्थ क्रियाओं में से कुछ इस बार नहीं हुईं, और पहले से कम समय में ही वह बटन पर पहुँच गया और द्वार खुल गया। इस प्रकार हर बार बिल्ली के बच्चे को पिंजरे में छोड़ने पर कुछ और व्यर्थ क्रियाएँ छूट जाती रहीं और बटन घुमाने पर द्वार का खुलना पहले से और भी शीघ्र होने लगा। अन्त में बिल्ली का बच्चा द्वार खोलकर बाहर निकलना पूरी तरह सीख गया। व्यर्थ क्रियाएँ बिलकुल छूट गयीं और पिंजरे में छोड़े जाने पर वह सीधा बटन पर पहुँच उसे घुमाकर द्वार खोल लेने लगा। हुआ यह कि बटनदार द्वार-युक्त पिंजरे रूपी उत्तेजना का बटन घुमाकर द्वार खोलने की प्रतिक्रिया से सम्बन्ध स्थापित हो गया।

परन्तु गुथ्री ने सीखने का ही नहीं सम्पूर्ण मनोविज्ञान का सामान्यतम नियम समया-व्यवधानात्मक साहचर्य अर्थात् समक्षणिक अभ्यनुबन्धन माना। नियम यह है कि किसी प्रतिक्रिया के समय क्रियाशील उत्तेजना जब भी फिर क्रियाशील होती है, उसी प्रतिक्रिया का आवाहन करती है। उसका कथन है कि आवृत्ति, तीव्रता, विकिरण, अस्थायी लोप, अभ्यनुबन्धित अवरोधन, विस्मरण, आगे की ओर और पीछे की ओर अभ्यनुबन्धन आदि सीखने की सभी विशेषताएँ अव्यवधान-नियम के अन्तर्गत हैं। गुथ्री ने अभ्यनुबन्धन, अभ्यनुबन्धित अवरोधन, स्थगित अभ्यनुबन्धन आदि को भी अव्यवधान के ही रूप में सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

वाट्सन ने अभ्यनुबन्धन की धारणा पैवलव से ज्यों की त्यों ले ली थी। परन्तु सभी व्यवहारवादी अभ्यनुबन्धन के विषय में पैवलव के सब विचारों से सहमत नहीं हुए।

लैशली ने सामान्यीकरण को उत्तेजना पर इतना निर्भर नहीं माना जितना व्यक्ति की देह पर। उसने आदत की प्रबलता को सम्बन्धों के विस्तार अर्थात् सामान्यीकरण पर नहीं बल्कि व्यक्तिगत देह के उत्तेजना-बोध-द्वार पर निर्भर माना। हल ने अपना स्पष्ट मत प्रकट किया कि अभ्यनुबन्धन आवश्यकता के घटाव के बिना नहीं होता। आवश्यकता-घटाऊ क्रिया-प्रेरक उत्तेजना का किसी अन्य उत्तेजना से सम्बद्ध हो जाना ही अभ्यनुबन्धन होता है।

होल्ट ने उपर्युक्त सीखने को बाह्योत्तेजित कहा और बताया कि अंतरूत्तेजित सीखना भी होता है। अंतरूत्तेजन भूख, प्यास आदि आंतरिक आवश्यकताओं अथवा अंतर्धकेलों से होता है, और यह भी व्यक्ति को सीखने को विवश करता है। बाह्य उत्तेजनाओं को व्यक्ति अलग हटकर टाल सकता है, परन्तु आन्तरिक उत्तेजनाओं को टाला नहीं जा सकता। यह तब तक व्यक्ति को चैन नहीं लेने देतीं जब तक वह प्रयत्न, भूल एवं पुनः प्रयत्न द्वारा इन्हें शान्त करने के जटिल ढंगों को सीख नहीं लेता। इसी तथ्य के आधार पर आगे चलकर हल ने सीखने के अंतर्धकेल घटाव-केन्द्रित सिद्धान्त को विकसित किया।

सीखना स्थायित्व के लिए कुमक पर निर्भर रहा करता है, परन्तु होल्ट ने ऐसे कुमक-मुक्त चिरस्थायी व्यवहार-तंत्रों एवं वरणों को भी माना जो बाल्य-काल में दिशावरण द्वारा बन जाते हैं और प्रौढ़-जीवन तक बने रहते हैं। इस प्रकार होल्ट ने अभ्यनुबन्धनात्मक के अतिरिक्त अन्य प्रकार के सीखने को और सीखने के अतिरिक्त अन्य प्रकार की अर्जित प्रतिक्रियाओं को स्वीकार किया। गुथ्री ने सीखने को तो अभ्यनुबन्धनात्मक ही माना, परन्तु ऐसे उत्तेजना-प्रतिक्रिया-सम्बन्ध भी स्वीकार किये, जो अभ्यनुबन्धन नहीं, तंत्रिकातंत्र की अंतर्वृद्धि द्वारा, नैसर्गिक एवं दैहिक निर्धारकों, अथवा ग्रंथियों एवं पेशियों के तनावों द्वारा उत्पन्न आंतरिक उत्तेजनाओं से बने होते हैं। लैशली ने अभ्यनुबन्धन में भी चयनात्मकता की ओर ध्यान आर्कषित किया है और सीखने में संगठन, चयन आदि केन्द्रीय निर्धारकों की प्रधानता पर बल दिया है। ऐसे ही हेब ने सीखने को किसी एक न्यूरन-मंडल अथवा मंडलपुंज द्वारा अन्य मंडलों अथवा पुंजों का सरलीकरण बताया है। हल ने अभ्यनुबन्धन के लिए कुमक को आवश्यक बताया है और कुमक को आवश्यकता-घटाऊ। उसके मतानुसार जिन क्रियाओं से आवश्यकता घट जाती है वह प्रधान अथवा कुमक-प्राप्त हो जाती है। अर्थात् भविष्य में उत्तेजना पुनः उपस्थित होने पर उन क्रियाओं के होने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। स्किनर ने भी पैवलव द्वारा कुमक को उत्तेजना से स्रवित ऊर्जा पर निर्भर मानने की और इस प्रकार अप्रेक्ष्य तत्त्वों का सहारा लेने की आलोचना की है। उसने कई प्रकार की कुमक के प्रयोगाधारित वर्णन दिये हैं।

गुथ्री को सीखने के सिद्धान्त में कुमक की धारणा सर्वथा व्यर्थ प्रतीत हुई है। उसका

विचार है कि सीखना अव्यवधान द्वारा उत्तेजनाओं और गतियों में ऐसे साहचर्य स्थापित कर देना है कि लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निश्चित रूढ़ गति अथवा गति-शृंखला पक कर क्रिया रूप में उपलब्ध हो जाय। यह साहचर्य एक अवसर से ही उत्पन्न होकर सदा के लिए बना रहता है। इसलिए किसी एक उत्तेजना तथा एक प्रतिक्रिया के साहचर्यात्मक सम्बन्ध की बलवृद्धि का प्रयत्न निरर्थक है। हाँ, उसी प्रतिक्रिया को उकसाने के लिए एक साथ अनेक उत्तेजनाओं को अभ्यनुबन्धक के रूप में क्रियाशील किया जा सकता है और इनकी संख्या बढ़ायी जा सकती है। सीखने में दुहराने से यही सम्भव हो जाता है। गुथ्री का कथन है कि विस्मरण पुराने साहचर्य-चिह्नों के मिट जाने से नहीं पुराने सम्बन्धों के नवीन सम्बन्धों द्वारा अवरोधन से हो जाता है।

इस मत के अनुसार व्यक्तित्व हमारे अभ्यसित प्रतिक्रियातंत्रों का अंतिम फल है। प्रतिक्रिया-क्षेत्र में हमारी वास्तविक एवं संभावित परिसम्पत्तियों और देयताओं का सम्पूर्ण समूह है। यह चलने के लिए बन कर तैयार हो गयी एक मशीन है। इसके प्रतिक्रियातंत्र पर्याप्त मात्रा में स्थिर रहते हैं परन्तु अपरिवर्तनीय नहीं होते। इनमें धीरे-धीरे परिवर्तन हो सकता है। मनोवैज्ञानिकों का काम है कि इनके सुधार के हेतु इनका ज्ञान प्राप्त करें और मानव जाति को नयी पौद के वैज्ञानिक पालन एवं शिक्षण में अर्थात् व्यवहारवादी अभ्यनुबन्धन द्वारा सुखी मानव-समाज के सर्जन में सहायता दें।

इस प्रकार अभ्यनुबन्धक प्रक्रियाओं के उपयोग का आग्रह करते हुए भी व्यवहारवाद परिवेशवादी है। वह देह के आन्तरिक व्यापारों पर केन्द्रित नहीं है। वह शरीर के अलग-अलग आन्तरिक भागों के विशिष्ट व्यापारों के साथ प्रयोग करने से संतुष्ट नहीं। उसे तंत्रिकातंत्र में होने वाली संवेदक और प्रेरक दैहिक प्रवृत्तियों में भी रुचि नहीं। उसकी रुचि तो केवल सम्पूर्ण देह के सम्पूर्ण परिवेश के साथ स्थापित सम्बन्धों में है। वह तो व्यक्ति के दैनिक जीवन में उसकी व्यावहारिक क्रियाओं का निर्धारण करने वाली सम्पूर्ण परिस्थितियों का अध्ययन एवं नियंत्रण करना चाहता है। इसीलिए व्यवहारवाद को सम्पूर्ण दैहिक दृष्टिकोण कहा गया है। इसके अनुसार उत्तेजनाओं के बाह्य भौतिक माप्य गुणों को जान लेना, और उनसे सम्बद्ध प्रतिक्रियाओं के स्वरूपों, उनकी मात्राओं, उनकी गतियों, उनकी अवधियों आदि बाह्य द्रष्टव्य गुणों को जान लेना, माप लेना अथवा गिन लेना, मानव-व्यवहार को समझने, पूर्वानुमानित करने और नियंत्रित करने के लिए पर्याप्त है।

वाइस जैसे किसी-किसी व्यवहारवादी ने कहा है कि मनोविज्ञान का विषय तंत्रिकातंत्र में होने वाले भौतिक व्यापार हैं। परन्तु फिर भी उसे इन व्यापारों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक अंगों पर अर्थात् देह तथा परिवेश की अंत:क्रिया पर केन्द्रित मानकर इसे देहविज्ञान

से भिन्न बताया है। मनोविज्ञान को जीव-विज्ञान की शाखा कहकर, जीव-विज्ञान को भौतिकी की शाखा कह दिया है। उनका कथन है कि देह कदाचित् नवजात शिशु में जैव ही होती हो, परन्तु शीघ्र ही सामाजिक शक्तियों के प्रभाव में आकर जैव-सामाजिक हो जाती है। अतः उनके मतानुसार मनोविज्ञान का मुख्य विषय बदलती हुई नवीन सामाजिक परिस्थितियों में होने वाली प्रतिक्रियाएँ हैं और मुख्य काम है प्रेक्षण तथा प्रयोग द्वारा विकास तथा सीखने का अध्ययन करना। लैशली ने तो देह-विज्ञान में भी सम्पूर्णदर्शी दृष्टिकोण की फलदायकता सिद्ध की है। उसने चूहों, बिल्लियों और बन्दरों पर प्रयोग करके देखा कि मस्तिष्क के बड़े-बड़े भाग काट डालने से भी इस शल्यक्रिया के पूर्व सीखी हुई प्रतिक्रियाएँ बाद में भी पूर्ववत् होती रहती हैं। इसका कोई प्रमाण नहीं मिला कि प्रान्तस्थाधर केन्द्र कटे हुए मस्तिष्क-भागों का काम करने लगते हैं। अतः उसने यह निष्कर्ष निकाला कि मस्तिष्क सम्पूर्ण रूप से ही कार्य करता है और उसके किसी भाग के क्षत हो जाने से शेष मस्तिष्क उस भाग का काम अपने ऊपर ले लेता है। इसके आधार पर लैशली ने दो नियमों की पूर्व व्याख्या की है। एक को सामूहिक क्रिया-नियम और दूसरे को सम सामर्थ्य-नियम कहा है। प्रथम नियम यह है कि किसी भी प्रतिक्रिया की मात्रा गति आदि इस बात पर निर्भर होती है कि तंत्रिकातंत्र में कुल परिमाण में कितना ऊतक क्षति-रहित है, क्षतिप्राप्त चाहे उसका कोई भी भाग हो। दूसरा नियम यह है कि तंत्रिकातंत्र के किसी भाग की क्षति अथवा अनुपस्थिति की अवस्था में उसके अन्य भाग इस भाग के समान ही उसके विशिष्ट कार्य को करने में समर्थ हो जाते हैं। हेब लैशली की इन धारणाओं से असहमत है, वह कोशिकाओं और कोशिकासमहों के कार्य की स्थानीयता में विश्वास करता है और न्यूरनों के बीच अंतर्ग्रंथनस्थित सम्बन्धों के स्थान पर संगठित इकाइयों को क्रिया-संक्रमण में बद्ध मानता है। उसने संगठित इकाइयाँ दो प्रकार की मानी हैं—मंडल और पुंज। एक साथ इकाई के रूप में कार्य करने वाले संवेदक तथा प्रेरक न्यूरनों के समूहों को मंडल कहा है। इनकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष प्रक्रियाओं से होती है और इनमें विक्रमण अथवा भरती द्वारा परिवर्तन भी हो जाते हैं। यह मंडल धीरे-धीरे साहचर्य के अनुभव से शिक्षा प्राप्त करके परस्पर सम्बन्धित हो जाते हैं और जब इनके आधार पर अनुभूत प्रत्यक्षांशों से कोई स्पष्ट सम्पूर्ण बन जाता है, तब उसे अतिपदीय तंत्र कह सकते हैं। मंडलों के समय-संक्रमण से पुंज बन जाते हैं। केन्द्रीय सरलीकरण द्वारा ऐसे नवीन पुंजों के निर्माण की वृत्ति को ही अवधान कहा जाता है और एक मंडल अथवा पुंज द्वारा अन्य मंडलों अथवा पुंजों के सरलीकरण को सीखना।

परन्तु आगे चलकर गुथ्री ने तथा स्किनर ने मनोविज्ञान को इस प्रकार के कल्पित एवं अदृश्य तंत्रिकीय आधारों पर निर्मित करने के प्रयत्नों का सबल विरोध किया है।

हल ने भी इस बात पर खेद प्रकट किया है कि अभी व्यवहार-सिद्धान्त के संतोषजनक आधार बनने के लिए न्यरनीय रचना तथा देह-व्यापार का पर्याप्त ज्ञान उपलब्ध नहीं है। उसने मनोविज्ञान को सम्पूर्ण दैहिक व्यवहार-शास्त्र मानते हुए उसे सम्पूर्ण दैहिक एवं प्रत्यांगिक तथ्यों के पर्याप्त ज्ञान पर आधारित करने का आग्रह किया है, परन्तु वर्तमान ज्ञानाल्पता को देखते हुए अभी सम्पूर्ण तथ्यों पर ही संतोष कर लेने का पक्ष लिया है।

व्यवहारवादी सम्प्रदाय के कार्यक्रम में एक वैज्ञानिक आकर्षण है। अप्रेक्ष्य चेतना-तथ्यों से मुक्ति, मानव-व्यवहार का पूर्ण पूर्वानुमान एवं नियंत्रण तथा समाज के मनचाहे भविष्य का निर्माण मनोवैज्ञानिकों के लिए मनमोहक लक्ष्य सिद्ध हुए हैं। परन्तु व्यवहार-वाद यदि संगत रहे तो आत्मघातक सिद्ध होता है। यदि भाव, प्रेक्षण, विचार, ज्ञान, तर्क, चिंतन जैसे कोई मानसिक तथ्य ही नहीं हैं, तो प्रेक्षण, मत, सिद्धान्त आदि की धारणाएँ भी भ्रमपूर्ण हैं और सिद्धान्तों में व्यवहारवादी सिद्धान्त भी निरर्थक हो जाता है। वस्तु-वादियों की भाँति चेतना को वास्तव में जगत् मान लेना, प्रत्यक्ष सामग्री तथा प्रत्यक्ष क्रिया में भेद न करके उन्हें एक ही मानकर, द्रष्टा तथा दृश्य के बीच भ्रम में पड़ जाना है।

व्यवहारवादी अंतःप्रेक्षण का विरोध करते हैं। परन्तु जिसे वे शाब्दिक कथन कहते हैं, वह वास्तव में दूसरे नाम से अंतःप्रेक्षण ही तो है। फिर, व्यवहारवादी केवल प्रेक्ष्य तथ्य ही स्वीकार करने का आग्रह करते हैं। परन्तु जिसे वे अस्फुट व्यवहार कहते हैं वह भी तो प्रेक्ष्य नहीं होता। हेब ने तो अप्रमाणित तंत्रिकीय परिकल्पनाओं की झड़ी लगा दी है और उन्हें सरल एवं स्वतः सिद्ध कह दिया है। चेतना, उत्प्रेरण आदि को तंत्रिकीय अवस्थाएँ कह देने से ही इस कथन की सत्यता सिद्ध नहीं हो सकती। गुथ्री ने सीखने में उत्प्रेरणों को कोई स्थान नहीं दिया, परन्तु प्रयोगों द्वारा सीखने में पुरस्कारों का महत्त्व स्पष्ट रूप से सिद्ध हुआ है। वह सीखना कैसे अर्थात् किस प्रक्रिया द्वारा होता है, यह वर्णन करने में, इसका कोई उत्तर नहीं देता कि यह प्रक्रिया क्यों अर्थात् किस कारण होती है। हल का मनोविज्ञान को गणितात्मक बनाने का उत्साह तथा प्रयत्न सराहनीय है, परन्तु इस उत्साह में उसने मनमाने अप्राांमाणिक परिगणन कर डाले हैं और बलपूर्वक निरर्थक गणित लगाया है। उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त-वाक्यों की सामान्यता संदिग्ध है।

३

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय (२)

व्यक्तिवाद

मनोविज्ञान में व्यक्तिवादी सम्प्रदाय के तीन मुख्य प्रवर्तक हुए हैं—राइवर्ड, श्प्रांगर, विलियम श्टर्न तथा गोर्डन औलबोर्ट ।

श्प्रांगर को संवेदनात्मक तत्त्वों और उनके दैहिक आधारों पर केन्द्रित अणुवादी, विश्लेषणात्मक तथा व्याख्यात्मक मनोविज्ञान असंतोषजनक प्रतीत हुआ । अणुओं का अध्ययन जीवन की अर्थपूर्ण समक्षियों का नाशक लगा । उसे प्रयोगशालाओं में विकसित प्रायोगिक मनोविज्ञान भी अर्थहीन सूक्ष्म ब्यौरों में उलझा हुआ और अनुभवगत प्रदत्तों के परे अनावश्यक देह वैज्ञानिक व्याख्या में लगा हुआ प्रतीत हुआ । प्रयोगकों द्वारा मानसिक क्रियाओं के अंशों का अलग-अलग करके अध्ययन व्यर्थ जँचा । उसे व्याख्यात्मक विधि भी प्रेक्षणीय कार्यकारण-सम्बन्धों का अध्ययन करने वाले प्राकृतिक विज्ञानों के लिए ही उपयुक्त लगी, अंतरानुभवगत मानस-जीवन के विज्ञान के लिए नहीं । उसे मनोविज्ञान में तथ्यात्मक अध्ययन की संभावना में भी संदेह हुआ । उसका कथन था कि मनोविज्ञान मनोवैज्ञानिकों के व्यक्तिगत दार्शनिक दृष्टिकोणों तथा उनके विश्वासों पर पड़ने वाले सांस्कृतिक प्रभावों पर निर्भर हुआ करता है ।

इसलिए श्प्रांगर ने मनोविज्ञान को विवरणात्मक, समझपूर्ण तथा सम्पूर्ण विषयक बनाने का आग्रह किया । मानव-मन तथा उसकी सम्पूर्ण रचना को मनोविज्ञान का सर्वोपयुक्त विषय माना । मन की विशेषता मानसिक क्रियाओं में है और यह मानसिक क्रियाएँ सम्पूर्ण तथा लक्ष्योन्मुख हुआ करती हैं । इनके द्वारा सम्पूर्ण व्यक्ति सम्पूर्ण परिस्थितियों से सम्बन्ध स्थापित किया करता है । यह सम्पूर्ण परिस्थितियाँ समाज में प्रचलित कला, धर्म, विज्ञान आदि की सांस्कृतिक मूल भावनाएँ हैं । मानव-मन अपनी प्रत्येक क्रिया में इन्हीं में से किसी एक मूल भावना का वरण करके उसे अपना लक्ष्य बनाया करता है । इसलिए मानव-मन का अध्ययन प्रयोगशाला द्वारा नहीं, इतिहास द्वारा होना चाहिए । मनोवैज्ञानिक का काम यह बताना है कि मनुष्य क्या अनुभव करता है, कैसे अनुभव करता है, और इसके पूर्व उसके क्या अनुभव होते हैं । इसलिए मनोविज्ञान के लिए उपयुक्त

विधि समझने की अर्थात् अर्थ-ग्रहण की विधि है। समझना तथ्यात्मक दृष्टि से प्रामाण्य-बोध में प्रत्यक्ष ज्ञात मानसिक सम्बन्धों को अर्थपूर्ण ढंग से ग्रहण कर लेने को कहते हैं। समझना केवल अर्थपूर्ण रचनाओं का होता है। अर्थ जटिल होता है और किसी सम्पूर्ण मूल्य का द्योतक होता है। प्रत्येक सम्पूर्ण क्रिया अर्थपूर्ण होती है और अपने लक्ष्य के अनुसार किसी मूल्य की परिचायक होती है। समझ-केन्द्रित मनोविज्ञान मानसिक जीवन के अनुभवों में निहित मूल तत्त्वों, उपाधियों, व्यवस्थाओं एवं सम्बन्धों का पुनरनुभव करेगा और उनके व्यक्तित्व के लक्ष्यों तथा मूल्यों से सम्बन्ध पहचानेगा।

श्प्रांगर ने मानवों में संस्कृति के छः क्षेत्रों से सम्बन्धित छः लक्ष्योन्मुख व्यक्तित्व प्रकार माने हैं। यह छः आदर्श प्रकार हैं। कोई मनुष्य किसी एक ही मूल्य अथवा लक्ष्य में पूर्णतया अनुरक्त नहीं होता। अतः वह शुद्ध रूप से एक मूल प्रकार का तो नहीं, लेकिन मुख्यतया एक प्रकार के आदर्श अथवा मूल्य का अनुसरण करने वाला कहा जा सकता है। छः मूल्य-प्रकार अर्थात् संस्कृति-क्षेत्र वैज्ञानिक सिद्धान्त, सौन्दर्यबोध, आर्थिक जीवन, धर्म, सामाजिकता एवं सत्तामुखी राजनीति हैं। सैद्धान्तिक व्यक्तित्व-प्रकार बुद्धि-जीवी होता है और जीवन में प्रस्तुत समस्याओं को उत्सुकता, तर्क एवं तंत्रात्मक दृष्टि-से देखता है। वह चाहे अनुभवप्रिय वैज्ञानिक हो या चिंतनप्रिय दार्शनिक, वह सदा सत्य की खोज में रहता है और विश्व को एक तंत्रबद्ध, तर्क-संगत व्यवस्थाबद्ध, वास्तविकता के रूप में देखना चाहता है। आर्थिक प्रकार का व्यक्ति मुख्यतः जीवन के व्यावहारिक लाभों को देखता है। आत्मरक्षा एवं आर्थिक सुरक्षा उसके लक्ष्य होते हैं। भौतिक लाभ एवं सफलता उसके लिए पूज्य हैं। वह विज्ञान, शिक्षा आदि को आर्थिक प्राप्ति तथा व्यावहारिक समायोजन के साधनमात्र समझता है। सौन्दर्योन्मुखी प्रकार का व्यक्ति व्यक्तिगत प्रवृत्तियों को महत्त्व देता है और विश्व में सौन्दर्य तथा संस्वरता से प्रभावित रहता है। उसे पदार्थों की विषमता, आकर्षकता तथा शोभा में रुचि होती है। सामाजिक प्रकार का व्यक्ति मैत्रीपूर्ण, मिलनसार, उदार, एवं दयावान् होता है। उसे मनुष्य-जाति से प्रेम होता है। वह भद्र, दयालु तथा निस्स्वार्थ होता है। उसे दूसरों की सहायता करने की इच्छा रहती है। वह सहानुभूति तथा नैतिकता का बहुत मूल्य समझता है। सत्तामुखी राजनीतिक व्यक्ति लोगों का नियंत्रण करना, उनसे आगे निकलना, उन पर आधिपत्य जमाना, उनको प्रभावित करना तथा उन पर राज्य करना चाहता है। वह जगत् में सत्ता प्राप्त करके रुकावटों को दूर करने तथा शासन करने की चेष्टा करता रहता है। धार्मिक प्रकार के व्यक्ति का झुकाव रहस्यवाद की ओर होता है। वह मनुष्य और विश्व में चिर तादात्म्य खोजता है। वह जीवन को ध्यान में लगाता है और आंतरिक सत्य एवं संध्वनि को महत्त्व देता है।

श्प्रांगर ने बहुत से मनोवैज्ञानिकों को सैद्धान्तिक पुनर्विचार की प्रेरणा दी है। परन्तु उसके सिद्धान्तों को किसी वैज्ञानिक अथवा तथ्यात्मक परीक्षा द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता। अतः उसकी मूल्य की धारणा तथा उसके व्यक्तित्वों के वर्गीकरण पर मनमानेपन का आक्षेप किया जा सकता है।

विलियम श्टर्न ने मनोविज्ञान में शरीर और आत्मा, स्वभाव और संस्कृति, साहचर्यवाद और सम्पूर्णवाद, विवरणवाद और समझवाद तथा तथ्यवाद और नियमवाद के बीच विरोधों को मिटा कर सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उसने आग्रह किया है कि मनोविज्ञान और सभी विज्ञान समान पदार्थों अर्थात् वर्गों के सामान्य अपरिवर्त्य नियम खोजते हैं, परन्तु व्यक्तिगत तथ्य ही प्रत्येक विज्ञान के आधार हैं। मनोविज्ञान को पहले विवरणात्मक बनकर प्रदत्तों को प्राप्त करना और उनका दूसरों द्वारा समझने योग्य स्पष्ट वाक्यों में वर्णन करना पड़ेगा। यह वर्णन एक-एक तथ्य का अलग-अलग तथ्यात्मक वर्णन भी हो सकता है और तथ्य-समूहों के बीज-तत्त्व का प्रतीत्यात्मक वर्णन भी हो सकता है। विवरण के उपरान्त अनुभव से प्राप्त प्रदत्तों का वर्गीकरण होना चाहिए। श्टर्न ने परम्परागत बोध-भाव क्रियात्मक वर्गीकरण को अति संकीर्ण कहकर उसके स्थान पर मनोवैज्ञानिक प्रदत्तों को प्रत्यक्ष, स्मृति, विचार, कल्पना, क्रियाशीलता तथा भाव, छः वर्गों में विभाजित किया है। इस वर्गीकरण के आधार पर उसने मनोविज्ञान के समस्त क्षेत्र के पाँच भाग किये हैं—

(१) ऐन्द्रीय प्रत्यक्ष,
(२) स्मृति तथा सीखना,
(३) विचार, बुद्धि तथा कल्पना।
(४) अंतर्धकेल (प्रेरणा), मूल प्रवृत्ति तथा संकल्प और
(५) भावात्मक जीवन,

परन्तु श्टर्न ने सरलतम आणविक मानसिक तत्त्वों की धारणा को असत्य बताया है। मानसिक तथ्य तत्त्वसमूह मात्र नहीं हैं। मानसिक क्रियाओं के अनुभव में न सरल तत्त्व मिलते हैं, न शुद्ध यांत्रिक रचनाएँ मिलती हैं। अतः नवीन व्यक्तिवादी मनोविज्ञान की आधारभूत धारणा सम्पूर्णत्व अथवा गेश्टाल्टत्व की धारणा होगी। प्रत्येक मानसिक तथ्य या तो स्वयं सम्पूर्ण है या किसी सम्पूर्ण के अन्तर्गत है। सम्पूर्णों के अंदर अंशों एवं अंगों की आन्तरिक विषमता तो होती है, परन्तु उनका स्वयं अपना ही स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हो सकता। यह सम्पूर्ण के अधीन और उसी से अर्थप्राप्त होते हैं। इसके विपरीत गेश्टाल्ट अथवा सम्पूर्ण विशिष्ट ऐन्द्रीय उत्तेजनाओं पर निर्भर नहीं। उसका स्वतंत्र प्रत्यक्ष होता है। फिर भी श्टर्न ने गेश्टाल्ट को मूल तथ्य के रूप में स्वीकार नहीं किया है। उसका अनुरोध है कि

वैज्ञानिक मनोविज्ञान को अंश और सम्पूर्ण में, उभार और पृष्ठभूमि में, तथा विश्लेषण और सम्पूर्ण दर्शन में, वह सम्बन्ध बनाये रखना आवश्यक है। इनमें केवल मात्रा-भेद ही होते हैं। गेश्टाल्ट सब से अधिक उभरा हुआ प्रत्यक्ष तथ्य होता है। पृष्ठभूमि प्रत्यक्ष का सब से कम स्पष्ट, सबसे कम महत्त्वपूर्ण, और सबसे अधिक मात्रा में विलीन भाग होता है। इसके अतिरिक्त गेश्टाल्ट को मनुष्य ही बनाता और प्रत्यक्ष करता है। "बिना गेश्टाल्टी के गेश्टाल्ट नहीं होता।"

श्टर्न का मत है कि मनोविज्ञान को व्याख्या और समझ दोनों विधियों का उपयोग करना चाहिए। व्याख्या का अर्थ मूर्त प्रदत्तों को अमूर्त नियमों के अधीन करना है। व्याख्या तीन प्रकार की होती है—"क्यों" बतानेवाली कारण-व्याख्या, "किसलिए" बतानेवाली लक्ष्य-व्याख्या, और "कैसे" बतानेवाली उत्पत्ति-व्याख्या। समझ समष्टचात्मक अर्थपूर्ण मूल्य रचनाओं का ज्ञान है। व्यवहारवाद, मनोविश्लेषणवाद, एवं प्रयोगवाद मनोविज्ञान के, भ्रम में फँसे, एकांगी सम्प्रदाय हैं। व्यवहारवादी अंतःप्रेक्षण प्राप्त प्रदत्तों की ओर आँख मूँद लेता है, मनोविश्लेषणवादी चेतन तथ्यों की ओर। प्रयोगवादी किसी तथ्य को प्रयोग के लिए शुद्ध रूप में, परिस्थितियों को स्थिर करके, उनसे अलग स्वतंत्र रूप में देखने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार उसे व्यक्ति के अध्ययन से अलग करके कृत्रिम स्वरूप दे देता है।

श्टर्न ने मनस्तत्व तथा मानसिक तथ्यों में भेद किया है। मनस्तत्व व्यक्ति के अंदर मानसिक और दैहिक भेद के परे हैं। मनस्तत्त्व किसी व्यक्ति में होता है, निर्जीव पदार्थ में नहीं। निर्जीव पदार्थ अलग-अलग वस्तुओं से मिलकर बनता है। व्यक्ति में एकता होती है। वह विचित्र, लक्ष्योन्मुख, स्वयं पूर्ण, जीवित सम्पूर्ण होता है, फिर भी चारों ओर के विश्व की ओर से अनुभवों को ग्रहण करने में समर्थ होता है। मनोविज्ञान ऐसे ही अनुभव-शील लक्ष्योन्मुख व्यक्तियों का विज्ञान है, जो अपनी दैहिकता के कारण संसार के अन्य भागों से पदार्थों एवं कार्यों का लेन-देन करते रहते हैं और अपनी मानसिकता के कारण अंदर ही अंदर अपने और विश्व के विषय में चिंतन भी करते रहते हैं।

श्टर्न ने व्यक्तियों में तीन जीवन-स्तर पाये हैं। प्रथम स्तर जैव स्तर है। इस स्तर पर विकास, प्रौढ़ता-प्राप्ति और प्रजनन मुख्य क्रियाएँ होती हैं। द्वितीय स्तर अनुभव-स्तर है। यह स्तर उभरा हुआ या सम्पूर्ण में विलीन अवस्था में रहता है। व्यक्तियों में प्रायः उभार और विलय की अवस्थाएँ एक दूसरे के बाद आती रहती हैं। वैसे प्रत्येक अनुभव में कुछ अंश उभरा हुआ और कुछ अंश विलीन अवस्था में होता है। व्यक्ति के बोधात्मक एवं क्रियात्मक प्रकार्य उभार की ओर झुकते हैं और भाव निराकृति होने के कारण विलय की ओर। अनुभव का कोई विषय अवश्य होता है। व्यक्ति के अनुभव का

विषय या तो वह व्यक्ति स्वयं होता है या संसार होता है। स्वयं व्यक्ति और संसार में सदा अंतर रहता है। अनुभूत सामग्री को मानसिक तथ्य या प्रतीति कहते हैं। व्यक्ति अनुभव प्राप्त करके उनके द्वारा कार्य करता है। अनुभव होना एक मानसिक अवस्था होती है। कार्य विचार की सामग्री तथा प्रक्रियाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं। कुछ अनुभव अल्पकालीन होते हैं। कुछ देर तक संभावनाओं के रूप में रहते हैं। इन्हें वृत्तियाँ कहा जाता है। यह भावी अनुभवों की योग्यताएँ हैं। चरित्र, गुण, स्वभाव तथा स्मरणशक्तियाँ इनके मुख्य उदाहरण हैं। तृतीय स्तर मूल्य-स्तर है—सांस्कृतिक, सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक मल्यों का स्तर। यह स्तर मानव-व्यक्तियों की विशेषता है। इस स्तर पर व्यक्ति प्रायः अपने सामाजिक वातावरण में प्रचलित व्यवहार नैतिक नियमों तथा सांस्कृतिक पुरुषार्थों को अपना लेता है। इसे श्टर्न ने अंतःस्थापन कहा है।

श्टर्न ने सीखने को पुनरावृत्त उपस्थानों द्वारा ज्ञानप्राप्ति बताया है और उसके दो भेद किये हैं—ऐच्छिक सीखना और अनैच्छिक सीखना। अनैच्छिक सीखना बाह्य उत्तेजना की निरंतर संयोगिक पुनरावृत्ति के कारण या व्यक्ति की ग्रहणशीलता के कारण होता है। ऐच्छिक सीखना व्यक्ति के लक्ष्य, उसकी रुचियों, और उसकी बुद्धि पर निर्भर होता है। चिंतन की विशेषता, जो नही है, उसका मन्तव्य करना है।

श्टर्न ने चेष्टा एवं क्रिया के कई स्तरों में भेद किया है। निम्नतम स्तर प्रतिवर्तों अर्थात् आनुवंशिक अपरिवर्तनीय प्रतिक्रियाओं का है। श्टर्न अर्जित अथवा अभ्यनुबन्धित प्रतिवर्तों को भी स्वीकार करता है, परन्तु उन्हें जन्तुओं तथा मनुष्यों के सीखने के एकमात्र नमूने या मानव स्वभाव के सम्पूर्ण विज्ञान के एकमात्र आधार के रूप में मानना विरोधाभासात्मक समझता है। प्रतिवर्तों के ऊपर अंतर्धकेलों का स्तर है। श्टर्न ने अंतर्धकेल को किसी व्यक्तिगत लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य करने की नैसर्गिक प्रवृत्ति बताया है और अंतर्धकेलों का चार प्रकारों में वर्गीकरण किया है—

(१) आत्मसुरक्षा, जिसके अन्तर्गत रक्षा, पलायन और पोषण हैं।

(२) आत्मविकास, जैसे श्रेष्ठता-प्राप्ति, आक्रामकता और अपनी सजावट।

(३) सामाजिक अंतर्धकेलें, जिनके अन्तर्गत जातीयता, यूथ-व्यवहार, दूसरों की रक्षा करना, पहल करना और युद्ध करना है।

(४) केवल मनुष्यों में पायी जाने वाली मानव-अंतर्धकेलें, जैसे बौद्धिक, आदर्शात्मक एवं सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति की लालसा। मूल प्रवृत्तियाँ वह अंतर्धकेलें होती हैं, जो केवल अंतिम लक्ष्यों की ओर नहीं, उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के साधनों की ओर भी संकेत करती हैं। अंतर्धकेलों से ऊपर आवश्यकताओं का स्तर है। आवश्यकता तनाव की अवस्था होती है, जो किसी प्रवृत्ति के बाह्य अथवा आंतरिक अवरोध से उत्पन्न होती है। चेष्टा

का सर्वोच्च स्तर संकल्प का स्तर है। संकल्प लक्ष्य और साधनों का चेतन प्रत्याशात्मक पूर्वचिंतन है।

श्टर्न ने व्यक्तित्व को अनेकतापूर्ण इकाई कहा है, देह और मन, आनुवंशिकता और परिवेश, उभार और विलय, अंश और पूर्ण का संधिस्थान। उसकी क्रियाओं के स्थिर लक्ष्योन्मुख अंशों को व्यक्तित्व-गुण कहा जाता है। पर श्टर्न ने व्यक्तित्व-गुणों की स्थिरता को अस्थिर माना है। उसका कथन है कि व्यक्ति के किसी गुण का विकास कभी समाप्त हुआ नहीं कहा जा सकता। व्यक्तित्व-गुण जगत् की ओर प्रतिक्रिया के ढंग हैं। जगत् की उत्तेजनाएँ बदलती रहती हैं। अतः किसी व्यक्तित्वगुण की अभिव्यक्ति सदा एक सी नहीं रहती और उसमें चिरस्थायी परिवर्तन भी हो सकते हैं। श्टर्न ने व्यक्तित्वगुणों के दो प्रकारों में भेद भी किया है। एक ओर उत्प्रेरक गुण हैं जो उद्देश्यात्मक होते हैं और व्यक्ति को लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। दूसरी ओर उपकरणात्मक गुण होते हैं, जो योग्यतानुरूप होते हैं और व्यक्ति द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपयोगी होते हैं।

गार्डन आलपोर्ट ने व्यक्तियों की विलक्षणता को महत्त्व दिया है। उसका आग्रह है कि किसी संस्कृति में व्यक्तियों की समान व्यवहार-शैलियों अर्थात् समायोजन-पद्धतियों के विकास होते हुए भी कोई दो व्यक्ति एक-सा व्यवहार नहीं करते। अर्थात् नियमात्मक होते हुए भी मानव-व्यक्तियों का व्यवहार तथ्यात्मक होता है। व्यवहार ऊर्जा का सतत प्रवाह है। प्रत्येक क्रिया उपलब्ध तात्कालिक ऊर्जा की अभिसारी लामबन्दी है। क्रिया के लिए ऊर्जा उपलब्ध करने में अंतर्धकेलें सुघट्य परिवर्तनीय तंत्रिकातंत्र से काम लेती हैं। अंतर्धकेल अर्थात् प्रेरणा किसी आंशिक दैहिक तनाव को घटाने वाली जीव-प्रवृत्ति है। इसकी उत्पत्ति किसी विशिष्ट एवं दृढ़ अंतर्दैहिक उत्तेजना से होती है और यह तब तक प्रवल होती चली जाती है जब तक जीव बढ़ते हुए तनाव को घटाने के लिए उपयुक्त क्रिया नहीं करता।

आलपोर्ट ने सीखने को आनुवंशिकता पर नहीं, अनुभव पर आधारित माना है। व्यक्तियों के परस्पर समान व्यवहार ढंगों की उत्पत्ति रुचियों अर्थात् स्थायीभाव नामक उद्वेग, बान तथा पूर्वदृष्टि के अर्जित गुच्छों से होती है। सीखने की प्रक्रिया से उद्देश्यों का वर्धन एवं संशोधन ही नहीं उनका सर्जन भी होता है। किसी मूल प्रेरणा की पूर्ति के अंतर्गत किये जाने वाले कार्यों की प्रवृत्ति प्रकार्यात्मक स्वायत्तता को प्राप्त हो जाया करती है, अर्थात् मूल प्रेरणा के बंधन से स्वतन्त्र होकर स्वयं स्वतन्त्र स्थायी प्रेरणा का रूप ले लेती है। इसे प्रकार्यात्मक स्वायत्तता-प्राप्ति का नियम कहा जाता है। आलपोर्ट का कथन है कि मूल दैहिक प्रेरणाएँ प्रायः बच्चों के व्यवहार का कारण होती हैं। वयस्क

व्यक्तियों के व्यवहार प्रकार्यात्मक स्वायत्तता-प्राप्ति नियम के अनुसार विकसित हुए, भाषावद्ध, काल्पनिक, बौद्धिक अथवा सांस्कृतिक लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की प्राप्ति की प्रवृत्तियों के अधीन होते हैं। आलपोर्ट के मतानुसार मानव उत्प्रेरणा की व्याख्या करने में प्रकार्यात्मक स्वायत्तता-प्राप्ति नियम तथा समकालीनता नियम के अतिरित किसी उत्पत्ति सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है। उसने प्रेरणाओं को मुख्यतः उत्तेजन की अधिकता अथवा न्यूनता की अभ्यन्तरांगजनित अवस्थाएँ कहा है और उनमें दैहिक गुहाओं, रुधिर-वाहिकाओं और आत्म-अंगों में उत्पन्न होनेवाले दबावों के अतिरिक्त आत्मोत्तेजना ग्राहकों के संक्षोभ और संवेदना-ग्रहणशीलता को भी गिना है।

उपर्युक्त समकालीनता नियम व्यक्तित्व-गुणों द्वारा उत्प्रेरण के विषय में है। आलपोर्ट ने अनेकतापूर्ण पूर्ण इकाई व्यक्तित्व के मूल निर्धारकों की अर्जित लक्ष्योन्मुखता पर बल दिया है और उन्हें स्वभावगुण बताया है। स्वभावगुण जटिल तंत्रिकीय वृत्तियों पर आधारित समायोजन-शैलियाँ हैं। प्रत्यक्षों और प्रतिक्रियाओं का चयन इन्हीं से निर्धारित होता है। किसी समय का व्यवहार उस समय पर क्रियाशील निर्धारकों का परिणाम होता है। पूर्वकाल का उससे ऐतिहासिक सम्बन्ध तो होता है, परन्तु प्रकार्यात्मक महत्त्व कुछ नहीं होता। प्रेरणाएँ समकालीन ही होती हैं। एक प्रकार का व्यक्तित्व-गुण मनोभाव है। यह मूल्यवान् अर्थात् आकर्षक अथवा विकर्षक विषयों से सम्बन्धित होता है।

रचना की दृष्टि से आलपोर्ट ने व्यक्तित्व को भौतिक एवं सामाजिक परिवेश के प्रति व्यक्ति के विलक्षण समायोजनों के निर्धारित करनेवाले मनोभौतिक तंत्रों का गत्यात्मक संगठन बताया है। यह मनोभौतिक तंत्र बानें, मनोभाव, प्रवृत्तियाँ आदि हैं। व्यक्तित्व का औद्वेगिक आनुवंशिक अंश व्यक्ति की प्रकृति है। इसके अंतर्गत औद्वेगिक उत्तेजनाओं की ग्रहणशीलता, प्रतिक्रिया की स्वाभाविक गति एवं प्रबलता और भाव वृत्तियों का स्वरूप, घटबढ़ और तीव्रता-परिवर्तन भी है। व्यक्तित्व का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंग उसकी अहम-रचना, अर्थात् उसका आत्मसम्मान स्थायीभाव है। यही व्यक्ति को सदा कार्यशील रखता है। व्यक्तित्व के सब अंशों अर्थात् उत्प्रेरणों, मनोभावों तथा गुणों को समन्वित रखना उसकी संग्रह-वृत्ति की प्रेरणा से होता है। आलपोर्ट ने यह अनुरोध भी किया है कि व्यक्तित्व के विषय में तथ्यवादी दृष्टिकोण और व्यक्तित्व-मापन में कोई असंगति नहीं है। उसने श्प्रांगर के व्यक्तित्व-प्रकार-सिद्धान्त के आधार पर एक व्यक्तित्व-मापन विधि का निर्माण करके उसको मूल्याध्ययन कहा है।

आलपोर्ट के मूल्याध्ययन का विस्तृत उपयोग हुआ है। उसका प्रकार्यात्मक स्वायत्तता-प्राप्ति-सिद्धान्त अपनाया भी गया है और आलोचित भी हुआ है। इसकी आलोचना

विशेषतया इस बात पर हुई है कि इसमें बाल्यकाल और प्रौढ़ काल के तथा सामान्य व्यवहार और असामान्य व्यवहार के बीच विकास के खंडित होने की धारणा प्रतीत होती है। तथ्यवाद तथा नियमवाद की समस्या की ओर आलपोर्ट ने बहुत ध्यान दिया है। परन्तु समस्या अवास्तविक प्रतीत होती है।

सम्पूर्णवाद

मनोविज्ञान में सम्पूर्णवाद के मुख्य प्रतिपादक वर्दाइमर, कोहलर तथा कौफ़का हैं।

इस सम्प्रदाय का सिद्धान्त है कि अनुभूत विषयों, उनके गुणों और उनके परिवर्तनों का अस्तित्व स्वतन्त्र नहीं, वरन् अनुभवकर्ता जीव के अंदर होनेवाली जटिल प्रक्रियाओं का फल है। यह प्रक्रियाएँ उत्तेजना तत्त्वों अर्थात् संवेदनात्मक तत्त्वों की जटिल इकाइयों के रूप में संगठन की प्रक्रियाएँ हैं। अनुभव इस प्रकार संगठित सम्पूर्णों का ही होता है।

अतः यह सम्प्रदाय साहचर्यवाद की इन धारणाओं का विरोधी है कि प्रत्यक्षानुभव में बाह्य विषय की मानसिक प्रतिमाएँ प्राप्त हुआ करती हैं, और चिंतन इन मानसिक प्रतिमाओं का यांत्रिक संयोजन ही है। सम्पूर्णवादी मनोविज्ञान में मापनों को तथा परीक्षणों को भी संदेह की दृष्टि से देखते हैं। उनका कथन है कि इनमें यथार्थ मापन नहीं होता, केवल गणना होती है, और प्रायः यह निश्चित रूप से पता नहीं होता कि गणना किस मनोवैज्ञानिक विषय की हो रही है। जैसे, बुद्धिलब्ध्यात्मक अंक केवल बुद्धि पर नहीं, बुद्धि, यथार्थता, आकांक्षा, थकान आदि कई निर्धारकों पर निर्भर हो सकते हैं। प्रत्यक्ष के क्षेत्र में भी उन्हीं तत्त्वों की उतनी ही संख्या से विभिन्न सम्पूर्ण आकृतियों के अनुभव हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, उतने ही विन्दुओं से वृत्त, वर्ग, त्रिकोण आदि कुछ भी बन सकता है।

सम्पूर्णवाद मन में ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व में सम्पूर्णात्मकता ही देखता है। जड़-प्रकृति में विद्युत प्रक्रियाएँ चालक पदार्थ के सम्पूर्ण तल पर विद्युत्-शक्ति का समानता से विस्तार करती हैं। पानी में गिरी हुई तेल की बूंद साम्यात्मक सममित सम्पूर्ण आकृति की हो जाती है। अर्थात् सभी भौतिक अवस्थाओं का झुकाव साम्य, स्थिरता, अक्षुण्णता, सरलता आदि सुसम्पूर्णों के लक्षणों की ओर ही होता है। ऐसे ही, तंत्रिका-तंत्र में, उत्तेजनों के गत्यात्मक वितरण तथा संगठन से, प्रकार्यात्मक सम्पूर्ण साम्य-नियम के अनुसार कार्यशील रहते हैं। जब कभी साम्य खंडित हो जाता है, तब तनाव उत्पन्न हो जाता है, जो साम्य के पुनःस्थापन पर ही किसी प्रकार शान्त होता है। प्रमस्तिष्क में उत्तेजना की तीव्रता के अनुसार एक रासायनिक पदार्थ उत्पन्न होता है। आकृति के स्थान पर आयनों की उच्च मात्राका सांद्रण होता है और पृष्ठभूमि के क्षेत्र में उनका निम्न मात्रा का सांद्रण। अर्थात्

मस्तिष्क स्वतंत्र, आत्मनियंत्रित, साम्य की दिशा में क्रियाशील, गत्यात्मक क्षेत्र है। संवेदना-तंत्र और गति-तंत्र भी तंत्रीय पथों द्वारा सम्बद्ध, दो स्वतंत्र तंत्र नहीं, बल्कि एक साथ मिलकर सम्पूर्ण तंत्र के दो भाग हैं।

सम्पूर्णवादियों का सिद्धांत है कि मानसिक प्रक्रियाओं के अनुभव की विशिष्ट व्यवस्था, अनुभव से निर्धारक रूप में सम्बद्ध मस्तिष्कीय प्रक्रियाओं की व्यवस्था के अनुरूप ही होती है। मानव-व्यवहार भी मस्तिष्क प्रक्रिया की भाँति गत्यात्मक क्षेत्र है। इसमें, व्यक्ति और उसके द्वारा अनुभूत परिवेश, इन दोनों की अंतःक्रियाएँ हैं। इसकी शक्तियाँ सर्वश्रेष्ठ साम्य, सममितता, स्थिरता, एवं सरल सम्पूर्णाकृति स्थापित करने में प्रवृत्त रहती हैं।

सम्पूर्णवादियों ने उद्वेग को जीव तथा उसके अनुभूत परिवेश में असाम्य से उत्पन्न तनाव पर आधारित माना है, और संकल्प को साम्य के पुनः स्थापन की दिशा में सक्रिय शक्ति। प्रत्येक मानसिक क्षेत्र के अंदर एक महत्त्वपूर्ण उपक्षेत्र अहम् अर्थात् व्यक्तित्व होता है। जब कोई धन मूल्यवान विषय में आता है परन्तु अहम् उस तक पहुँच नहीं पाता, तब उद्वेग की उत्पत्ति होती है। अलंघ्य रुकावटें अहम् के उपक्षेत्र में प्रबल तनाव उत्पन्न करती हैं और विस्फोटक उद्वेगिक व्यवहार होने लगता है। सम्पूर्णवादी इसमें बीती तथा भूली हुई बातों को नहीं, वरन् वर्तमान अनुभूत परिवेश को मुख्य निर्धारक मानता है।

परन्तु सम्पूर्णवादियों ने प्रत्यक्ष का आधारभूत अध्ययन किया है। उन्होंने प्रयोगों द्वारा प्राप्त फलों के आधार पर प्रत्यक्षानुभव की दो विशेषताओं का प्रतिपादन किया है—एक है, प्रत्यक्षों की आकृति की सम्पूर्णता और दूसरी, विशेष परिस्थितियों में गति-विपर्ययों की संभावना। इन गति-विपर्ययों को फाई प्रतीतियाँ कहा जाता है। इनका नियम यह है कि यदि दो विभिन्न स्थिर रेखाओं को परस्पर थोड़ी दूरी पर थोड़े समयांतर से उपस्थापित किया जाय तो देखनेवाले को ऐसा दिखेगा जैसे एक रेखा प्रथम उपस्थापित रेखा के स्थान से द्वितीय उपस्थापित रेखा के स्थान की ओर चल कर गयी है। सम्पूर्णवादी इस गति विपर्यय का आधार भी दोनों उपस्थापित रेखाओं के देश काल में पास-पास होने से परस्पर संगठन द्वारा बननेवाले सम्पूर्ण को ही मानते हैं। उन्होंने ऐन्द्रीय अनुभव में उपस्थापित तत्त्वों के स्वतः संगठन के नियमों को ज्ञात करके सूत्रबद्ध किया है। एक सामीप्य नियम है—कि अनुभव में समीप के तत्त्व परस्पर संगठित होकर एक सम्पूर्ण आकृति बना लेते हैं। ऐसे ही समानता-नियम, पूर्ति-नियम, निरंतरता-नियम, परिचितता-नियम, संनिवेश-नियम तथा बहुत से अन्य नियम हैं। पूर्ति-नियम यह है कि कोई भी अधूरी अथवा खंडित आकृति प्रत्यक्ष प्रक्रिया द्वारा स्वयं पूरी होकर पहचानी जाती है। इन सब से भी अधिक महत्त्व-पूर्ण सम्पूर्णों का एक अन्य नियम माना जाता है, जिसे सरलता नियम कहा गया है। नियम यह है कि संगठनों का झुकाव सर्वाधिक सरलता अर्थात् साम्यलक्षी श्रेष्ठतम सम्पूर्णत्व

की ओर होता है। एक अन्य प्रमुख नियम आकृति-भूमि-नियम है। सम्पूर्ण में प्रवेश पाने वाले प्रत्यक्ष तत्त्व ध्यान आकर्षित कर लेते हैं और सर्वाधिक स्पष्टता से अनुभव में आते हैं। इनसे मिलकर एक आकृति बन जाती है। प्रत्यक्ष-क्षेत्र में शेष सब तत्त्व मिलकर इस आकृति की भूमि का काम देते हैं। प्रत्यक्ष के विषय में गेश्टाल्टवादी अर्थात् सम्पूर्णवादी सिद्धान्त यह है कि जीव स्थानीय उत्तेजनाओं की ओर परस्पर स्वतन्त्र स्थानीय प्रतिक्रियाएँ करने के बजाय, उपस्थापित उत्तेजनाओं के संयोजन की ओर एक सम्पूर्ण प्रक्रिया करता है, जिसके परिणामस्वरूप अनुभव में स्थानीय संवेदनाओं की पच्चीकारी के बजाय एक एकात्वात्मक सांवेदनीय दृश्य उपस्थित हो जाता है।

गेश्टाल्टवादियों ने सीखने के विषय यें एक नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिसे अन्तर्दृष्टि-सिद्धान्त कहा जाता है। उन्होंने चिम्पांजी बन्दरों पर प्रयोग करके पाया है कि सीखना प्रयत्न, मूल, पुनःप्रयत्न अर्थात् सब संभव प्रतिक्रियाओं को एक-एक कर देखने से नहीं, बल्कि बुद्धि, झुकाव तथा लक्ष्योन्मुख सक्रियता के साथ नवीन परिस्थिति को समझने और प्रत्यक्षानुभव में उसके लक्ष्योन्मुखी पुनःसंगठन से होता है। जब तक लक्ष्य प्राप्त नहीं होता, परिस्थिति परिवर्तनशील तथा पुनःसंगठन योग्य स्थिति में रहती है। लक्ष्य प्राप्ति हो जाने पर वह अन्तिम परिस्थिति हो जाती है। परिस्थिति, अर्थात् व्यक्ति और उसके परिवेश से मिलकर बने मनोवैज्ञानिक क्षेत्र का प्रत्यक्ष और उसका धीरे-धीरे पुनःसंयोजन अंतर्दृष्टि का काम है। अंतर्दृष्टि की पहचानें यह हैं—(१) समस्यारूपी परिस्थिति का सर्वेक्षण अर्थात् बारम्बार प्रेक्षण, (२) अनिश्चय, विराम और ध्यान-केन्द्रण, (३) लगभग उपयुक्त प्रतिक्रिया की क्रियात्मक परीक्षा, (४) इस प्रतिक्रिया के असफल होने पर किसी अन्य प्रतिक्रिया की कार्यात्मक परीक्षा, वह भी अचानक आरम्भ के साथ, (५) बारम्बार अथवा कई बार लक्ष्य की ओर ध्यान देकर प्रेरणा-प्राप्ति, (६) निर्धारक क्षण का आना, जब जीव अचानक सीधे यथार्थ आवश्यक प्रतिक्रिया करता है, (७) अगली बार वही परिस्थिति आने पर शीघ्र ही यथार्थ आवश्यक प्रतिक्रिया को कर लेना, (८) समस्या रूप परिस्थिति में मूल अंग अथवा सम्बन्ध को ध्यान देना और अनावश्यक अंगों की अपेक्षाकृत उपेक्षा। इस प्रकार सीखने की प्रक्रिया मानसिक क्षेत्र में शक्तियों के परस्पर तनाव अर्थात् असाम्य की अवस्था में होती है और तनाव अर्थात् असाम्य का अन्त कर देती है। यह सीखने में प्रेग्नान्ज़ अर्थात् सार्थकता का नियम है। इस प्रकार सीखने का समानता-नियम यह है कि किसी सामग्री में से समान तत्त्व असमान तत्त्वों की अपेक्षा अधिक सरलता से सीखे जाते हैं। प्रत्यक्ष के सामीप्य-नियम की भाँति सीखने के विषय में कालिक सान्निध्य नियम यह है कि सीखने में सामग्री-तत्त्वों के भौतिक अर्थात् दैहिक समीप्यानुसार समूह अथवा संयोजन बन जाते हैं और फलस्वरूप उनसे संगीत धुन,

वाक्य, कथा आदि की उत्पत्ति हो जाती है। सीखने में पूर्ति-नियम भी है। एक सुनिरंतरता-नियम है कि वे तत्त्व जो सम्पूर्ण आकृति में परस्पर संगत हैं, अपेक्षाकृत अच्छी तरह याद हो जाते हैं। सप्पूर्णवादियों के अनुसार सीखने का परिणाम, सम्पूर्णता में प्रगति, आकृतियों में अधिक सममितता तथा श्रेष्ठतर संगठन है। सीखने से मानसिक क्षेत्रों की आंतरिक रचना में परिवर्तन हो जाता है। सामग्री की प्रत्येक पुनरावृत्ति से उसके अवशेष अथवा संस्कार रह जाते हैं। प्रत्येक नवीन संस्कार पूर्व संस्कार-तन्त्र में कुछ परिवर्तन करता है। इस प्रकार धारण तथा प्रत्यास्मरण के बोध-क्षेत्र उत्पन्न होते हैं। सम्पूर्णवादी स्मरण में साहचर्य की वजाय श्रेष्ठतर सम्पूर्ण की ओर प्रगति को महत्त्व देते हैं। कई सम्पूर्णवादियों ने सीखने में तीन प्रक्रियाएँ बतायी हैं,

(१) समकरण अर्थात् सममितता तथा सुवितरण की वृद्धि,

(२) तीव्रकरण अर्थात् किसी आकृति के मूल तत्त्वों का तीव्रतर तथा सरलता से पहचानने योग्य हो जाना,

(३) प्रसामान्यकरण, अर्थात् प्रत्यक्ष आकृति का स्पष्टतर तथा सरलतर हो जाना। गेश्टाल्टवादियों का झुकाव सीखने के प्रत्यास्मरणवादी नहीं, सर्जनवादी सिद्धान्त की ओर हैं।

गेश्टाल्टवादियों ने सर्जनात्मक चिन्तन अर्थात् चेतन समस्या के सुलझाव का अध्ययन भी किया है। उन्हें रचना-सम्बन्धी समस्याओं के विषय में निर्धारक प्रश्नों को हल करने में वर्गीकरण, पुनःसंगठन, तथा मूल अंगों की पहचान, सर्जनात्मक चिन्तन की रक्षा करनेवाली प्रक्रियाएँ प्रतीत हुई हैं। इसके विपरीत पुनरावृत्त्यात्मक अभ्यास, साहचर्याधारित सीखना, अभ्यनुबन्धन, प्रयत्न-मूल-पुनःप्रयत्न से सीखना, उन्हें अपक्व निष्कर्षों पर पहुँचाने वाली, मूल स्वरूप के विषय में धोखा खाने वाली, दिशाबोधहीन एवं बाह्य निर्धारकों से अमुक्त,प्राक्कल्पना के पीछे लगी हुई अशांत अंध प्रक्रियाएँ जँची हैं, जो सर्जनात्मक चिन्तन की नाशक हैं। उन्होंने आंशिक मात्रा में सर्जनात्मक एवं यांत्रिक क्रियाओं के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है। उनके मतानुसार, सर्जनात्मक चितन विषय का तत्त्वों में विश्लेषण करके उनके बीच साहचर्यात्मक सम्बन्ध नहीं वरन् सम्पूर्ण स्वरूपों तथा सम्पूर्ण अंश-सम्बन्ध को खोजता है। आंशिक सत्य नहीं, सम्पूर्ण रचनात्मक सत्य ढूंढ़ता है। सम्पूर्णवादियों ने सर्जनात्मक चिन्तन में केन्द्रण तथा पुनःकेन्द्रण को बहुत महत्त्व दिया है। केन्द्रन का अर्थ तथ्य-केन्द्रन है, स्वयम् केन्द्रित, अपने अनुभवों तथा विश्वासों द्वारा प्रभावित, दृष्टिकोण छोड़कर, सम्पूर्ण परिस्थिति की रचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं को ध्यान में रखने वाला रागमुक्त दृष्टिकोण अपनाना। पुनःकेन्द्रण को विविध रुचियों तथा सर्जनात्मक व्यक्तियों के विकास के लिए नवीन मर्म-

वेधक दृष्टिकोण पर पहुँचने को कहा गया है। किसी एक क्षेत्र में प्रशिक्षा प्राप्त वैज्ञानिक का किसी दूसरे क्षेत्र में भी थोड़े-से अनुरूपक अभ्यास के उपरान्त उच्च स्तर की सर्जनात्मकता को प्राप्त कर लेना, इसी पुनःकेन्द्रण का उदाहरण है। सम्पूर्णवादी पुनरावृत्त्यात्मक अभ्यास द्वारा लाभ कम और हानि अधिक होने की सम्भावना की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। वे इसमें यांत्रिक, बुद्धिविहीन, अंध-क्रियाशीलता की आदत पड़ जाने और समस्या का स्वतंत्र विचारपूर्वक सामना करने के वजाय, अन्धानुसरण की ओर प्रवृत्ति होने की आशंका करते हैं।

सम्पूर्णवाद ने प्रत्यक्षानुभव के विषय में एक धारणा बनाकर सभी मानसिक प्रक्रियाओं की धारणा उसी के अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया है। प्रश्न रह जाता है कि सभी मानसिक प्रक्रियाओं में प्रत्यक्ष को ही इतना महत्त्व क्यों? और प्रत्यक्ष की उस प्रतिपादित विशेषता का जिसे सब मानसिक प्रक्रियाओं में भी देखने का प्रयत्न किया जा रहा है, अर्थात् सम्पूर्णता का क्या इतना स्वायत्त अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है, जितना सम्पूर्णवादी मानते हैं? सम्पूर्णता के अनुभूत गुण होने में संदेह है। प्रेक्ष्य तथ्यों की व्याख्या में यह अनुमान्नित एवं उपयोगी पाया गया मध्यस्थ परिवर्त्य सा है। इसकी आवश्यकता के विषय में आपत्ति की गयी है। तत्त्वों अर्थात् अंशों के तथा उनके सभी परस्पर सम्बन्धों के अतिरिक्त इनसे स्वतन्त्र सम्पूर्ण के अलग अस्तित्व की धारणा की कड़ी आलोचना हुई है।

क्षेत्रवाद

मनोविज्ञान में क्षेत्रवाद का सूत्रधार कुर्ट लेविन है। यह सम्प्रदाय मनोविज्ञान को कायिकी, जीवविज्ञान तथा रसायन से मुक्त रखते हुए मानव-व्यवहार की व्याख्या करने में भौतिकी की गणितात्मक विधि से प्रेरणा लेता है। इसने आधुनिक भौतिकी में प्रचलित क्षेत्र-सिद्धान्त को गेश्टाल्टवादी मनोविज्ञान में उतारने का प्रयत्न किया है। भौतिकी की आधुनिक सफलता को अनुभवाधारित ,प्रत्ययसंयोजन अर्थात् सिद्धान्त-विकास का फल समझ कर कुर्ट लेविन ने भी मनोविज्ञान के अनुभवगत तथ्यों के परे जाकर उनके विषय में प्रत्यात्मक चित्र अर्थात सिद्धान्त निर्माण करने का प्रयास किया है। किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त की भाँति मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के लिए लेविन को गणितात्मक और गत्यात्मक दो प्रकारके प्रत्यय आवश्यक प्रतीत हुए हैं। गणितात्मक प्रत्यय किसी भी प्राकृतिक विज्ञान के वर्णनों में एकार्थकता लाते हैं। उसके मतानुसार मनोविज्ञान में अनुप्रयोगके लिए सबसे अधिक उपयुक्त गणिततन्त्र रेखा-गणित का प्रत्ययतंत्र है। मनोविज्ञान में निरन्तर निकट जाना, दूर रहना, सामाजिक स्थान-ग्रहण, सामाजिक स्थान

परिवर्तन, मन से कहीं का होना, मानसिक दूरी, मानसिक दिशा, मनःक्षेत्र आदि की बात आया करती है। यह सब देश-सम्बन्धी अर्थात् रेखागणितात्मक प्रत्यय हैं। परन्तु मनोविज्ञान के लिए लेविन को यूक्लिडियन रेखागणित अनुपयुक्त प्रतीत हुआ। कोई व्यक्ति शरीर से किसी लक्ष्य से परे हटते हुए भी मन से उसकी ओर जा सकता है। अतः मानसिक प्रक्रियाओं का भौतिक देश से एकार्थक समन्वय नहीं है। मनोविज्ञान में अनुप्रयोग के लिए लेविन ने आकृतिमुक्त क्षेत्रक रेखागणित अर्थात् टौपोलोजी को ही उपयुक्त माना है। टौपौलोजी रेखागणित की वह शाखा है, जो निरन्तर परिवर्तन के बीच अपरिवर्तित रहने वाली आकृतियों के लक्षणों का अध्ययन करती है। यह लक्षण अपरिणामात्मक होते हैं और किसी क्षेत्र के अंशों के सम्बन्धों के परिचायक होते है—जैसे अंश-सम्पूर्ण-सम्बन्ध, विन्दु-परिवेश-सम्बन्ध, संधि, स्थिति आदि। मनोविज्ञान भी व्यक्ति तथा उसके परिवेश के बीच सम्बन्धों का अध्ययन है। अतः लेविन ने मनोविज्ञान में आकृतिमुक्त रेखागणित तंत्र का उपयोग किया है। इसीलिए उसके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को आकृतिमुक्त क्षेत्रक मनोविज्ञान भी कहा जाता है।

लेविन के विचारानुसार क्षेत्र-मनोविज्ञान के गत्यात्मक प्रत्यय-मनोविज्ञान को प्राकृतिक सामग्री प्रदान करेंगे। इनमें से कुछ व्यवहार परिवेश आदि प्रेक्ष्य प्रदत्तों से प्राप्त होंगे। अन्य अप्रेक्ष्य, मध्यस्थ परिवर्त्य हैं। यह परिस्थितिबद्ध उत्पत्ति-प्रत्यय अर्थात् वास्तु हैं। यह अनुभव द्वारा सिद्ध अथवा असिद्ध हो सकते हैं। इनसे प्रेक्ष्य तथ्यों के बीच सम्बन्धों की कारणात्मक अथवा गत्यात्मक व्याख्या होती है। मूल प्रवृत्ति, लिबिडो, अंतःप्रेरणा, साहचर्य, बुद्धि, उत्तेजनवृत्ति, तनाव, शक्ति, अभ्यनुबन्धित प्रतिवर्त ऐसे ही प्रत्यय हैं। इस प्रकार के वस्तुओं और प्रेक्ष्य तथ्यों में चार प्रकार के परस्पर प्रकार्यात्मक सम्बन्ध होते हैं: (१) वास्तुओं के बीच परस्पर धारणात्मक संबंध, (२) वास्तुओं के बीच परस्पर अनुभवात्मक संबंध, (३) प्रेक्ष्य तथ्यों द्वारा वास्तुओं का मापन, (४) प्रेक्ष्य तथ्यों के बीच परस्पर प्रकार्यात्मक सम्बन्ध। धारणात्मक सम्बन्ध की अवस्था में एक वास्तु दूसरे वास्तु से तार्किक अनुमान द्वारा व्युत्पन्न किया जा सकता है और इसमें किसी अनुभवाधारित प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती। अनुभवाधारित नियम कम से कम दो अनुभवाधारित वास्तुओं के बीच परस्पर प्रकार्यात्मक सम्बन्ध व्यक्त करते हैं। इन नियमों के अनुप्रयोग के लिए व्यक्तिगत तथ्यों की पूर्व समझ आवश्यक है। मानसिक जीवन की व्याख्या के लिए नियमों को ज्ञात करना होगा और साथ ही मूर्त परिस्थितियों का इस प्रकार सोपाधिक उत्पत्त्यात्मक वर्णन करना होगा कि उनसे सामान्य नियमों के अनुसार विशिष्ट काल-देश में होने वाली वास्तविक घटनाओं की प्रेक्ष्य विशेषताओं की व्युत्पत्ति हो सके। लेविन ने कहा है कि मनोविज्ञान का अपने

इतिहास के प्रथम अर्थात् परिकल्पना-काल तथा दूसरे अर्थात् वर्णन-काल से निकल कर नवीन तृतीय अर्थात् रचनात्मक काल में प्रवेश करने का समय आ गया है। रचनात्मक मनोविज्ञान का उद्देश्य मनोविज्ञान में से अमनोवैज्ञानिक प्रत्ययों को निकालना, नियमों को ज्ञात करना, और व्यक्तिगत घटनाओं का पूर्वकथन करना है। घटनाओं के कारण, तथ्य होते हैं। सम्पूर्ण वर्तमान परिस्थिति ही व्यवहार का सम्पूर्ण कारण है। प्रत्येक सम्पूर्ण परिस्थिति विलक्षण, परिवर्तनशील तथा देश-काल में उपस्थित परस्पर सम्बन्धों का समूह है।

इस क्षेत्रवाद के अनुसार, व्यक्तित्व तथा उससे सम्बन्धों में बँधा हुआ परिवेश, दोनों से मिलकर व्यक्तिका जीवनदेश बनता है। व्यवहार इसी जीवनदेश का अर्थात् व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा उसके उस समय के परिवेश का प्रकार्य है। गणित की भाषा में व्यवहार फलन (व्यक्तित्व, परिवेश) फलन (जीवनदेश)। यह जीवनदेश एक मानसिक खुला हुआ क्षेत्र है, जिसमें व्यवहार के निर्धारक सभी तथ्य है, जिसमें बाहर के अर्थात् अमानसिक तथ्यों के प्रभाव पड़कर परिवर्तन उत्पन्न कर सकते है। इसका उपर्युक्त प्रकार्य ही साधारणतया नियम कहा जाता है। मानसिक क्षेत्र में वह सब कुछ है, जिसका व्यक्ति लिए अस्तित्व है। इसके अन्तर्गत उसका भौतिक वातावरण भी है और उसकी आवश्यकताएँ, स्वप्न, इच्छाएँ, उद्वेगवृत्तियाँ तथा उसके लक्ष्य और उसकी चिन्ताएँ भी। किसी तथ्य के जीवनदेश के अन्तर्गत होने के लिए चेतनता अर्थात् उसका बोध होना आवश्यक नहीं। कोई भी तथ्य जो व्यक्ति को उस समय प्रभावित करता हो, उसके अन्तर्गत कहा जा सकता है, चाहे उसे उस तथ्य का बोध हो या न हो। परन्तु उसका व्यक्ति को उस समय प्रभावित करना आवश्यक है। अवचेतन अवस्थाएँ जीवनदेश के अन्तर्गत मानी जाती हैं, क्योंकि प्रेक्षण अथवा अनुमान द्वारा व्यक्ति पर उनके प्रभाव का पता चलता है। जीवन देश की सीमाएँ व्यक्ति द्वारा उनके उल्लंघन में रुकावट रूप होने के कारण रोध भी कही गयी हैं। यह रोध अर्थात् सीमाएँ तीन प्रकार की बतायी गयी हैं—भौतिक तथ्यजनित, सामाजिक तथ्यजनित, एवं तार्किक तथ्यजनित। सामाजिक तथ्यजनित रोध सामाजिक नियम, निषेध, रिवाज अथवा आदर्श हैं। सभी रोध मानसिक गति में रुकावट डालते हैं इसलिए मानसिक हैं।

लेविन के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक जीवनदेश में प्रदेश होते हैं। प्रदेश वह होता है, जिसके अन्दर एक ही समय पर अनेक विभिन्न स्थल अथवा भाग हों, जो किसी वृहत्तर सम्पूर्ण का खण्ड हो, अथवा जिसके अन्दर कोई व्यक्ति अथवा अन्य पदार्थ किसी स्थान पर हो, या गतिशील हो। प्रदेश के अन्दर प्रदेश भी हो सकते हैं, परन्तु यह उप-विभाजन क्रिया असीम नहीं। सबसे छोटे प्रदेशों को, जिनका आगे विभाजन नहीं किया

जा सकता कोशिका कहा गया है। किसी प्रदेश की जीवनदेश में स्थिति दो प्रकार निर्धारित की जा सकती है : किसी व्यक्ति अथवा समूह के गुणों के आधार पर, अथवा स्थानान्तरण या संसूचन के आधार पर। जिन प्रदेशों में कोई व्यक्ति अपनी वर्तमान स्थिति से पहुँच सकता है, उन सबको मिलाकर मुक्तगति देश कहा गया है। इसमें कोई रोध नहीं होता। इसके प्रदेश सम्वद्ध होते हैं। प्रदेशों में सम्बद्धता स्थानान्तरण तथा संसूचन दो प्रकार से आता है। क्रिया मानसिक स्थानान्तरण रूप होती है। मानसिक लक्ष्य वह प्रदेश है, जिसमें व्यक्ति प्रवेश चाहता है अथवा जिसके प्रति वह कोई विशेष स्थिति में आना चाहता है। किसी व्यक्ति की मानसिक स्थिति में परिवर्तन एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में स्थानान्तरण है। उदाहरणार्थ किसी शिशु को भोजन खिलाने में कठिनाई होने पर उसे अप्रिय प्रदेशों से किसी प्रिय प्रदेश में ले जाया जाता है। पूर्व प्रदेशों में शिशु की ओर से पीछे ढकेलने अर्थात् अस्वीकार करने वाली शक्ति का सामना करना पड़ता है, क्योंकि अभी वह उस अप्रिय प्रदेश में जहाँ उसके मुख में कुछ बरबस ठूँसा जा रहा है। परन्तु भोजन शिशु के मुख में पहुँच जाने पर, वह सुखमय खाने के प्रदेश में पहुँच जाता है। लेविन का मत है कि जीवनदेश में एक आयाम अस्तित्व मात्रा भी है। कल्पना, आशा, कल्पनामग्नता आदि का, जीवन-देश में स्थान समझने में, इस आयाम की विशेष आवश्यकता पड़ती है। जीवन-स्तर जितनी अधिक वास्तविकता का होगा उतनी ही उसकी तरलता अधिक होगी, उतना ही उसकी सीमाओं पर कम प्रतिरोध होगा, उतना ही प्रदेशों अथवा उप प्रदेशों की सीमाएँ घटाई-बढ़ाई जा सकेंगी, उतना ही व्यक्ति और परिवेश के बीच की सीमाएँ भी अस्पष्ट होंगी। प्राय: प्रत्यक्ष में सबसे अधिक वास्तवता मात्रा होती है, चिंतन में उससे कम और कल्पनामग्नता में उससे भी कम।

परन्तु लेविन को आकृतिमुक्त क्षेत्रक धारणाओं ही से मनोवैज्ञानिक प्रश्नों की पूरी व्याख्या सम्भव नहीं प्रतीत हुई। इनसे दिशा, आकार एवं परिवर्तन की व्युत्पत्ति नहीं हो पाती। किसी विशिष्ट समय पर क्या होगा इसका पूर्व कथन नहीं हो पाता। अतः उसने एक नवीन प्रकार के देश की धारणा का निर्माण तथा प्रतिपादन किया है, जिसे उसने गतिदेश कहा है। इस देश में मार्ग का स्वरूप परिस्थिति के अनुसार बदलता है, और दिशा क्षेत्र के सामान्य गुणों पर निर्भर होती है। दिशा भी दो प्रकार की होती है। से-दिशा और को-दिशा। व्यवहार किसी परिस्थिति में परिवर्तन, किसी दिशा में किसी लक्ष्य की ओर या उससे दूर स्थानान्तरण होता है,। लेविन का विश्वास है कि गतिदेश के रेखागणित का पूर्ण निर्माण किया जा सकता है और भविष्य में गणितशास्त्रज्ञों द्वारा अवश्य होगा।

लेविन का कथन है कि प्रत्येक व्यवहार अथवा क्रिया परिवर्तन रूप है। इसका कारण मानसिक शक्ति है। मानसिक शक्ति परिमाणमय तथा दिशामय पदार्थ है, किसी दिशा में क्रिया करने की प्रवृत्ति है। इसकी तीन विशेषताएँ होती हैं, दिशा, परिमाण, तथा अनुप्रयोग स्थल। इसका प्रत्ययात्मक गुण सादेश है, जिसमें परिमाण और दिशा दोनों होते है। लेविन का विश्वास है कि इन शक्तियों का योग हो सकता है। शक्तियों का मापन प्रेक्ष्य क्षण रूप तथ्यों के आधार पर हो सकता है। परन्तु यह मापन संख्यात्मक नहीं होगा, क्योंकि शक्तियों के क्षेत्र में न कोई इकाई है, न कोई शून्य, न इकाइयों की समानता। अतः लक्षणों के आधार पर शक्तियों का असंख्यात्मक मापन ही होगा। उदाहरणतया, पदक्रमात्मक मापन हो सकता है। व्यवहार से उसकी निर्धारक शक्तियों के पदक्रमात्मक स्थान का संकेत मिल जाता है।

मानसिक शक्तियाँ किसी क्षेत्र में ही कार्यशील होंगी। मानसिक शक्ति-क्षेत्र के मानचित्र से यह ज्ञात हो जाता है कि उस क्षेत्र के किसी स्थल पर व्यक्ति के होने से उस स्थल पर कौन-सी शक्ति अथवा शक्तियाँ होंगी। मानसिक संघर्ष कम से कम दो मानसिक शक्ति-क्षेत्रों की एक दूसरे की सीमा के अन्दर तक फैल जाने से होता है। कुण्ठा भी उसी आयाम में होती है। घृणा मानसिक शक्तियों का किसी प्रदेश से दूर पर वितरण है। विकल्प व्यक्ति का दो परस्पर व्यावर्तक धन अथवा ऋण मूल्यांकनों के बीच स्थित होना है। अपने जीवन-देश में क्रियाशील परन्तु किसी अन्य व्यक्ति में उत्पन्न शक्तियाँ प्रेषित शक्तियाँ कही गयी हैं। समूहों में नेता, समह के सदस्यों के जीवनदेशों में मानसिक शक्ति प्रेषित किया करता है। किसी व्यक्ति के जीवनदेश के अंदर किसी प्रदेश की क्षमता उस व्यक्ति के उस प्रदेश में रत होने की सापेक्ष मात्रा पर निर्भर है। कोई मानसिक शक्ति कहाँ तक व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करेगी, उसकी परिस्थिति की क्षमता पर निर्भर रहेगा। लक्ष्य अर्थात् धन-मूल्यांकन एक ऐसा शक्ति-क्षेत्र है, अर्थात् देश में शक्तियों का ऐसा वितरण-क्षेत्र है, जिसमें सब शक्तियाँ एक ही प्रदेश की ओर झुकी हुई होती हैं।

मूल्यांकन किसी व्यक्ति के जीवन-देश के उस प्रदेश का गुण है, जिसकी ओर व्यक्ति खिचता है या जिसकी ओर से वह भागता है। धन-मूल्यांकन का अर्थ किसी प्रदेश का किसी व्यक्ति के लिए आकर्षक होना है। यह ऐसे शक्ति-क्षेत्र में होता है, जिसमें सब शक्तियाँ इस मूल्यांकन की ओर झुकी हुई होती हैं। यदि कोई अन्य मूल्यांकन नहीं होते, तो व्यक्ति इस धन-मूल्यांकन की ओर सक्रिय होकर चल पड़ता है। किसी धन मूल्यांकन की ओर अथवा किसी ऋण-मूल्यांकन से दूर झुकने वाली शक्तियाँ प्रेरणाएँ होती हैं। रोकने वाली शक्तियाँ सीमाएँ अथवा रोध कहलाती हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार मानसिक तनाव, व्यक्ति-तन्त्र की वह अवस्था है, जो अपने को, परिवर्तित करके, पड़ोसी व्यक्ति तन्त्रों की अवस्था के समान होने का प्रयत्न करती है। यह अवस्था किसी मानसिक आवश्यकता के समय हुआ करती है। आवश्यकताओं से मूल्यांकन सम्बन्धित होते हैं। जब किसी आवश्यकता की तीव्रता बढ़ जाती है, उस आवश्यकता की पूर्ति करने वाले पदार्थों अथवा कामों का मूल्यांकन भी ऊँचा उठ जाता है, और कम मूल्यवान् अर्थात् हीनतर पदार्थों का मूल्यांकन बढ़ जाने के कारण उनके द्वारा भी आवश्यकता की पूर्ति करना सरल हो जाता है।

तनाव का परिणाम स्थानान्तरण अर्थात् संचलन होता है और, उससे बिगड़ा हुआ व्यक्ति और परिवेश के बीच का संतुलन अथवा साम्य फिर से स्थापित हो जाता है, और शांति की प्राप्ति होती है। मानव-व्यवहार में निरन्तर इस प्रकार तनाव, संचलन और साम्य अर्थात् शांति का चक्र चलता रहता है। इसे आवश्यक-क्रिया-शांति का चक्र भी कहा गया है। यदि साम्य अर्थात् शान्ति के स्थान पर असफलता एवं कुण्ठा होती है, तो तनाव बढ़ जाता है। उपर्युक्त संचलन-क्रिया में व्यक्ति स्वयं चल पदार्थ है, उसका जीवन-देश वह माध्यम है, जिसके अन्दर संचलन होता है, और इस माध्यम में तरलता, पारगम्यता, संयोजकता आदि गुण होते हैं। तरलता माध्यम में संचलन सरलता है। सामाजिक संचलन की स्वतंत्रता मात्रा उसकी संभव दिशाओं की सापेक्ष संख्या है। पारगम्यता रोध द्वारा संलन क्रिया की की सरलता है। जैसे लक्ष्य की प्राप्ति अर्थात् धनन्मूल्यांकन की दिशा में संचलन की सफलता से तनाव शांत हो जाता है, वैसे ही काम का अधूरा रहना तनाव को सुरक्षित रखता है। इसीलिए अधूरे काम पूर्ण कामों की अपेक्षा अधिक याद रहा करते हैं। पुनरावृत्ति अथवा आवश्यकता-पूर्ति से घन-मूल्यांकन ॠण-मूल्यांकनों में बदल जाते हैं।

जब लक्ष्य अप्राप्य होता है, तो क्षेत्रवादी कहते हैं, कोई रोध व्यक्तित्व को वांछित प्रदेश की दिशा में संचलन से रोक रहा है। प्रयोगों से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है, कि अति कुंठित वयस्क व्यक्ति बच्चों की तरह व्यवहार करने लगते हैं, और वास्तविक क्षेत्र से अवास्तविक क्षेत्र में पहुँच जाते है। प्राय: रोध किसी पदार्ध का मूल्यांकन बढ़ा देते हैं। जब रोध कठिन होते हैं, कुंठा, क्रोध, तथा कम वास्तविक व्यवहार की उत्पत्ति होती है। जब कोई पदार्थ व्यक्ति से दूर हो जाता है, तब उसके मूल्यांकन की प्रबलता घट जाती है।

क्षेत्रवादियों ने आकांक्षास्तरों के अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया है। आकांक्षा-स्तर भावी कार्य के प्रत्याशित स्तर को कहते हैं। लेविन का मत है, कि व्यक्ति की निष्पत्ति का अपना मूल्यांकन लक्ष्य की वास्तविकता की मात्रा पर निर्भर होता है।

आकांक्षा स्तर के तीन निर्धारक पाये गये हैं–आकांक्षा-स्तर को यथासंभव ऊँचा रखने की आवश्यकता, असफल न होने की आवश्यकता, तथा वास्तविकता के अनुसरण की आवश्यकता। आकांक्षा-स्तर व्यक्ति की स्वयंबोधित संभाव्यताओं पर तथा परिवेश के प्रभावों पर भी निर्भर पाया गया है।

क्षेत्रवादी प्रत्यक्ष को ऊर्जा का उद्‌गम अथवा मानव-व्यवहार का प्रेरक नहीं मानते। परन्तु उसे व्यवहार की दिशा का निर्धारक स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि प्रत्यक्ष पदार्थ जीव में धन अथवा ऋण-मूल्यांकन का विषय बनकर आकर्षण अथवा विकर्षण रूपी तनाव उत्पन्न करके अपनी ओर अथवा अपने से परे संचलन आरम्भ कर देता है।

सीखना सम्पूर्णवाद की भाँति क्षेत्रवाद के अनुसार भी प्रत्यक्ष पुनःसंगठन है। इसे सीखने का चिह्नार्थ सिद्धान्त भी कहा गया है। लेविन ने चार प्रकार के सीखने में भेद किया है :—

(१) ज्ञान में परिवर्तन के रूप में सीखना, जिससे अस्पष्ट, विस्तृत, निर्विकल्प क्षेत्र सविकल्प, विशिष्ट, उप-प्रदेशों में विभाजित, तथा पथों द्वारा सम्बद्ध हो जाता है, अथवा मानसिक क्षेत्र की बोधात्मक रचना में परिवर्तन हो जाता है।
(२) उत्प्रेरण अर्थात् मूल्यांकन में परिवर्तन के रूप में सीखना,
(३) पेशियों के ऐच्छिक नियंत्रण द्वारा कौशल-प्राप्ति के रूप में सीखना,
(४) संस्कृति, सम्प्रदाय, सिद्धान्त अथवा समुदाय के प्रति भक्ति में परिवर्तन के रूप में सीखना।

सीखनें का एक महत्त्वपूर्ण निर्धारक आकांक्षा-स्तर है। आकांक्षा-स्तर का वहुत नीचा या बहुत ऊँचा होना सीखने को हतोत्साहित करता है। परन्तु आकाँक्षा का उपयुक्त स्तर स्थिर किया जा सकता है। लेविन ने बलात् सीखने और लोकतांत्रिक सीखने में भेद किया है। दण्ड के आधार पर सीखना बलात् सीखना है। इससे मुक्त गतिदेश संकुचित हो जाता है, व्यक्ति बंदी सा हो जाता है। उसे दंड से बचने से रोकने के लिए बड़े निरीक्षण की आवश्यकता पड़ती है।

क्षेत्रवाद ने व्यक्तिवाद को जीवन-देश के केन्द्र पर स्थित, गत्यात्मक दृष्टि से एक-दूसरे पर निर्भर तथा इस प्रकार सम्बद्ध प्रदेशों का एक तंत्र माना है। इसमें और जीवन-देश के दूसरे भाग-परिवेश में अन्तर यह है कि परिवेश ऐसा माध्यम है, जिसमें संचलन हुआ करता है, परन्तु व्यक्ति संचलन के लिए माध्यम नहीं बन सकता। व्यक्ति में तो केवल संसूचन होता है। परन्तु सम्पूर्ण व्यक्ति के संचलन की व्याख्या करने में और उसकी दृढ़ एकता पर बल देने में, उसे एक निर्विकल्प प्रदेश अथवा एक बिन्दु भी मान लिया जा सकता है।

व्यक्तित्व नामक प्रदेश-तन्त्र में कुछ आन्तरिक एवं वैयक्तिक प्रदेश हैं और कुछ बाह्य अर्थात् प्रत्यक्षात्मक एवं गत्यात्मक प्रदेश हैं। प्रत्यक्ष गति-तंत्रांश में भी कुछ प्रदेश केंद्रीय है और कुछ प्रदेश परिध्यात्मक है। गतितंत्र एक समय एक ही आंतरिक प्रदेश की सेवा में रह सकता है। व्यक्तित्व के आन्तरिक प्रदेशों में भी कुछ परिध्यात्मक तथा केन्द्रीय हैं। इन केन्द्रीय प्रदेशों का परिवेश से कम सम्पर्क रहता है। वह शान्त भी शीघ्र होते हैं। उनका क्रोधोत्तेजित होना उतना सरल नहीं जितना गति-प्रदेशों का। क्योंकि क्रोध-प्रतिक्रियाएँ तो गतिप्रदेशों से ही होंगी। औद्वेगिक तनाव के समय व्यक्ति विशेष आत्म-नियंत्रण करता है, जिससे उद्वेग फूट न पड़े। वह व्यक्तित्व के आन्तरिक प्रदेशों के परि-ध्यात्मक भागों और बाह्य गतिप्रदेशों के बीच की सीमा को दृढ़ कर लेता है। जब उद्वेग की प्रबलता के केन्द्रीय प्रदेश मिलकर एक हो जाते हैं, वे सम्पूर्ण आन्तरिक प्रदेशतंत्र को दबाकर संकुचित एवं निर्विकल्प कर देते हैं, और व्यक्ति अप्रौढ़ों की भाँति व्यवहार करने लगता है। जब आन्तरिक प्रदेशों के अन्दर तनाव असह्य हो जाता है, उद्वेग सीमाओं को लाँघकर गतिप्रदेश में चला आता है, और व्यक्त प्रबल शारीरिक गतियाँ होने लगती हैं। इस मत के अनुसार उद्वेग आन्तरिक प्रदेशों के तनाव हैं। उद्वेग नियंत्रक प्रदेशों के बीच दीवारें खड़ी करता है। प्रबल उद्वेग आन्तरिक सीमाएँ तोड़ देते हैं, प्रदेशों की संख्या घटा देते हैं और सम्पूर्ण व्यक्तित्व तंत्र का अनवलंबन कर देते हैं।

बच्चों का व्यक्तित्व वयस्कों के व्यक्तित्व की अपेक्षा कम अवकलित एवं कम अनु-कलित भी होता है। उनके व्यवहार में सम्पूर्णता अर्थात् सर्वांशिकता अधिक होती है, उनके व्यक्तित्व के एक अंग में परिवर्तन सभी अंगों को वयस्कों की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में प्रभावित कर देता है। उनके व्यक्तित्व के प्रदेश वयस्कों की अपेक्षा अधिक नम्य भी होते हैं, और उनमें परिवर्तन का उतना प्रतिरोध नहीं होता, जितना बड़ों में होता है। जब नवजात शिशु सम्पूर्णतया अनवकलिक जीवनदेश से, आयु बढ़ने पर, अवकलन मार्ग पर आगे बढ़ता है, तब अभी तक असंभव प्रत्यक्ष एवं अवगम संभव हो जाते हैं, अरूप प्रत्यक्ष एवं अवगम सरूप हो जाते हैं। आन्तरिक प्रदेशों के अवकलन से आव-श्यकताओं में विविधता आती है। नवीन गति-क्षेत्र खुल जाते हैं, कुछ क्षेत्र बन्द भी हो जाते हैं। परन्तु विकासप्रक्रिया में कमी, असफलता, बंचन, पदच्युति आदि किसी प्रकार की कुंठा का अनुभव होने से व्यक्ति के व्यवहार की शैली में पूर्वगमन हो जाता है। व्यक्तित्व अनवकलित एवं अप्रौढ़ हो जाता है।

साधारणतया वयस्कों में व्यक्तित्व के प्रदेशों के परस्पर संतुलन द्वारा समस्वरता स्थापित हो जाती है। व्यवहार में संगति भी प्रदेशों की प्रौढ़ता और उनकी प्रबलता से

आती है। यदि किसी व्यक्ति में कुछ प्रदेश कम मात्रा में सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध होते हैं तो उनमें मानसिक विकार होता है। किसी व्यक्ति के अवकलन की मात्रा का एक चिह्न उसके व्यवहार में असभ्यता है। कोई व्यक्ति बुद्धिपरीक्षा में क्या कर पाता है यह भी उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व अथवा उसके कुछ प्रदेशों के अवकलन की मात्रा पर निर्भर होता है। संकट काल में सम्पूर्ण व्यक्तित्व के अनवकलन की संभावना हो जाती है, जिससे व्यवहार का मानसिक स्तर गिर जाता है।

क्षेत्रवादी व्यक्तित्वप्रकारों को परिवेश के प्रभावों से उत्पन्न मानते हैं। परिवेशात्मक शक्तियों के दबाव से व्यक्ति में कुछ व्यक्तित्व प्रदेश अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। इसी से व्यक्तिगत अन्तरों और व्यक्तित्व-प्रकारों का विकास होता है। इसीलिए लेविन ने विशेषतया जर्मन व्यक्तित्व, अमरीकन व्यक्तित्व आदि संस्कृति-जनित व्यक्तित्व-प्रकारों का ही उल्लेख किया है।

क्षेत्रवादी व्यक्तित्व की परिवर्तनशीलता पर विशेष ध्यान देते हैं। उनके मतानुसार व्यक्ति का अपनी परिस्थिति से अलग अपना कोई स्वतंत्र स्वभाव नहीं होता। उसका व्यवहार उसके जीवनदेश रूपी क्षेत्र के अन्दर विद्यमान परस्पर संबंधों की ही उपज है। उसके मूल्यांकन, उनकी प्रबलता तथा उनका वितरण सब इस सम्पूर्ण क्षेत्र के गुण हैं, अलग से उसके अपने नहीं। उसकी आवश्यकताएँ, उसके तनाव भी इस सम्पूर्ण जीवनदेश में उसके और उसके परिवेश के बीच असंतुलन के ही रूप हैं। व्यक्ति का समस्त व्यवहार जीवनदेश के प्रदेशों के बीच संचलन अथवा संसूचन रूप ही होता है।

४

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय (३)

प्रयोजनवाद

प्रयोजनवाद व्यवहारवाद के सर्वथा विपरीत ह। यह व्यवहार को यांत्रिक एवं नियतिबद्ध न मानकर लक्ष्य की ओर निर्देशित मानता ह, और इस निर्देशन को मानसिक तथ्य के रूप में प्रतिपादित करता है। इसके संस्थापक विलियम मैक्डूगल ने तो विकास की अविच्छिन्नता बनाये रखने की दृष्टि से जड़ प्रकृति में भी कुछ मानसिक तत्त्व की कल्पना की थी।

मैक्डूगल ने भी मनोविज्ञान को व्यवहार-विज्ञान कहा है। परन्तु उसका मत है कि व्यवहार का लक्षण किसी लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयास और लक्ष्य के प्राप्त होने पर उस प्रयास की समाप्ति है। इसे ही व्यवहार की प्रयोजनात्मकता अथवा ऊर्जाभिव्यक्त्यात्मकता कहा जा सकता है। कुछ विशिष्ट प्रयोजनपूर्ण व्यवहारवृत्तियाँ प्रत्येक व्यक्ति में स्वभाव से ही होती हैं। इन्हें मूल प्रवृत्तियाँ कह सकते हैं। और सम्पूर्ण व्यवहार ऐसी ही मूल प्रवृत्तियों अथवा उन्हीं से उत्पन्न स्थिर भावों अथवा रुचियों द्वारा निर्धारित हुआ करता है।

मैक्डूगल के सिद्धान्त की आधारभूत धारणा यह है कि व्यवहार ऊर्जा का निरावेश होता है। वह मूल ऊर्जा को रासायनिक रूप में ऊतकों में संगृहीत समझता था। उसका विश्वास था कि इस ऊर्जा का संग्रह, निरावेश तथा किसी अन्य प्रकार की ऊर्जा के रूप में परिवर्तन किया जा सकता है। प्रत्येक क्रिया में ऊर्जा का विसर्जन ही होता है, और अवरोध में ऊर्जा का पुनर्वितरण अथवा निष्कासन। व्यवहार के ढाँचे इन मनोभौतिक वृत्तियों से सम्बद्ध होते हैं।

इस ऊर्जा का एक प्रकार मूल प्रवृत्ति ऊर्जा है। इसका काम ऊतकों में रासायनिक रूप में संगहीत अथवा स्थित मनोभौतिक ऊर्जा को मुक्त करना तथा निर्देश देना और उसे मुक्त, सक्रिय, गतिज, विद्युतात्मक आदि रूप देना है मूल प्रवृत्तियों को मैक्डूगल ने ऊर्जा को मुक्त करनेवाला तंत्र भी कहा है और उत्तेजित हो जाने पर आसानी से मुक्त होकर फट पड़नेवाले और उपयुक्त दिशाओं में प्रेषित हो जाने वाले स्थितिज ऊर्जा-पिंड भी।

इसका उफान ही तृष्णा के लक्षण अशान्ति के रूप में प्रकट हुआ करता है। उसने ऊर्जा को एक मूल भंडार मानकर विविध मूल प्रवृत्तियों को इस सुरक्षित ऊर्जा-भंडार में से पोषित होते हुए भी स्वीकार किया है। उसका कथन यह भी था कि मूल प्रवृत्त्यात्मक क्रिया के आधार में कोई संयुक्त संवेदना-गति चापतंत्र रूपी चिरस्थायी नैसर्गिक स्नायविक संगठन अथवा मनोभौतिक झुकाव होता है।

मैक्डूगल की आधारभूत धारणा है कि सब जीवों का व्यवहार उद्देश्यात्मक होता है और उद्देश्यात्मकता मन का लक्षण है। अतः सब जीवों में, और क्योंकि जीवों का निर्गमन जड़ प्रकृति से होता है, इसलिए जड़ प्रकृति में भी, मन, मानसिक स्वभाव एवं क्रियाशीलता के कुछ परिमाणों के चिह्न अवश्य होंगे। अर्थात् सब व्यवहार बाह्य शक्तियों से उत्पन्न अथवा किसी उत्तेजना की ओर मात्र प्रतिक्रिया रूप नहीं होता। कुछ क्रियाएँ अवश्य अंदर से ही निकलती हैं, स्वतः ही, किसी उद्देश्य से होती हैं। और सभी जीवों का मुख्य उद्देश्य जीवित रहना, जीवन को बनाये रखना, जीवन के प्रति समायोजन रखना है। यही प्रमुख प्रेरणा है, प्रमुख प्रवृत्ति है। इस उद्देश्य की पूर्ति का माध्यम कुछ व्यवहार-निर्देशक प्रवृत्तियों का वंशानुक्रमण है। इन प्रवृत्तियों को ही मूल प्रवृत्तियाँ कहा जाता है। व्यक्ति में इनके अस्तित्व का लक्षण यह है कि वह किसी विशिष्ट प्रकार के विषय का प्रत्यक्ष करता या उनकी ओर ध्यान देता है, उनका प्रत्यक्ष होने पर वह विशिष्ट प्रकार के औद्वेगिक उत्तेजन का अनुभव करता है, और उसके विषय में विशिष्ट प्रकार की जाति-प्रचलित हितकारी क्रिया-शृंखलाओं में प्रवृत्त होता है अथवा उनके करने की इच्छा करता है। इस प्रकार मूल प्रवृत्ति के तीन प्रकार के प्रकार्य हैं—प्रत्यक्षात्मक अर्थात् बोधात्मक, उद्वेगात्मक अर्थात् भावात्मक तथा उत्प्रेरणात्मक अर्थात् क्रियात्मक। मुख्य तथा केन्द्रीय अंग उद्वेगात्मक है, जैसे जनन मूल प्रवृत्ति में स्नेह, तथा पलायन मूल प्रवृत्ति में भय। प्रत्येक मूल प्रवृत्ति से एक मूल उद्वेग सम्बद्ध रहता है। मूल प्रवृत्ति का यह उद्वेगात्मक अंग आनुवंशिक होता है और अनुभव अथवा शिक्षा द्वारा परिवर्तित नहीं हो सकता। खाने, लड़ने, पलायन आदि की प्रेरणाएँ आनुवंशिक हैं। प्रत्येक जीव की रचना ही ऐसी है कि वह भोजन, निवास, रति आदि कुछ स्वाभाविक लक्ष्यों को खोजता है और उनके लिए चेष्टा करता है तथा इन लक्ष्यों की प्राप्ति से उसकी उपयुक्त आवश्यकताओं की संतुष्टि होती है। यह आवश्यकताएँ तथा इन्हें संतुष्ट करने की प्रवृत्तियाँ नैसर्गिक हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी, जाति के सभी व्यक्तियों के स्वभाव में वंशानुक्रम से आ जाती हैं। यह पशुओं और मनुष्यों में एक सी होती हैं। परन्तु मूल प्रवृत्तियों का प्रत्यक्षानुभव अंग तथा क्रिया अंग शिक्षा द्वारा बदला करता है। मल प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के ढंग सभ्यता की प्रगति के साथ बदलते रहते हैं। उदाहरणार्थ, विधि तथा रूढ़ि के विकास से व्यक्तिगत

शारीरिक मुठभेड़ अनावश्यक हो गयी है और उसका स्थान जातियों के बीच सामूहिक संघर्ष ने और जातियों के अंदर संघर्ष के सूक्ष्मतर रूपों ने ले लिया है। इस प्रकार मैक्डूगल जीव के व्यवहार को मूल प्रवृत्यात्मक तथा बुद्धयात्मक दोनों मानता था। जीव की प्रत्येक क्रिया को उसके आनुवंशिक विधान द्वारा निर्धारित मानते हुए भी उसके विधान में अनुकूलन तथा अनुकलन के ही लिए जाति के सामान्य ढाँचे से विचलन की योग्यता भी स्वीकार करता था।

अपने अंतिम ग्रंथों में मैक्डगल ने मूल प्रवृत्ति के प्रत्यक्षानुभव अंग को भी क्रिया-अंग की अपेक्षा विशेष महत्त्व दिया है। मूल प्रवृत्ति को जीव में प्रेरित क्रिया-प्रकारों से नहीं, उत्तेजक पदार्थों एवं परिस्थितियों के लक्ष्य के स्वरूप से तथा परिस्थिति, विषय अथवा जीव से, व्यक्ति के सम्बन्ध से निर्धारित कहा है।

मैक्डूगल ने मानव-मूल-प्रवृत्तियों की सूची बनाने का प्रयत्न भी किया। अंत में वह सात आधारभूत मल प्रवृत्तियों और उनसे सम्बद्ध सात आधारभूत उद्वेगों पर पहुँचा—

मूल प्रवृत्ति	**सम्बद्ध उद्वेग**
पलायन	भय
मुठभेड़	क्रोध
उत्सुकता	आश्चर्य
दूर करना	घृणा
अहमाग्रह	अहंभाव
विनीतता	दीनता
जनकप्रवृत्ति अर्थात् वात्सल्य	स्नेह

इनके अतिरिक्त मैक्डूगल ने पाँच महत्त्वपूर्ण मूल प्रवृत्तियाँ मानीं—

भोजन की लालसा
मैथुन
संगशीलता
रचनात्मकता
संग्रहवृत्ति

साथ ही पाँच अतिरिक्त मल प्रवृत्तियाँ भी गिनायी हैं—

सोना, कष्ट से दूर रहना, स्थान-परिवर्तन, रोना और हँसना। मैक्डगल ने इन सत्रह मूल प्रवृत्तियों के अतिरिक्त छींकने, खाँसने, साँस रोकने आदि की अनेक इच्छाओं का भी उल्लेख किया है।

एक ही विषय से सम्बन्धित अनक मूल प्रवृत्तियाँ संयुक्त होकर स्थिर भावों का रूप ले लेती हैं। उदाहरणाथ सामाजिकता अर्थात् सामाजिक भाव में प्रेम, स्नह, अहमाग्रह, सम्पत्ति-संग्रह आदि का संयुक्त रूप मिलता है। यह स्थिर भाव नैसर्गिक मूल प्रवृत्तियों द्वारा अनुभवों तथा परिस्थितियों के प्रभाव से उत्पन्न हो जाते हैं।

मैक्डूगल ने मनोविज्ञान में बढ़ते हुए भौतिकवाद के युग में मानव-व्यवहार के मानसिक और विशेषत: औद्वेगिक एवं अबौद्धिक स्रोतों को समझने का साहसपूर्ण प्रयत्न प्रस्तुत किया है। परन्तु उसने अपने सिद्धान्तों के पर्याप्त वैज्ञानिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये। प्राय: वह यह समझता प्रतीत होता है कि वह सरल, स्वयं-स्पष्ट, सर्व-स्वीकृत नियमों की व्याख्या मात्र कर रहा है। परन्तु उसकी लगभग सभी मान्यताएँ जटिल एवं विवादास्पद हैं। मूल प्रवृत्ति की धारणा तो इतनी विवादग्रस्त है कि उसे प्राचीन मन:शक्ति-धारणा का ही एक रूप कहा गया है, जिसके प्रतिपादन से उनके विषय में हमारा ज्ञान बढ़ता नहीं। मैक्डगल लगभग यह कहता प्रतीत होता है कि मनुष्य इसलिए खाता है कि उसमें खान की मूल प्रवत्ति है और इसलिए लड़ता है कि उसमें लड़ने की मल प्रवृत्ति है। यह धारणा मनमानी और निरर्थक प्रतीत होती है।

दो अन्य प्रयोजनवादी सिद्धान्त कुर्ट गोल्डश्टाइन तथा जेकब कैन्टर द्वारा प्रतिपादित हुए हैं। गोल्डश्टाइन ने मस्तिष्कीय आघातग्रस्त व्यक्तियों के ध्यानपूर्वक प्रेक्षण के आधार पर जीवों को तत्त्वों के योग के रूप म नहीं वरन सम्पूर्णों के रूप में देखन का आग्रह किया है। उसने मनोविज्ञान तथा अन्य सभी जीवविज्ञानों में सैद्धान्तिक धारणाओं अर्थात् प्रतीकों के लिए भी सम्पूर्णता, वैयक्तिकता तथा असंख्यात्मक गुणों का सूचक होना आवश्यक बताया है। इसलिए उसने मनोविज्ञान में सांख्यिकी की अपेक्षा व्यक्तियों के विस्तृत अध्ययनों को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उसके मतानुसार व्यक्तिगत जीवन का प्रमुख प्रयोजन ऊर्जा का समानकरण है। ऊर्जा नष्ट अथवा लुप्त नहीं हो सकती, न घट सकती है। उसका एकत्रण, वितरण, विसर्जन, रूपांतरण अथवा एक अंग से दूसरे अंग को प्रेषण हो सकता है। सामान्य जीव में ऊर्जा का परिमाण लगभग स्थिर एवं सम-वितरित हुआ करता है और सामान्य अर्थात् माध्य-तनावावस्था रहती है। जब कभी आंतरिक अथवा बाह्य उत्तेजनाओं द्वारा यह तनाव विचलित होता है, तभी जीवन में सामान्य अर्थात् संतुलित अवस्था के पुन: स्थापन की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। भूख में खाना, डरने पर पलायन, आक्रमण होने पर लड़ना, सामान्यता की ओर लौटना इस प्रक्रिया के उदाहरण हैं। सामान्य जीवन में किसी उत्तेजना द्वारा परिवर्तित उत्तेजन कुछ समय पाकर अपनी पूर्व साम्यावस्था को लौट आता है। इस प्रक्रिया को ही ऊर्जा का समानकरण कहा गया है। इससे जीव के लिए सफलतम क्रियाशीलता संभव होती है। इसलिए माध्य-तनावावस्था

ही जीव की उच्चतम अवस्था है। जीवन उत्तेजना की कुछ सीमाओं के बीच ही संभव है। अत्युत्तेजना एवं अधोत्तेजना दोनों जीव के जीवित रहने की संभावना को घटाती हैं। जीवन निरंतर तनाव है, जीवित पदार्थ पूर्णतया शान्त तो हो ही नहीं सकता। परन्तु इस अशान्ति को सीमाओं के अंदर माध्यतनावावस्था में रखना आवश्यक है।

ऊर्जा के इस समानकरण के लिए एवं उसके अधीन, जीव को आत्मवास्तवकरण तथा परिवेश के प्रति समायोजन करना पड़ता है। आत्मवास्तवकरण जीवन में पूर्णता अर्थात् सम्पन्नता की चेष्टा करना है। उत्साह, विधायकता, सर्जन, आग्रह, विजयानन्द इसके महत्त्वपूर्ण अंग हैं। जीव की संभावनाएँ इसके आधार हैं। रुचियाँ, वरण-वृत्तियाँ तथा रुझान रूपी संभाव्य योग्यताएँ इसकी अभिव्यक्तियाँ हैं। परिवेश, प्रतिसमायोजन जीव तथा परिवेश के बीच संकलनात्मक अंतःक्रिया है। उदाहरणार्थ, शब्द होने पर प्रति-क्रिया कान से होती है। प्रत्यक्ष उत्तेजना कुछ सीमाओं के बीच होने से ही होती है। किसी भी विसंतुलन की ओर जीव वही प्रतिक्रिया करता है, जिससे संतुलन पुनः स्थापित हो जाय। वह स्वरक्षा तथा आत्मवास्तवकरण का श्रेष्ठतम उपाय ढूँढ़ता है। समायोज-नात्मक प्रतिक्रिया कभी मर्त होती है और कभी अमूर्त। मूर्त व्यवहार निष्क्रिय, सीमाबद्ध, अनम्य, पुनरावृत्तिशील एवं पहलरहित होता है। अमूर्त व्यवहार में व्यक्ति परिस्थिति की संभावनाओं को देखता है, अपने लिए सम्पूर्ण परिस्थिति की एक व्याख्या करता है। उसके मूल अंश पहचान कर चुन लेता है और उनके अनुसार परिवेश को, अपने को अथवा दोनों को स्वयं सक्रियतापूर्वक बदल डालता है। सामान्य व्यवहार में मूर्त तथा अमूर्त दोनों प्रकार के अंश होते हैं। परन्तु प्रधानता अमूर्तभाव की होती है। परन्तु मस्तिष्क में आघात लगने पर प्रायः अमूर्त व्यवहार की योग्यता नहीं रहती।

गोल्डश्टाइन ने प्रत्यक्ष में और सभी व्यापारों में आवश्यकताओं और उद्देश्यों को महत्त्वपूर्ण एवं प्रमुख निर्धारक माना है। शेष सब कुछ पार्श्वभमि म डालकर अग्रभूमि में रहने वाले विषय वही होते हैं जो उपस्थित परिस्थिति में जीव की माँगों से सम्बन्धित हों। भूखे व्यक्ति के लिए भोजन ही अग्रभूमि में होता है और शेष सब कुछ पार्श्वभूमि में रह जाता है। आवश्यकतानुसार प्रत्यक्ष तथा अन्य मानसिक व्यापार-योग्यताएँ शक्ति से अधिक अति-आग्रहों के दबाव तथा अन्य विशेष बाल्य-परिस्थितियों से घट भी जाया करती हैं।

गोल्डश्टाइन ने व्यवस्थित तथा अव्यवस्थित अर्थात् संकटग्रस्त व्यवहार में भेद किया है। व्यवस्थित व्यवहार सफलता की परिस्थितियों में होता है और शान्त, स्थिर, प्रसन्न एवं सुसमायोजित होता है। असफलता की परिस्थिति में व्यवहार चितापूर्ण, अशान्त, मनःपीड़ित, भयग्रस्त तथा व्यापक होता है और अव्यवस्थित अथवा संकटग्रस्त कहा जा

सकता है। मस्तिष्क-क्षति से अमूर्त व्यवहार के अयोग्य होने पर भी जीव कई प्रकार से परिवेश के प्रति समायोजन करता है। प्राय: मस्तिष्क के अक्षत अंश क्षत भागों के कार्य अपने ऊपर लेकर क्षतिपूर्ति कर देते हैं। जब क्षति बहुत ही व्यापक होती है, तब अवगति अर्थात् व्यतिरेक ह्रास का उद्‌भव होता है अर्थात् व्यक्ति विकास अथवा व्यतिरेकबोध के किसी पूर्व स्तर पर लौट जाता है। कई बार व्यक्ति असफलता की परिस्थिति से हट जाता है अथवा किसी अन्य स्वरक्षातंत्र का निर्माण कर लेता है।

कन्टर का यह मत है कि मनोविज्ञान का विषय जीवों तथा उनके परिवेश के बीच अंतर्व्यवहार का क्षत्र है। यह प्राकृतिक संसार का एक क्षेत्र है और जैसे प्रत्येक विज्ञान इस प्राकृतिक संसार के एक-एक विशिष्ट क्षेत्र का स्वतंत्र अध्ययन करता है, वैसे ही मनोविज्ञान का काम भी अपने विशिष्ट क्षेत्र का स्वतंत्र अध्ययन करना है। उसे अपने क्षेत्र के अस्तित्व अथवा अध्ययन के लिए देह-विज्ञान, जीवविज्ञान आदि अन्य विज्ञानों पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है। इस क्षेत्र के तथ्य देह-विज्ञान आदि के तथ्यों से सम्बन्धित अवश्य हैं। परन्तु इन मनोवैज्ञानिक तथ्यों को दैहिक तथ्य मात्र सिद्ध करने का प्रयत्न व्यर्थ है' उनको समझने के लिए अप्रमाणित देह-वैज्ञानिक धारणाओं का निर्माण करना और भी अनुचित है।

मनोविश्लेषणवाद

मनोविश्लेषणवाद का विकास मानसिक विकारों के अध्ययन तथा उपचार के प्रयत्नों से हुआ है। इसके संस्थापक सिगमंड फ्रायड ने मनोविज्ञान में प्रेक्षण से सामान्यीकरण और सामान्यीकरण से अप्रेक्ष्य निर्धारकों की व्याख्या की ओर बढ़ने वाले अनुभववाद का उपयोग तथा प्रचार किया। मनोविज्ञान को अन्य विज्ञानों जैसा आधार देने के लिए उसने यह प्राक्कल्पना प्रस्तुत की कि मन जीवन की आवश्यकताओं से विकसित उपयुक्त रचनायुक्त, देश स्थित एक मानसिक उपक्रम है, जो कुछ परिस्थितियों में केवल एक स्थान पर चेतना उत्पन्न करता है। चेतन प्रक्रियाओं की अपने में पूण अखंड श्रेणियाँ नहीं हैं। अत: मानसिक प्रक्रियाओं के साथ-साथ उनकी अपेक्षा अधिक पूर्ण भौतिक अर्थात् शारीरिक प्रक्रियाएँ भी होती रहती होंगी, क्योंकि कुछ के साथ चेतना होती है और शेष के साथ नहीं।

फ्रायड ने मनोविज्ञान के लिए आवश्यक प्रतीत होने वाले, प्रमाणों द्वारा सिद्ध न हो सकने वाले, परन्तु बढ़ते हुए मनोवैज्ञानिक अनुभव द्वारा पुष्ट होते रहने वाले, कुछ सामान्य सिद्धान्तों को सामान्य आधार के रूप में स्वीकार किया है। इनमें मानसिक क्षेत्र में पूर्ण नियतिवादी कार्य-कारण-सिद्धान्त सर्वोपरि है। मानसिक ऊर्जा को भौतिक ऊर्जा ही मानना व्यर्थ समझते हुए, भौतिक विज्ञानों से स्वतंत्र रखते हुए और मनोविज्ञान के क्षेत्रों

में अपनी अलग नवीन धारणाएँ बनाते हुए भी, अंत में मानसिक प्रक्रियाओं की भी भौतिक, विद्युतात्मक अथवा रासायनिक ऊर्जा से वह रूपांतरण द्वारा उत्पत्ति में एकवादी विश्वास मानता है। मानसतंत्र की उत्तेजनाशीलता में साम्य के पुनःस्थापन अर्थात् स्थिरता का और साम्य पुनःस्थापन में सफलता होने तक विकार के हठात् पुनरावर्तन का सिद्धान्त भी है। मानसिक ऊर्जा की अनेक आर्थिक अर्थात् परिमाणात्मक प्रक्रियाएँ मानी जाती हैं—पदार्थों में, विचारों में अथवा अपने ही शरीर में मानसिक ऊर्जा प्रतिष्ठित करना, उसका निरावेश, एकत्रण, रूपांतरण आदि। इन सब प्रक्रियाओं में थोड़ी या बहुत ऊर्जा का व्यय होता रहता है। इस ऊर्जा-व्यय को रोकने में भी ऊर्जा का व्यय होता है। प्रबल आन्तरिक संघर्ष की अवस्था में कोई बाह्य क्रिया नहीं होती है, परन्तु ऊर्जा बहुत व्यय होती है। मानसिक अर्थव्यवस्था में उत्तेजना जीव को प्रभावित करते हुए उसमें तनाव रूपी असाम्य उत्पन्न करती है। इस तनाव के फलस्वरूप क्रिया रूपी ऊर्जा-विसर्जन होता है, जिससे शान्ति अथवा संतुष्टि रूपी साम्य का पुनः स्थापन होता है। इस ऊर्जा-विसर्जन को प्रेरित करने तथा सरल बनाने वाली शक्तियाँ मूल प्रवृत्तियाँ अथवा अंतर्धकेलें कही जा सकती हैं। यही सम्पूर्ण क्रियाशीलता के अन्तिम कारण हैं। इनकी उत्पत्ति जीव की रासायन-भौतिक अवस्था से होती है। इनकी धारणा अस्पष्ट होते हुए भी अनिवार्य है। यह शारीरिक जगत् तथा मानसिक जगत् के बीच पुल की भाँति हैं, शरीर के नाते मन से की गयी माँगें हैं। कुछ विशिष्ट परिमाण में ऊर्जा का विशिष्ट दिशा में अपने लिए मार्ग बनाना और इस प्रकार मानसिक साम्य की रक्षा करना इनका काम है। यह मूल प्रवृत्तियाँ नवजात में विद्यमान रहती हैं। परन्तु उसके विकास के साथ बाहर से आयी हुई अवरोधक शक्तियाँ भी उसमें घर कर लेती हैं और मूल प्रवृत्तिजनित ऊर्जा का विरोध, अवरोधन अथवा मार्गान्तिरण करती हैं। प्रौढ़ व्यक्तियों के अंदर इन मूल प्रवृत्त्यात्मक तथा अवरोधात्मक शक्तियों के बीच जटिल अंतःक्रियाएँ होती रहती हैं। जितनी मात्रा में व्यक्ति पूर्ण मानसिक स्थिरता अथवा साम्य की ओर पहुँच पाता है, उतना ही उसे शारीरिक अवस्था के परिवर्तन के साथ-साथ सुख अर्थात् संतुष्टि का अनुभव होता है, और जितना ही वह पूर्ण स्थिरता से विचलित होता है उतना ही उसे असुख, असाम्य, अथवा तनाव का अनुभव होता है। और क्योंकि तनाव उत्तेजना से होता है, अतः असुख उतेजन की वृद्धि से तथा सुख उत्तेजन की कमी से, अथवा उत्तेजन से उत्पन्न तनावावस्था में, उसे ऊर्जा-विसर्जन से सम्बन्धित मानना पड़ेगा। इसका ज्वलन्त उदाहरण कामवृ यों में मिलता है। परन्तु कामोत्तेजन का तनाव भी सुखात्मक प्रतीत होता है, क्योंकि प्रायः उसमें आने वाले सुख की आशा भी होती है और वह उस तनाव को भी सुखमय बना देती है।

मूल प्रवृत्ति की संतुष्टि किसी विषय से ही हुआ करती है। वह विषय व्यक्ति का

अपना ही शरीर भी हो सकता है और कोई अन्य बाह्य पदार्थ भी। किसी मूल प्रवृत्ति का विषय बदल भी सकता है। अर्थात् पहले एक विषय से सम्बद्ध मूल प्रवृत्ति विशेष परिस्थितियों में इस विषय से हटकर दूसरे किसी विषय से भी सम्बद्ध हो जा सकती है। कभी-कभी कोई मूल प्रवृत्ति किसी विषय से अति प्रगाढ़ सम्बन्ध होने पर भी अपनी पूर्ण संतुष्टि का त्याग कर अपने को किसी संयम-सीमा में बाँध लेती है। इसे फ्रायड ने लक्ष्याव-रोधन कहा है। कभी मूल प्रवृत्ति में सामाजिक दृष्टि से हितकर बनाने वाला परिवर्तन भी होता है, जिसे शोधन कहा गया है। फ्रायड का विचार रहा है कि कला-वृत्तियाँ इस शोधन-प्रक्रिया का ही परिणाम हैं।

फ्रायड ने स्वरक्षक मूल प्रवृत्तियों और कामरूपी मूल प्रवत्तियों में भेद किया है। स्वरक्षक प्रवृत्तियाँ भख, सत्तालोभ आदि हैं। जैसे इनकी अपनी-अपनी प्रबल शक्ति होती है, वैसे ही कामवत्ति की भी अपनी-अपनी प्रबल शक्ति होती है, जिसे फ्रायड ने लिबिडो नाम दिया है। लिबिडो कामेच्छा है। यह वह घटती-बढ़ती शक्ति है जो कामोत्तेजन के क्षेत्र के अंतर्गत प्रतिक्रियाओं तथा परिवर्तनों के परिमाण का आधार है, और इसका अपना अलग विशिष्ट स्वरूप भी है।

फ्रायड ने काम को एक मूल प्रवृत्ति नहीं, शरीर के विभिन्न उद्गमों से उत्पन्न अनेक स्वतंत्र मल प्रवृत्तियों का समूह माना है। इन सबका लक्ष्य अपने-अपने शरीर क्षेत्र में संतुष्टि अर्थात् अंग-सुख प्राप्त करना है। फ्रायड ने काम के उद्गम, विषय और लक्ष्य में भी भेद किया है। उद्गम शरीर के वह अंग हैं, जो कामोत्तेजनाओं की ओर प्रतिक्रियाशील होते ह। अर्थात् यह कामोत्पादक क्षेत्र हैं। प्रमुख कामोत्पादक क्षेत्र जननन्द्रिय क्षेत्र हैं। परन्तु शिश के विकास के पूर्व प्रजनन काल में मुख, गदा आदि अन्य देहांग भी कामोत्पादक क्षेत्रों का काम दे सकते हैं। फ्रायड के मतानुसार काम प्रवृत्ति शिशुओं में भी विद्यमान होती है। परन्तु उसका पूर्ण सामान्य विकास प्रौढ़ावस्था में ही होता है, जब सम्पूर्ण काम-चेष्टा की पूर्ति दो विलिंगी व्यक्तियों की जननेन्द्रियों की रतिक्रिया में होती है। मुख चुम्बन, विषयाधार व्यक्ति को खोजना, निहारना, उसके विभिन्न कामोत्पादक अंगों को छूना, उसके कपड़ों में आसक्त होना आदि सामान्य काम के पूर्व चरण होते हैं। किन्तु जब यह क्रियाएँ स्वयं रतिक्रिया का स्थान ले लें, जब व्यक्ति केवल इनमें ही रत रहे, और जब इनसे ही जननेन्द्रियों के मिलन बिना, स्खलन हो जाय, तब काम का असामान्य विकास समझना चाहिए। ऐसे ही प्रौढ़ काम का विषय कोई विलिंग व्यक्ति होता है। परन्तु किसी व्यक्ति में काम का विषय कोई सलिंग व्यक्ति अथवा वह स्वयं भी हो सकता है। विकसित व्यक्ति में जननेन्द्रिय द्वारा विलिंग व्यक्ति से रति ही सामान्य विकास का लक्षण है। सलिंग-रति अथवा स्वरति असामान्य विकास अर्थात् विकास में अवगति का चिह्न है। इसी

प्रकार काम का सामान्य लक्ष्य जननेन्द्रियों के मिलन द्वारा रति-क्रिया अर्थात् मैथुन, गर्भाधान तथा प्रजनन ही हैं, अन्य कोई कामचेष्टा नहीं।

स्वरक्षक तथा काम-प्रवृत्तियाँ दोनों सुख प्राप्त करने और कष्ट से बचने पर केन्द्रित रहती हैं, अर्थात् सुख-सिद्धान्त का अनुसरण करती हैं। परन्तु कष्ट से बचने के लिए वास्तविकताओं से समझौता करके सुख को स्थगित करना अथवा उसे त्याग देना भी पड़ता है। यह वास्तविकता का सिद्धान्त है। स्वरक्षक प्रवृत्तियों को वास्तविकताओं का ध्यान रखना ही पड़ता है जो जीवन में शीघ्र ही आ जाता है। काम-प्रवृत्तियों को वास्तविकताओं की चिंता कम रहती है और जीवन में वास्तविकता के अनुसार कामसंयम दीर्घ काल में ही आ जाता है। स्वरक्षक प्रवृत्तियाँ काम-प्रवृत्तियों की अपेक्षा कम नम्य अर्थात् परिवर्तनशील भी हैं। इनकी तृप्ति के देहांग बदले नहीं जा सकते, न ही इनकी तृप्ति अनिश्चित काल तक स्थगित की जा सकती है। इनकी तृप्ति के विषयों में भी कुछ मूल अंशों का होना सर्वथा आवश्यक है। जैसे भूख की तृप्ति के लिए भोजन में ऑक्सीजन, पौष्टिक तत्त्व तथा जल का होना आवश्यक है। इसके विपरीत, काम-प्रवृत्ति के देह-क्षेत्र, लक्ष्य तथा विषय सबमें परिवर्तन, विचलन, विस्थापन, विकार अथवा आन्तरिक संघर्ष सम्भव है।

परन्तु फ्रायड ने स्वरक्षक प्रवृत्तियों को अन्त में काम-प्रवृत्तियों का ही विशेष रूप माना है, जिसमें व्यक्ति की काम-शक्ति लिबिडो बाह्य विषयों पर नहीं स्वयं उसी पर केन्द्रित होती है। विकास-क्रम में आत्मरति पररति के पूर्व, कदाचित् जन्मपूर्व काल में, उत्पन्न होती है, और जीवन भर रहती है। नवजात शिशु अन्य व्यक्तियों से प्रेम नहीं कर सकता। धीरे-धीरे वह अपनी स्वरति का कुछ अंश अपनी माता की ओर घुमा देता है और पररति का आरम्भ हो जाता है। काम और स्वरक्षा का विरोध वास्तव में स्वरति और पररति का ही विरोध है। सुसमायोजित व्यक्तियों में इन दोनों प्रवृत्तियों में साम्य रहता है और व्यक्ति अपनी और अपने प्रिय जनों, दोनों की देख-रेख कर पाता है। विषयायोजन होने पर पररति में अतृप्ति के कारण काम-शक्ति लिबिडो पुनः स्वरति की ओर लौट सकती है। यह गौण तथा विकृत आत्मरति होती है। इस प्रकार लिबिडो काम तथा स्वरक्षा प्रवृत्तियों सभी का एकमात्र आधार मान लिया गया है और उसे एरौस अर्थात् काम ही कहा गया है। इसका लक्ष्य सम्बद्ध करना, जीवन का सर्जन करना, बड़ी और फिर उससे भी बड़ी एकताएँ स्थापित करना, और इन एकताओं को सुरक्षित रखना है।

इस प्रकार परिभाषित काम के अतिरिक्त फ्रायड ने एक अन्य मूल प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया जिसे उसने ध्वंस-प्रवृत्ति और मृत्यु-प्रवृत्ति भी कहा है और थेनाटौस नाम दिया है। इसका लक्ष्य सम्बन्धविच्छेद करना, आक्रमण तथा नाश करना, जीवन को नष्ट करना

और जीवों को निर्जीव बना देना है। यह मनुष्यों को दूसरों को अथवा स्वय अपने को पीड़ित करने में अथवा दूसरों के हाथों पीड़ित होने में प्रवृत्त करती है। इस प्रवृत्ति का आधार एक और प्रवृत्ति है जिसे फ्रायड ने पुनरावृत्ति-बाध्यता कहा है। यह किसी स्थिति के हटन पर उसे पुनः स्थापित करने की प्रवृत्ति है। जीवन की उत्पत्ति जड़ से होती है। अतः इसके साथ ही जीवन के नाश तथा फिर जड़ अवस्था की पुनः स्थापना की प्रवृत्ति का जन्म हो जाता है। जीवन वृत्ति तथा मृत्यु वृत्ति व्यक्ति में कभी शान्तिपूर्वक मिली-जुली रहती हैं और कभी परस्पर संघर्षशील होती हैं, यदि काम-प्रवृत्ति तथा ध्वंस-प्रवृत्ति के सम्मिश्रण में ध्वंस वृत्ति अधिक बलवान् हो जाती है तो ीड़नरति अथवा पीड़ारति प्रकट होती है, और व्यक्ति में कामविषय-प्रिय व्यक्ति को पीड़ित करने अथवा उसके हाथों पीड़ा सहने से ही काम-संतुष्टि का अनुभव होता है। जब व्यक्ति को बाह्य जगत्-केन्द्रित मृत्यु-प्रवृत्ति अपन वश में कर लेती है, तब व्यक्ति घृणा से भरा और ध्वंसप्रिय हो जाता है और सबको कष्ट देने और नाश करने पर तुला रहता है। जब व्यक्ति की मृत्यु-वृत्ति स्वयं उसी पर केन्द्रित हो जाती है तब वह आत्महत्या तक कर सकता है।

मनोविश्लेषणवाद का एक मूल आधार अवचेतन मानसिक जीवन की धारणा है। फ्रायड ने बर्नहाइम द्वारा सम्मोहन के विषय में नैसी में किये गये प्रयोग देखे थे। उनमें प्रयोज्य को सम्मोहितावस्था में अनेक निराधार ऐन्द्रिय भ्रमों का अनुभव कराया गया था। उस अवस्था से निकलने पर उसे इन अनुभवों का कोई स्मरण नहीं था। परन्तु जब उससे आग्रह किया गया कि वह सम्मोहितावस्था के अनुभवों का स्मरण करने का प्रयत्न करे और उसे विश्वास दिलाया गया कि वे उसे स्मरण हो आयेंगे, तो वास्तव में उसे धीरे-धीरे सब कुछ स्मरण हो गया। इससे फ्रायड ने यह निष्कर्ष निकाला कि व्यक्ति में अज्ञात-ज्ञान भी हो सकता है। अर्थात् मानसिक जीवन का कुछ भाग चेतना की पहुँच के परे गुप्त रह सकता है। वियेना में ब्रायर के सहयोग से मनोरोगियों की सम्मोहन द्वारा चिकित्सा करने में उसने देखा कि हिस्टीरिया के रोगियों के लक्षण उनके पूर्वजीवन के अति महत्त्व-पूर्ण विस्मृत आघातिक अनुभवों पर आधारित होते हैं। सम्मोहित अवस्था में इन अनुभवों के पुनः स्मरण से उनका शोधन अर्थात् उपचार हो जाता है। इससे अनुमान करके फ्रायड ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि उपर्युक्त लक्षण अविसर्जित उत्तेजन मात्राओं के दमन द्वारा, चेतन से अवचेतन मन में निष्कासन तथा तब उनके रूपान्तरित असामान्य विसर्जन से उत्पन्न होते हैं। शोधनात्मक उपचार द्वारा रोगी के मन से अवचेतन उद्वेग, भार-रूपी ग्रन्थियाँ उतर जाती हैं। विचाराग्रह विकृति से ग्रस्त रोगियों को स्वयं भी प्रतीत होता है कि उनके कुछ लक्षण जैसे किसी दूसरे जगत् से आये हुए प्रबल विदेशी हों। मानसिक जीवन के उसी दूसरे जगत् को अवचेतन कहा गया है। अवचेतन के ऊपरी

स्तर पर स्थित एक भाग में व्यक्ति की वह स्मृतियाँ संचित रहती हैं, जो सरलता से अर्थात् कठिन परिश्रम के बिना ही लौटकर अर्थात् पुनः स्मृत होकर चेतना में आ सकती हैं। इस भाग को अर्धचेतन अथवा पूर्वचेतन कहा गया है। मुँह से अयथार्थ शब्द का निकल जाना, सुपरिचित नामों अथवा स्थानों का भूल जाना, वस्तुओं को इधर-उधर रखकर भूल जाना आदि त्रुटियाँ सब अवचेतन के इसी भाग के काम हैं। अवचेतन का शेष अर्थात् मुख्य भाग इसकी अपेक्षा अधिक गहराई पर होता है, चेतना की इस हद तक पहुँच नहीं ही हो सकती और यदि संभव भी है तो विशेष असाधारण प्रकार के प्रयास से। इसमें दमित ऊर्जायुक्त विचार, भाव आदि रहते हैं। दमन की उत्तर प्रक्रिया प्रतिरोध है, इसका काम दमित विचारों तथा भावों की ऊर्जा के विसर्जन को रोकना है। यह प्रतिरोध प्रायः सुरक्षा-तंत्रों का रूप लेता है। मनश्चिकित्सा का काम विशेष विधि तथा कौशल द्वारा इन सुरक्षा-तंत्रों का आवरण हटाकर इस प्रतिरोध को विफल कर देना और दमित ऊर्जा को मुक्त करके फिर से चेतना में ले आना है।

फ्रायड के मतानुसार अवचेतन की मुख्य अनुसंधानीय अभिव्यक्ति स्वप्नों में होती है। स्वप्न निद्रा का एक भाग होता है। निद्रा समय-समय पर हमें बाह्य जगत् की वास्त-विकताओं से कुछ देर के लिए अवगमित करके कुछ-कुछ वैसी ही अवस्था में लौटा लाती है, जो जन्म के पूर्व गर्भ में थी, जहाँ गरमाहट थी, अंधेरा था, और कोई उत्तेजना नहीं थी। कुछ लोग सोते समय गर्भ की भाँति गेंद जैसे गोल भी हो जाते हैं। चेतना का नियंत्रण धीरे-धीरे घटता जाता है। केवल परमावश्यक जैवी क्रियाएँ चलती रहती हैं। मनमंच अवचेतन की वाणी के प्रति ग्रहणशील हो जाता है। स्वप्न यही अवचेतन वाणी है। स्वप्न अवचेतन से उदय होने वाली दमित माँगों अथवा इच्छाओं की अभिव्यक्ति है, जो प्रायः मूल प्रवृत्तियों की संतुष्टि के लिए होती है, जो चेतन जागृत अवस्था में स्वीकार्य नहीं होतीं और जिनके विषय में कोई समस्यात्मक अन्तर्द्वन्द्व होता है। सो रहा अहम् निद्रा रूपी अपगमन को बनाये रखने के लिए उस पर पहरा देता रहता है। वह अवचेतन की मूल प्रवृत्त्यात्मक माँगों को विघ्न के रूप में देखता है, और इस विघ्न को दूर करने के लिए इन अवचेतन माँगों की पूर्ति की प्रत्यक्ष प्रतीति उत्पन्न करता है। फ्रायड ने इसे स्वप्न-कार्य कहा है; अवचेतन माँगों को तृप्त स्वप्न-सामग्री, और जो कुछ स्वप्न में दीखता है, उसे व्यक्त स्वप्न सामग्री। परन्तु उसने सभी स्वप्नों को इच्छापूर्त्यात्मक नहीं कहा। जब अवचेतन सुख-वृत्ति की पूर्त्ति चेतन अथवा पूर्वचेतन के लिए भयानक प्रतीत होती है, अवचेतन-माँगें पूर्ति का रूप नहीं ले पातीं, और स्वप्न अप्रिय, भयग्रस्त अथवा प्रबल संघर्ष अभिव्यक्त करने वाले होते हैं। भयानकता बहुत अधिक होती है, निद्रा भंग हो जाती है और व्यक्ति जाग जाता है। इससे बचने के लिए स्वप्न-कार्य ऊर्जा-विसर्जन की माँग करनेवाली अवचेतन-

शक्तियों और इनका विरोध करनेवाली अहम् की दमनकारी स्वप्न-प्रतिबन्धक शक्तियों में समझौता कर लिया करता है। इस समझौते में स्वप्न की मूल आकृति में परिवर्तन हो जाता है और प्रायः स्वप्न अर्थहीन और बुद्धिरहित प्रतीत होने लगता है। परन्तु वास्तव में स्वप्नों के इस प्रकार के रूप धारण के भी अपने नियम होते हैं। व्यक्ति के स्वप्न का कोई एक थोड़ा-सा अंग बहुत से अवचेतन विचारों एवं भावों के पूरे गुच्छ का प्रतीक एवं सूचक हो सकता है। मूल प्रवृत्तियों, उद्वेगों, मानसिक ऊर्जा-भारों आदि की अपनी वास्तविक जागृतावस्था के विषयों के बजाय, स्वप्न में, विस्थापन-नियम के अनुसार, उनके समान अथवा उनसे किसी प्रकार संबंधित अन्य विषयों से समबद्धता हो सकती है। जाग्रतावस्था के अलग-अलग असम्बद्ध विचारों का एक स्वप्न-विषय में संघनन हो सकता है। अर्थात् स्वप्न अपनी अलग, तर्कविरुद्ध, व्याकरणहीन, असंगतिपूर्ण भाषा का उपयोग करते हुए व्यक्ति के सामने इन अंशों को एक में मिलाकर एक परिष्कृत गाथा प्रस्तुत कर देते हैं। स्वप्नों में बहुत से प्रतीकों का उपयोग होता है, जो प्रायः चित्राकृति होते हैं। इनमें से कुछ प्रतीक सामान्य अर्थात् सार्वजनिक हैं। भवन मानव-शरीर का प्रतीक है। इसमें छज्जों, आलों के होने न होने से पुरुष तथा स्त्री शरीर में भेद हो जाता है। माता-पिता स्वप्नों में राजा-रानियों के और भाई-बहन लघु-जन्तुओं, कीड़े-मकोड़ों या चूहों के रूप में आते हैं। जल जन्म का और यात्रा मृत्यु का प्रतीक है। जेबें, गमले, फूलदान, पात्र, थैले, बटुए, दराज़, कलश, बक्स, द्वार, पहाड़ी मैदान, बन तथा जल स्त्रीलिंग के प्रतीक हैं। कमरे और भंडार गर्भाशय के, घोंघे, शम्बूक, गिरजाघर और पूजाघर स्त्रियों के, मणियाँ स्त्रियों की खुली हुई जननेन्द्रियों की और सेब, आड, संतरे आदि स्तनों के प्रतीक हैं। ऐसे ही चोगा और टोपी पुरुषों के, छड़ियाँ, चाभियाँ, चाक, खंभे, पेन्सिलें, तोपें, साँप, पेड़, हथौड़े, यंत्र और अंक ३, पुरुषों की जननेन्द्रियों के, पुल मैथुनरत लिंगों के, अथवा जन्म तथा मृत्यु के, और वायुयान तथा गुब्बारे स्तम्भन के प्रतीक हैं। मकड़ी आक्रामक माता की प्रतीक है और मकड़ी का डर सगोत्ररति के भय का तथा स्त्रियों की जननेन्द्रियों से घृणा का। फिसलना और नीचे की ओर खिसकना और टहनियाँ खींच कर तोड़ना हस्तमैथुन के, और चढ़ना, सवारी करना, गोली चलाना, नृत्य करना और लयपूर्ण प्रबल गतियाँ यौन मैथुन के प्रतीक हैं। दाँतों का गिरना और निकलना, हस्त-मैथुन के दंड के रूप में पुंस्त्वहरण के प्रतीक हैं। मनोविश्लेषणवादियों का विश्वास है कि यदि स्वप्नद्रष्टा व्यक्ति स्वप्न की सम्पूर्ण आकृति के प्रभाव से मुक्त होकर उसके एक-एक अंश को लेकर उनसे उदित मुक्त साहचर्यों अर्थात् मुक्त विचार-प्रवाहों का वर्णन करने लगे, तो मनोविश्लेषक अपने विशिष्ट कौशल के द्वारा इन वर्णनों के अंदर स्वप्नद्रष्टा के गुप्त स्मरणों, विचारों, भावों, प्रश्नों, तर्कों आदि को पहचान सकता है और उसकी समस्याओं को सुलझाने में सहायता कर सकता है।

फ्रायड ने अवचेतन की अन्य प्रकार की अभिव्यक्तियों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। इनमें व्यावहारिक जीवन की दिनचर्या में होने वाली अनेकों प्रकार की त्रुटियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें व्यक्ति की उन अवचेतन इच्छाओं की अभिव्यक्ति होती है, जिसका उसकी चेतन इच्छाओं से विरोध होता है। मुँह से अयथार्थ शब्द निकल जाने के पीछे अवचेतन इच्छाएँ निहित होती हैं। वस्तुओं को इधर-उधर रखकर भूल जाना, वस्तुओं और नामों को भूल जाना, लिखने-पढ़ने, सुनने, कोई क्रिया करने आदि में त्रुटि हो जाना भी अवचेतन की क्रियाशीलता के चिह्न हैं। परन्तु अवचेतन की सर्वाधिक समस्यारूप अभिव्यक्ति मनोविकारों के रूप में होती है। मन:क्षिप्ति में जाग्रत विचार, भाषा तथा क्रिया में भी, स्वप्न की भाँति, अवगति-संघनन, विस्थापन आदि प्रक्रियाएँ होती हैं। मनोविक्षिप्ति का आधार अवचेतन इच्छाओं और वास्तविकता-केन्द्रित चेतन आक्षेपक अर्थात् सेन्सर में समझौता होता है। विक्षिप्तिलक्षण अवचेतन इच्छा का विरोधी शक्तियों द्वारा विकृत किया हुआ रूप होता है।

उपर्युक्त तत्त्वों तथा नियमों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा निर्धारित व्यक्ति-विकास में मनोविश्लेषकों ने अपने सिद्धान्तों के अनुसार अलग ही प्रकार के चरण बताये हैं। उनके मतानुसार जन्म गर्भ के साम्यात्मक जीवन को उथल देने वाला आघातकारी अनुभव है और जीवन भर के चिन्ता-भावों का मूल रूप है। नवजात का जीवन प्रथम आत्म-रति के स्तर पर रहता है। बाह्य पदार्थों की ओर उसका ध्यान न्यूनतम मात्रा में ही जाता है। अधिकांश उत्तेजनाओं के प्रति उपयुक्त क्रिया करना उसकी योग्यता के बाहर होता है। अत: जब तक भूख, ठंड आदि से उत्पन्न कष्ट उसे जागने को बाध्य नहीं करता, वह सोया रहता है, अर्थात् बाह्य जगत् के प्रति उदासीन एवं आत्मरत रहता है। उसकी आवश्यकताएँ तत्काल पूरी हो जाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उसे बाह्य जगत् के साथ एकाकार होने की अस्पष्ट विषयहीन कामना मात्र हो पाती है। इस अवस्था को फ्रायड ने सामुद्रिक भावना और गर्भ में लौटने अथवा अभावावस्था जैसी कहा है। इसमें कामवृत्ति और मृत्युवृत्ति का सम्मिश्रण होता है जो निष्क्रियता का रूप ले लेता है।

शैशव की कामवृत्ति बहुविषयी तथा बहुक्षेत्रीय होती है। इसी में से विकास के फल-स्वरूप सामान्य व्यक्तियों में प्रजननांग क्षेत्रप्रधान हो जाता है और अन्य देहक्षेत्रों से काम-संतुष्टि में सहायक काम लिये जाते हैं। असामान्य अर्थात् विकृत व्यक्तियों में कोई अन्य ही क्षेत्र प्रमुख हो जाता है। जिन व्यक्तियों में कामवृत्ति शैशवीय स्तर से आगे नहीं बढ़ पाती, वे बहुक्षेत्रीय ही रहते हैं। शिशु के विभिन्न स्वतंत्र, स्वायत्त-क्रियाशील कामोत्तेजनाक्षेत्र होते हैं। उसकी सर्वप्रथम तथा सर्वाधिक कामसंतुष्टि अर्थात् सुख-प्राप्ति माता के स्तन

अथवा दूध की बोतल की टोंटी से सम्बन्वित होती है। इसे चूसने के ऐन्द्रिय सुख को अनुभव करनेवाला देहक्षेत्र मुख है। चूषण-क्रिया स्वयं सुखदायी होती है। तभी शिशु बहुधा अपने अँगूठे अथवा अपनी जीभ को ही चूसा करता है। इस प्रकार अपना ही शरीर उसके प्रेम का विषय बन जाता है। परन्तु आयु भर वह किसी-न-किसी रूप में अपने प्रथम विषय मातृ-स्तन को अर्थात् माता को ढूँढा करता है। मौखिक काल में उसकी कामवृत्ति उभयार्थक होती है। उसमें काम और मृत्युवृत्ति का मिश्रण होता है। क्योंकि वह कामविषय दूध को अपने में लेकर निगल जाता है और इस प्रकार उसका अस्तित्व भी मिटा देता है। साथ ही उसका प्रेम अस्थायी होता है और संतुष्टि के उपरान्त समाप्त हो जाता है। क्योंकि वह दूध पी चुकने के उपरान्त उसकी ओर से उदासीन हो जाता है। जो वयस्क मौखिक स्तर पर ही रहते हैं उनका प्रेम भी अस्थायी लाभाधारित और नाशप्रिय होता है। इस स्तर पर शिशु के औद्वेगिक सम्बन्ध एकीकरणात्मक होते हैं। अर्थात् वह दूसरों जैसा होना चाहता है, जो स्नेहाभिव्यक्ति से भी हो सकता है और किसी को अपने पद से हटाकर उसका स्थान ले लेने से भी। मौखिक स्तर पर यह एकीकरण अंतःक्षेपण अर्थात् पदार्थ को खाने अर्थात् अपने शरीर के अंदर प्रविष्ट कर लेने से होता है। मनोविश्लेषकों ने व्यक्ति-विकास के मौखिक चरण को भी मौखिक निष्क्रिय तथा मौखिक आक्रामक दो उपचरणों में विभाजित किया है। मौखिक निष्क्रिय उपचरण को मौखिक परतंत्र उपचरण भी कहा जाता है। यह जीवन के प्रथम वर्ष में कई महीनों तक रहता है। इसकी विशेषता शिशु द्वारा चूषण से सुख-प्राप्ति है। इसमें कदाचित् शिशु अपने और बाह्य जगत् में स्पष्ट भेद नहीं कर पाता है। मौखिक आक्रामक उपचरण दूसरा वर्ष पास आने अथवा लग चुकने पर आरम्भ होता है। इसकी विशेषता दाँतों का निकलना है। इसमें शिशु को यह बोध हो जाता है कि माता के स्तन अपने ही अंग नहीं हैं और इच्छा रहने पर भी हर समय उपलब्ध नहीं रहेंगे। अतः वह बलपूर्वक आक्रामक ढंग से माता के स्तनों को पाने का प्रयत्न करता है, और उन्हें छीनता और काटता भी है।

लिबिडो के विकास का दूसरा चरण गुदीय क्रूरताप्रिय कहा जाता है। इसकी अभिव्यक्ति जीवन के द्वितीय तथा तृतीय वर्ष में मल-मत्र त्याग में सुख प्राप्ति और मल-मूत्र को रोकने और गुदा की श्लेष्मकला के उत्तेजन द्वारा सुखवृद्धि के रूप में होती है। बच्चा प्रौढ़ों द्वारा उसके मल-मूत्र त्याग के नियंत्रण तथा नियमन का प्रतिरोध करता है—मनमाने समय पर मल-मूत्र का त्याग करके और नियत समय पर उसे रोककर। फलस्वरूप उसमें त्याग-रोक उभय-भाव उत्पन्न हो जाता है। साथ ही, एक ओर सक्रिय ढंग से मल-मूत्र त्याग करने, उसे उत्सुकतापूर्वक देखने, हाथ से छेड़न और इच्छानुरूप वश में करने के रूप में पुंलिंग सक्रिय त्याग की वृत्ति का विकास होता है। दूसरी ओर, गुदा में किसी बाह्य

पदार्थ को लेकर उत्तेजन का अनुभव करने के रूप में स्त्रीलिंग निष्क्रिय स्वागत की विपरीत-वृत्ति का भी विकास होता है। गुदीय चरण का भी गुदीय निष्कासक तथा गुदीय रोक दो उपचरणों में विभाजन किया गया है। पूर्व-गुदीय उपचरण निष्कासक होने के कारण आक्रामक एवं क्रूर होता है। उत्तर-गुदीय उपचरण रोकू होने के कारण स्नेह का उद्गम बन जाता है।

इसके उपरान्त विकास का मूत्रमार्गीय चरण आता है। यह स्वरत्यात्मक होता है। सक्रिय आक्रामक रूपमें यह बालकों में सामान्य काम-विकास का पूर्वसंदेश है और बालिकाओं में लिंग-ईर्षा तथा कर्मभ्रम का उत्पादक हो सकता है। निष्क्रिय रूप में यह बालकों में मूत्रेन्द्रिय-अनियन्त्रण तथा लिंगभ्रम का कारण बन सकता है। बहुधा अनैच्छिक मूत्रस्रावी बालक बड़े होकर स्त्रियों के से कोमल स्वभाव के हो जाते हैं। उपयुक्त आयु तक मूत्रेन्द्रिय नियंत्रण न हो पाने से प्रायः माता-पिता द्वारा दण्ड मिलता है, जिससे बच्चे के आतमसम्मान को ठेस लगती है, और उसमें लज्जा के भाव उत्पन्न होते हैं। तब प्रायः इस लज्जा भाव से संघर्ष के रूप में बच्चों में उच्चाकांक्षापूर्ण चेष्टाओं का विकास होता है।

लगभग चार वर्ष की आयु में काम-विकास का लिंगीय चरण आरम्भ होता है। इस चरण में बालकों में एडिपस भावग्रन्थि की और बालिकाओं में वैसी ही इलेक्ट्रा भावग्रन्थि की उत्पत्ति होती है। बालक अपनी माता के प्रति अपने पिता का स्थान लेने का प्रयत्न करता है। पिता को प्रतियोगी समझता है और उसे प्रशंसा और प्रेम के साथ-साथ घृणा की दृष्टि और विनाश की इच्छा से देखता है। बालक अपने लिंग के साथ खेल करने में आनन्द लेता है। परन्तु उसे इसका निषेध किया जाता है और लिंग को काट देने की धमकी भी दी जाती है। जब वह देखता है कि स्त्रियों के लिंग नहीं होता तो वह अनुमान करता है कि लिंग उनके भी होता होगा परन्तु काट दिया गया होगा। इस प्रकार बालक में पुंस्त्व-हरण-भय उत्पन्न होता है। वह हस्तरति छोड़ देता है और अपने पितृभय तथा पितृद्वेष को छिपाने के लिए अपनी माता जैसा निष्क्रिय मार्ग अपना लेता है, और उसकी आड़ में सभी अधिकारियों के प्रति विद्रोह पालता है। माता के प्रति स्नेह परतंत्रता अर्थात् प्रेमपात्र बनने की कामना का रूप ले लेता है और व्यक्ति स्त्रियों से दबने लगता है। कभी-कभी पितृप्रेम अधिक बलवान् होता है। तब बालक माता के प्रति अपनी लिंगीय चेष्टाओं का दमन कर लेता है और उसमें पिता के प्रति सलिंग निष्क्रिय कामेच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसे ऋणात्मक एडिपस ग्रन्थि कहा जाता है।

बालिकाओं में एडिपस ग्रन्थि का विपरीत रूप इलेक्ट्रा ग्रन्थि का विकास होता है। इनमें लिंगभेद का बोध उत्पन्न होने पर पुंस्त्वहरण-भय के स्थान पर लिंग-हानि-भाव और लिंग-ईर्षा के द्वारा पिता-प्रेम का विकास होता है। हस्तरति, शासनवृत्ति, आक्रामकता,

सलिंगरति भी हो सकती है। परन्तु माता को अपनी लिंगहीनता के लिए उत्तरदायी और अपने पिता के प्रेम में साझीदार मान कर बालिका उससे विरोध करने लगती है, उसका विनाश करना चाहती है, और अपने पिता के लिंग को प्राप्त करना चाहती है। वह माता का स्थान प्राप्त करना चाहती है और उपलिंग के रूप में शिशु पाना चाहती है। इस प्रकार वह सामान्य नारीत्व के मार्ग पर अग्रसर हो जाती है। अपने पुंस्त्वहरण का बोध उसे या तो अवरोधनजनित विक्षिप्ति की ओर ले जाता है, या पुरुषत्व-ग्रन्थि-रूपी चरित्र-परिवर्तन की ओर, या सामान्य नारीत्व की ओर।

अब प्रच्छन्नता-काल आता है, जो लगभग ६ से ११ वर्ष की वय तक रहता है। अब पुंस्त्वहरण-भय के और माता-पिता की ओर से प्राप्त सुरक्षा के खोने के भय के कारण सगोत्र कामवृत्तियोंऔरआक्रामकताओं का दमन और विस्मरण हो जाता है। माता-पिता से प्राप्त निषेध अपना लिये जाते हैं और पराहम् अर्थात् अंतरात्मा का रूप ले लेते हैं। यह बच्चे की एडिपी वासनाओं को नियंत्रण में रखता है। बच्चों का सलिंग जनक के साथ तादात्म्य हो जाता है। कामवृत्तियाँ अवरोधों तथा परिशोधों द्वारा दब जाती हैं। काम वासनाओं का स्थान कोमल भावनाएँ ले लेती हैं। विलिंग व्यक्तियों में रुचि लेना छोड़ दिया जाता है।

तब यौवनारम्भ होता है। काम-वासना पूर्णतया विकसित होकर नवीन विलिंग सम्बन्ध स्थापित करती है और जननेन्द्रियों पर केन्द्रित हो जाती है। सलिंग जनक की व्यवहार-शैली के नमूने पर ही किशोर की अपनी व्यवहार-शैली बनती है। सामान्यतः कामवृत्ति एवं कोमल प्रेमवृत्ति का सम्मिश्रण हो जाता है, जिससे सफल वैवाहिक जीवन के लिए आवश्यक मानसिक पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है। यदि यह सम्मिश्रण नहीं होता या अधरा या अपर्याप्त रह जाता है तो व्यक्ति कामानुत्तेजक स्त्रियों के प्रति कोमल आदर-पूर्ण प्रेम भावों का और कोमल आदरभाव के अयोग्य प्रतीत होनेवाली स्त्रियों के प्रति काम-वासनाओं का अनुभव करता है। यदि यह मानसिक संघर्ष विना सुलझे और तीव्र मात्रा में रह जाते हैं, तो उग्र औद्वेगिक विकार हो जाने की संभावना रहती है।

मनोविश्लेषणवादी उपर्युक्त काम-विकास-क्रम में परिवेश-जनित कारणों से होनेवाले विघ्नों एवं परिवर्तनों की संभावना को स्वीकार करते हैं। काम की आंशिक वृत्तियों के विकास का किसी पूर्व चरण पर रुक जाना बद्धमूलन कहलाता है। इससे उत्तर काल में कभी अड़चनें पड़ने पर कामवृत्ति के इन्हीं बद्धमूलनों की ओर पूर्वगमन अर्थात् लौट आने की आशंका रहा करती है। यह पूर्वावर्तन पूर्व कामविषयों पर भी लौट सकता है और पूर्व कामवृत्तियों पर भी। प्रत्येक अवस्था में मनोविक्षिप्ति उत्पन्न हो सकती है। पूर्वावर्तन का एक संभव कारण कुंठा भी है। अर्थात् काम के एक विषय की अप्राप्ति अथवा

एक अंश की अतृप्ति होने पर किसी अन्य पूर्व विषय की प्राप्ति में अथवा किसी अन्य पूर्व वृत्ति की तृप्ति में रति हो सकती है। कुण्ठा का एक अन्य सुलझाव ऊर्ध्वपातन भी है। इसमें समस्त काम-ऊर्जा तो नहीं उसके कुछ अंश को कलात्मक सर्जन आदि अकाम-कार्यों की ओर मोड़ दिया जाता है।

फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद ने व्यक्तित्व को नैसर्गिक विधान और सांयोगिक परिस्थिति गुच्छ दोनों का संयुक्त रचना-फल माना है। नैसर्गिक विधान मूल प्रवृत्तियों तथा क्षमताओं से मिलकर बना होता है और इनकी प्रबलता अथवा विकास-मात्रा विभिन्न व्यक्तियों में अलग-अलग होती है। इस विधान के मुख्य अंश लैंगिक भेद युक्त देहरचना, मूल प्रवृत्तियों की शक्तियों तथा व्यक्तिगत जैव विकास क्रम हैं, परिस्थितियाँ भी किसी व्यक्ति के पर्याप्त विकास के अनुकूल होती हैं और किसी अन्य व्यक्ति के प्रतिकूल। किसी व्यक्ति के नैसर्गिक विधान के बस की होती हैं, किसी अन्य व्यक्ति के बस की नहीं होतीं। नैसर्गिक क्रम से विकास भी माता-पिता और अन्य परिवेशांशों के शिक्षात्मक प्रभाव पर निर्भर होता है। भौतिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ ही उसे सब विकास-चरणों में से सफलतापूर्वक निकाल ले जाती हैं, अथवा किसी चरण पर बद्धमूल कर देती हैं। उसे मानसिक स्वास्थ्य का आनन्द लेने देती हैं, अथवा उसे मानसिक रोग ग्रस्त करती हैं।

फ्रायड ने व्यक्तित्व-रचना के तीन भाग बताये हैं—इदम्, अहम्, और पराहम्। नवजात शिशु में केवल इदम् ही होता है, अहम् और पराहम् का विकास जीवनकाल में होता है। इदम् व्यक्तित्व के विधान के आनुवंशिक एवं स्थिर भाग की, मुख्यतः उसकी देहाधारित मूल प्रवृत्तियों की, मानसिक अभिव्यक्ति है। यह व्यक्ति के जीवन के वास्तविक उद्देश्य नैसर्गिक मूल प्रवृत्यात्मक माँगों या आवश्यकताओं की तात्कालिक पूर्ति चाहता है। इसमें व्यक्ति की सुरक्षा के लिए किसी प्रकार की सावधानी बरतना या चिंता करना उसके स्वभाव में नहीं है। व्यक्ति की सम्पूर्ण मानसिक ऊर्जा इसी में संगृहीत रहती है, और इसी से रचनात्मक एवं ध्वंसात्मक मूल प्रवृत्तियों को मिलती है। इन प्रवृत्तियों की चेष्टा सदा यह रहती है कि व्यक्तियों को तत्काल सुख-शान्ति प्राप्त हो और तनाव मिटे। यह सुखोन्मुखी नियम कहलाता है। इदम् पूर्णतया अवचेतन होता है। वयस्कों के इदम् में अपरिवर्तित मूल अवचेतन सामग्री के साथ-साथ वह मानसिक सामग्री भी होती है जो व्यक्ति के अहम् द्वारा दमन करके इदम् में वापस फेंक दी जाती है। इदम् के अंदर होनेवाली मानसिक प्रक्रियाओं को आदि मानसिक प्रक्रियाएँ कहा गया है। यह न तर्क के नियमों के अधीन होती है, न व्यक्ति की सुरक्षा की चिंता करती है, न बाह्य जगत् से सम्पर्क रखती हैं। अंदर ही अंदर यह देहप्रत्यक्षों तथा स्वलक्षित प्रत्यक्षों का अनुभव किया करती है और सुखोन्मुखी नियम के अनुसार समायोजन प्रतिक्रियाएँ किया करती है। इनके लिए

न कोई मूल्य है, न उचित-अनुचित है, न नैतिक मान है, न दूसरों का ध्यान है। इदम् तो उबलते हुए उत्तेजनों का अर्थात् विसर्जन चाहती हुई मूल प्रवृत्त्यात्मक शक्तियों का कड़ाहा है। इसकी ऊर्जा असीम, तरल द्रुतप्रस्रावी और सरलता से संहत अथवा विस्थापित हो जाने वाली है। इसकी मूल एवं दमित सभी क्रिया-वृत्तियाँ और अनुभूतियाँ अक्षय एवं अपरिवर्तनीय हैं। इन पर समय के बीतने से कोई अंतर नहीं आते। इसीलिए स्वप्नों में चिरविस्मृत शैशव-स्मृतियाँ भी पुनरावृत्त हो जाती हैं, और मनोविकास के निर्धारण में पूर्व बाल्य के अनुभवों का बड़ा हाथ होता है। इदम् में संगृहीत ऊर्जाएँ असीम, अलक्षित, एवं अनियंत्रित होती हैं, और व्यक्ति से नवजात शिशुओं की भाँति उत्तरदायित्व भावना-हीन कार्य करती हैं।

इदम् की ऊर्जाओं से ही अहम् तथा पराहम् की उत्पत्ति होती है। इदम् का कुछ अवचेतन अंश बाह्य जगत् के प्रभाव से पूर्वचेतना में आने पर अहम् का रूप ले लेता है। शैशव में भूख, प्यास, शीत, रौरव आदि की बाढ़ के अस्पष्ट बोध, उससे उत्पन्न असुविधा, कष्ट तथा चिंता, और इनको स्वयं ही दूर करने में असमर्थता से अहम् का उदय होता है। यह शैशवीय अहम् अपने को ही जानता है और उसे अपने ही से प्यार है। वह अपनी आवश्यकताओं पर ही केन्द्रित रहता है। जब उसकी आवश्यकताएँ दूसरों की सहायता से पूरी हो जाती हैं, तब वह आनन्द तथा सर्व समर्थता आ अनुभव करता हुआ सो जाता है और आत्म-सम्मान की जाग्रति तथा वृद्धि होती है। परन्तु कुछ समय पाकर सभी क्षुधाओं एवं आवश्यकताओं का पुनर्जागरण होता है। इससे अहम् में आन्तरिक असंगति का संकेत मिलता है। वह वास्तविकताओं द्वारा उत्तेजन भी चाहता है और उनसे मुक्ति भी। आयु की वृद्धि के साथ-साथ वह अपने बजाय अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने वाले प्रौढ़ों के बाह्य जगत् को सर्वसमर्थ मानने लगता है और उसके साथ तादाम्य से स्वयं भी सर्व-समर्थता प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगता है। अहम् का मुख्य कार्य जीव की सुरक्षा है। इस कार्य के सम्पादन के लिए उसे कई दिशाओं में सचेष्ट रहना होता है। बाह्य जगत् की उत्तेजनाओं का बोध रखना, उनके अनुभवों को स्मृति में संगृहीत करना, पलायन द्वारा अति तीव्र उत्तेजनाओं से बचना, साधारण उत्तेजनाओं के प्रति अनुकूलन करना, और क्रियाशीलता द्वारा अपने लाभ के लिए बाह्य जगत् में परिवर्तन करना होता है। इदम् की आन्तरिक मूल प्रवृत्तियों की माँगों पर नियंत्रण रखना, उनकी संतुष्टि होने देने के पक्ष अथवा विपक्ष में निर्णय करना, उनकी संतुष्टि को उपयुक्त समय अथवा अवसर के लिए स्थगित करना, अथवा उनके उत्तेजनों का सर्वथा दमन करना होता है। व्यवहार के परिणामों का परिगणन करके संतुष्टि का सर्वसफल एवं यथासंभव संकटहीन ढंग निश्चित करना पड़ता है। सुखोन्मुख चेष्टाओं में वास्तविकताओं की सीमाओं के अंदर रहने और

जीवन की रक्षा करने का ध्यान रखना पड़ता है। यह वास्तविकता का नियम कहलाता है। वास्तविकता से सम्पर्क रखने के लिए अहम् बाह्य और आन्तरिक उत्तेजनाओं का प्रत्यक्षानुभव करता है, मूल प्रवृत्तियों की न्यूनतम कष्ट और अधिकतम सुख देने वाली संतुष्टि की संभावनाओं को तौलता है, और व्यक्ति की आन्तरिक योग्यताओं का और सभी परिस्थितियों का विचार करता है। साथ ही वह अपने वास्तविकता-बोध की वास्तविकता की परीक्षा भी करता रहता है—कोई ऐसा कार्य करके, जिससे वास्तविक प्रत्यक्ष मिट जायँगे और केवल स्वयमाधारित प्रत्यक्ष अप्रभावित बने रहेंगे। भाषा, तर्क, गति-नियंत्रण तथा आन्तरिक तनाव-नियंत्रण का विकास भी अहम् के वास्तविकता के नियम के अनुसरण के लिए ही होता है। इदम् की मूल प्रवृत्त्यात्मक माँगों और पराहम् के आग्रहों को रोकने के लिए अहम् अनेक सुरक्षा संरचनाओं से काम लेता है। कार्य-समर्थन अर्थात् यौक्तिककरण वास्तविकता का कुतर्क द्वारा अवास्तविक रूप प्रतिपादित करके वास्तविकता के आदर का ढोंग रचना है। त्रुटियों को प्रभावोत्पादक तर्क से ढकना है। एक और संरचना मेटन कहलाती है। यह पश्चाताप, बलिदान आदि द्वारा अपनी पूर्व दोष-युक्त क्रियाओं को मेटने का प्रयत्न है। इसी प्रकार, अस्वीकार संरचना विस्मृति, अप्रत्यक्ष कष्ट के इन्कार आदि द्वारा अति कष्टदायक अथवा अतिसंकटपूर्ण वास्तविकताओं से पलायन का प्रयत्न है। अंतःक्षेपण तथा तादात्म्य-स्थापन किसी व्यक्ति अथवा अन्य विषय की ओर एक साथ प्रेम और ध्वंस वृत्तियों की अभिव्यतियाँ हैं। प्रक्षेपण अपने दोषों को दूसरों में देखना है। पृथक्करण किसी अत्यन्त कष्टदायक उद्वेग को अपने संदर्भ से पृथक् कर देना है, जिसके परिणाम-स्वरूप कुछ देर के लिए न कोई प्रत्यक्ष होता है, न कोई क्रिया होती है और अहम् का सब कार्य जैसे रुक-सा जाता है। बाध्यता विक्षिप्तियों में बहुधा यह संरचना प्रगट होती है। विपरीतकरण किसी इच्छा के दमन के बाद उसके पुनरावर्तन को रोकने के लिए उसके विपरीत इच्छा का विकास है। पूर्वगमन लिबिडों की नवीन माँगों से संघर्ष करने में असमर्थता के अनुभव या डर से लिबिड़ों के किसी पूर्व विकास स्तर को लौटना है। ऐसे ही, मूल प्रवृत्त्यात्मक ऊर्जा को नवीन कामविहीन स्थानापन्न लक्ष्यों अथवा विषयों की ओर लगा देना शोधन कहलाता है। आपत्तिजनक प्रवृत्तियों का चेतना से अवचेतन-निष्कासन दमन कहलाता है। और उनको वहीं दमित रखने और फिर से चेतना में आने से रोकने को प्रतिरोधन कहा जाता है।

व्यक्तित्व के तीसरे अंश पराहम् का उदय कदाचित् शौच-प्रशिक्षण काल में, माता-पिता से विरोध, उनसे दंड पाने के भय, तथा उनसे स्नेह एवं रक्षा पाने की इच्छा के कारण, उनको अपने अंदर स्थापित कर लेने से आरम्भ होता है। उनके निषेध एवं अननुमोदन अपने निषेध एवं अननुमोदन हो जाते हैं। विकास के लिंगीय काल में एडिपस ग्रंथि के अंतर्गत

बालक पुंस्त्वहरण-भय से माता के प्रति कामवृत्ति त्याग देता है, और बालिका माता का प्रेम खो देने के डर से पिता के प्रति कामवृत्ति त्याग देती है। इस प्रकार कुंठित बच्चा विलिंगीय जनक का अंतःक्षेपण करके उससे तादात्म्य-स्थापन के लिए बाध्य हो जाता है। अंतःक्षेपित प्रतिमा में प्रायः माता और पिता दोनों का मिश्रण होता है और उसके अनुसार उनमें वास्तविकता से अधिक बल और तेज मान कर उन्हें आदर्श रूप समझ लिया जाता है। इस रूप में पराहम् आरम्भ में अहम् का ही एक नवीन अंश होता है। परन्तु धीरे-धीरे यह अहम् के विरोध में एक अलग मानसिक तथ्य का रूप ले लेता है। इसका अधिकांश भाग अवचेतन होता है। इसमें प्रेम और घृणा दोनों का समावेश होता है परन्तु प्रायः घृणा की प्रधानता होती है। बच्चे की जनकों के प्रति आक्रामकता उसके प्रेम, अनुशासन आदि के कारण उसके पराहम् में आकर अब उसके अपने ही अहम् पर लक्षित हो जाती है। अहम् द्वारा पराहम् की आशाओं के पूर्ण होने पर प्रसन्नता और गर्व का अनुभव होता है। दोनों में संघर्ष होने पर पराहम् अहम् पर अभियोग लगाता है और दूषित भावनाओं तथा विषाद का राज्य हो जाता है। उत्तेजना विषाद-चक्र मनोविकार में कभी पराहम् की ओर से अनुमोदन पर आनन्द की और कभी पराहम् की क्रूरता पर दूषित भावना और विषाद की पीड़ा की अभिव्यक्ति होती है। अंतराबन्ध मनोविकार में अहम् पराहम् के तानाशाही शासन से इतना दब जाता है कि संघर्ष छोड़ अवचेतना में जा छिपता है। सुसमायोजित वयस्कों में पराहम् आत्मनिरीक्षक होकर अंतरात्मा नैतिक और सामाजिक मापदंड का काम करता है। उसमें माता-पिता के व्यक्तित्व ही नहीं, उनके द्वारा आनेवाली पारिवारिक, जातीय, एवं राष्ट्रीय परम्पराएँ भी होती हैं, उनके द्वारा समर्थित सामाजिक वातावरण की माँगें भी, और साथ ही अध्यापकों, लोकप्रिय व्यक्तियों और सामाजिक उच्चादर्शों जैसे माता-पिता के उत्तराधिकारी और स्थानापन्न भी।

मनोविश्लेषणवाद ने अपने उपर्युक्त सिद्धान्तों का चरित्र, समाजीकरण, सामाजिक व्यवस्था, नेतृत्व, सभ्यता, धर्म, व्यवहार, दर्शन, इतिहास, शिक्षा, सभी क्षेत्रों में अनुप्रयोग किया है। फिर भी कुछ मुख्य मनोवैज्ञानिक समस्याएँ मनोविश्लेषणवादियों द्वारा उपेक्षित सी रही हैं। प्रत्यक्षीकरण तंत्र, गति तंत्र तथा इन तंत्रों के परस्पर सम्बन्ध, इदम् में प्रत्यक्षों का स्थान और स्वरूप, बद्धमूलन, पूर्वगमन, दमन इत्यादि सीखने की प्रक्रिया से सम्बन्ध ऐसे कुछ उपेक्षित विषय हैं। मनोविश्लेषकों ने मानसिक जीवन के परिवेशात्मक निर्धारकों को स्वीकार तो किया है, परन्तु अधिक ध्यान वैज्ञानिक निर्धारकों की ओर दिया है। उनके द्वारा प्रतिपादित सुखोन्मुखी नियम के विषय में कई प्रश्न उठते हैं, जिनका उत्तर कठिन है। सुखोन्मुखी नियम की सर्वव्यापकता में संदेह किया जा सकता है। कुछ आलोचकों ने कहा है कि वनस्पतियों में गर्भाधान के साथ कोई सुखानुभव नहीं होता। मानव-जीवन में

भी नतिक उत्तरदायित्वाधारित धर्म, कर्तव्यभावना, आदर्शवाद, आत्म-बलिदान, पर-सुखलक्षी कर्म सभी इस नियम के विपक्ष में हैं। लक्ष्यावरोध, कोमल भावना और शोधन भी सुखोन्मुखता के विपरीत ही हैं। न ही आत्मघृणा, आत्म-पीड़न अथवा मृत्युवृत्ति की धारणाएँ आत्मबलिदान को समझने के लिए पर्याप्त हैं। दूसरों के सुख के लिए कोई कितना ही कष्ट सहे, इसमें अपनी हानि अभिप्रेत नहीं होती, केवल परिस्थितिवश सही जाती है।

५

सामान्य मनोविज्ञान (१)

सामान्य मनोविज्ञान को मनोविज्ञान का मूल क्षेत्र कहा जा सकता है। यह शुद्ध ज्ञान संग्रह-वृत्ति द्वारा प्रेरित रहा है, एवं जीवन के व्यावहारिक तथ्यों पर आश्रित रहता हुआ और मनोविज्ञान की व्यावहारिक उपयोगिता में विश्वास रखता हुआ भी, व्यावहारिक अनुप्रयोग की चिन्ता से मुक्त रहा है। इसकी समस्याएँ मुख्यतः मनोविज्ञान के स्वरूप, विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं तथा मनोविज्ञान के विभिन्न अंगों में सामंजस्य-स्थापन द्वारा उसके सुसंगठन से सम्बन्धित रही हैं।

मनोविज्ञान के स्वरूप के विषय में बहुत सी समस्याएँ रही हैं। मनोविज्ञान की विषय-वस्तु की धारणा बदलती रही है। आत्मा, मन, अनुभव, चेतना, व्यवहार, मनुष्य, मनो-दैहिक जीव आदि उसकी अनेक परिभाषाएँ दी गयीं हैं। ऐसे ही मनोविज्ञान की अन्वेषण-विधि का प्रश्न बहुत ही विवादपूर्ण रहा है। आरम्भ में स्वाभाविक था कि व्यक्तियों अथवा समूहों की मानसिक स्थितियों एवं उनके व्यवहारों को समझने के लिए अपने साधारण-असाधारण अनुभवों तथा दूसरों से सुने गये अनुभववृत्तान्तों पर, अर्थात् इस अर्थ में, स्मृति एवं श्रुति पर ही मनन किया जाता। धीरे-धीरे इस बात की ओर विशेष ध्यान गया कि जीवन के कई क्षेत्रों में व्यक्तियों में विद्यमान चेतन-अनुभवों अथवा अवस्थाओं को जान लेने की आवश्यकता होती है। इन अनुभवों एवं अवस्थाओं का हाल जानने के लिए या तो अनिश्चित काल तक अवसर की प्रतीक्षा की जाये, जो पता नहीं कभी आयेगा भी या नहीं, या फिर स्वयं उन व्यक्तियों से पूछना पड़ेगा। व्यावहारिक जीवन में भी इस बात के कई उदाहरण मिलते हैं। चिकित्सकों को रोगियों के रोग का निदान करने के लिए उनसे ही अपना हाल पूछना पड़ता है। न्यायालयों में गवाहों से अपने साक्षात् अनुभवों एवं विचारों का वर्णन माँगा जाता है। राजनीतिक नेताओं को अपने कार्यक्रम के सम्बन्ध में जनता का मत जान लेना आवश्यक होता है। लगभग प्रत्येक व्यवसाय में व्यक्तियों की मानसिक वास्तविकताओं को जानने के लिए उनके द्वारा लिये गये विचारों, रुझानों और अनुभवों की अभिव्यक्तियों का सहारा लेना पड़ता है। यह प्रश्न-पद्धति आज भी प्रश्नावलियों के उपयोग के रूप में मान्य है। आधुनिक काल में भौतिक शास्त्रों के आदर्श पर चलने का प्रयत्न करने

वाले प्रायोगिक मनोवैज्ञानिकों ने भी प्रयोज्यों से पूर्वप्रस्तावित आदेशानुसार अंतःप्रेक्षण वृत्तान्त माँगना अपने प्रयोगों का महत्त्वपूर्ण अंग बनाया है।

परन्तु अधिकांश व्यक्तियों द्वारा दिये गये चेतनावस्थाओं के वर्णन न तो पर्याप्त मात्रा में सूक्ष्म होते हैं और न ही परस्पर संगतियुक्त होते हैं। इसलिए उनकी मानसिक स्थितियों की वास्तविकता अथवा सूक्ष्म मात्रा जान लेने के लिए अनेक अन्य पद्धतियाँ आवश्यक अथवा उपयुक्त समझी गयी हैं। इस प्रकार अपरोक्षानुभूति, बौद्धिक विश्लेषण, अनुभव-विश्लेषण, अंतःप्रेक्षण तथा प्रयोग के अतिरिक्त दैहिक प्रक्रिया, ज्ञान, भौतिक उद्दीपन-प्रतिक्रिया सम्बन्धान्वेषण, क्षेत्र-विश्लेषण, मानसिक एवं दैहिक सम्पूर्णों का प्रेक्षण, उत्प्रेरण विश्लेषण, व्यक्तिगत इतिहासान्वेषण, मन, व्यवहार-विकार-विश्लेषण, आदि अनेक विधियों का प्रतिपादन एवं विकास हुआ है। देह प्रक्रियात्मक आधार-विधि का उपयोग करने वाले मनोवैज्ञानिक प्रायः जीव की व्यावहारिक प्रतिक्रियाओं से आन्तरिक दैहिक प्रक्रियाओं का अनुमान लगाया करते हैं और कभी-कभी देह-प्रकार्य-विज्ञान-शास्त्रियों की तरह दैहिक प्रक्रियाओं का अपरोक्ष अर्थात् साक्षात् प्रेक्षण तथा मापन भी किया करते हैं।

मनोविज्ञान का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध स्पष्ट करने की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया है। विशेषतया मनोविज्ञान का दर्शन, जीव-विज्ञान, देह-विज्ञान, समाजशास्त्र, रसायन, गणित तथा सांख्यिकी से सम्बन्ध व्याख्या का विषय बना है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने मनोविज्ञान के कुछ मूल आधारभूत विश्वासों के प्रतिपादन करने का प्रयत्न भी किया है।

विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं के अध्ययन ने मनोविज्ञान के आधारभूत तथ्य उपलब्ध किये हैं। इन प्रक्रियाओं में प्रमुख स्थान संवेदनाओं का है। परन्तु जितना अध्ययन संवेदनानुभवों का हुआ है, उससे कहीं अधिक संवेदनाओं से सम्बन्धित इन्द्रियों तथा दैहिक प्रक्रियाओं का हुआ है।

ज्ञानेन्द्रियों का बाह्य ग्राहक, अंतर्ग्राहक, दूर-ग्राहक तथा शरीर-स्थिति-ग्राहक चार प्रकारों में वर्गीकरण किया गया है। यही वर्गीकरण संवेदनानुभवों पर भी अनुप्रयुक्त हो सकता है। सभी प्रकार की संवेदनाओं के संदर्भ में उत्तजना-बोध-द्वार, अंतरबोध-द्वार, ग्रहण-सीमाएँ, अव्यक्ति, अनुकूलन आदि प्रमुख प्रयोगविषय रहे हैं। सभी प्रकार की संवेदनाओं का दैहिक आधार-संवेदक-तंत्रिकाओं में है। विभिन्न ग्राहक विभिन्न प्रकार की भौतिक ऊर्जाओं को ग्रहण करते हैं और उन्हें उत्तेजनाओं में परिवर्तित करके संवेदक तंत्रिकाओं द्वारा विभिन्न प्रान्तस्थ संवेदकक्षेत्रों को संप्रेषित करते हैं। प्रयोगों द्वारा एक 'पूर्ण अथवा शून्य का नियम' सिद्ध हुआ है—कि किसी तंत्रिका-तन्तु में किसी उत्तेजना द्वारा कितने परिमाण की प्रतिक्रिया होती है और उत्तेजना प्रेषण कितने वेग से होता है, यह उत्तेजना के परिमाण पर नहीं, तन्तु-विशेष पर तथा उसकी अवस्था पर निर्भर हुआ

करता है। प्रत्येक तन्तु की अपनी सीमाओं के अन्दर ही उत्तेजन का आरम्भ तथा अन्त, उत्तेजनों की आवृत्ति, तन्तु की विशिष्टता, तन्तुओं से उत्तेजनों के प्रान्तस्थ क्षेत्र में पहुँचने का क्रम, इन सबसे संवेदनाओं की विभिन्न प्रकार की विशेषताओं की उत्पत्ति होती है। इस सम्बन्ध में तंत्रिका-वैशिष्ट्य-सिद्धान्त को बहुत महत्त्व प्राप्त हुआ है। सिद्धान्त यह है कि संवेदना-प्रकार उत्तेजित संवेदक तंत्रिका पर निर्भर होता है, और प्रत्येक तंत्रिका केवल किसी विशेष प्रकार की उत्तेजना द्वारा ही उत्तेजित होती है। यह विचार भी प्रगट किया गया है कि किसी संवेदना-ग्राहक का काम एक प्रकार का उत्तेजन, अर्थात् उससे सम्बन्धित विशिष्ट उत्तेजना प्रकार के बोध द्वार को गिराना तथा अन्य सभी प्रकार की उत्तेजनाओं के बोध-द्वार को ऊँचा उठाना ही होता है। संवेदना के स्थल सिद्धान्त में तो यह भी विश्वास किया जाता है कि किसी एक ज्ञानेन्द्रिय में ही कुछ कोशिकाएँ उत्तेजना-आयाम के निम्न भाग के प्रति, कुछ कोशिकाएँ उसके मध्य भाग के प्रति, और कुछ उसके उच्च भाग के प्रति संवेदनशील होती हैं।

संवेदनाओं के विषय में कदाचित् सर्वाधिक सफलता बोध-द्वारों के मापन में हुई है। बोध-द्वार किसी उत्तेजना-आयाम पर वह माप है, जो उस आयाम को दो प्रतिक्रिया-प्रकारों के अनुसार विभाजित कर देता है, आयाम का एक भाग वह, जिसके प्रति जीव प्रतिक्रियाशील है और दूसरा भाग वह, जिसके प्रति जीव प्रतिक्रियाशील नहीं है।

सभी संवेदना-प्रकारों का ज्ञान अभी समान मात्रा में प्राप्त नहीं। अधिकांश प्रकाशित अध्ययन दृष्टि तथा श्रवण-संवेदनाओं के हैं, जिनकी विशेषता यांत्रिक ऊर्जाओं का ग्रहण है। घ्राण तथा स्वाद की उत्तेजनाओं का स्वरूप अभी पर्याप्त मात्रा में स्पष्ट नहीं। इसलिए इनके अध्ययनों की कमी है। कोटर-तंत्र की उत्तेजनाएँ ज्ञात भी हैं और नियंत्रण-गम्य भी। परन्तु इसको उत्तेजित करने से अन्य संवेदना-प्रकार भी अपने आप उत्तेजित हो जाते हैं। इसलिए इनका शुद्ध रूप में अध्ययन कठिन है और इनका उपलब्ध ज्ञान अभी नहीं के बराबर ही है।

दृष्टि-संवेदना के बहुत से अध्ययन नेत्रों के दंडों और उनकी सूचिकाओं के फोटोरसायन पर केन्द्रित हैं और प्रकाश-अनुकूलन, तिमिरानुकूलन, दीप्ति-विवेक, दृष्टि-तीव्रता, एवं झिलमिलाहट के तथ्यों की व्याख्या करने में सफल हुए हैं। दृष्ट उत्तेजना बोध-द्वार नेत्र ताल पर १५० क्वांटा से कम पाया गया है। श्वेत पृष्ठ भूमि पर सबसे पतली रेखा का दृष्टिकोण लगभग ०.५ सेकेन्ड होता है। उसकी चौड़ाई आधे मील दूर ३।३२ इंच मोटी तार की दृष्टि मोटाई से कम होती है और केन्द्रस्थलीय सूचिका के व्यास का लगभग ३०वाँ भाग होती है।

दृष्टि-देश के गुणों का विशेष अध्ययन हुआ है। इनका उपयुक्ततम उपयोग चित्रकार

कदाचित् गहराई, आकार एवं गति के चित्रण में कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त अभिविन्दुता, प्रतियोजन, द्विबिन्दु-विवेक, द्विनेत्रीय दृष्टि आकार-स्थिरता और दृष्टि उत्तेजनाओं की द्व्यर्थता के विषय में बहुत-से प्रायोगिक तथ्य एकत्रित किये गये हैं, जिनका रंगमंचों एवं कार्यालयों में प्रकाश का प्रबन्ध करने वाले विशेष अनुप्रयोग कर सकते हैं।

श्रवण-संवेदना का न्यूनतम बोध-द्वार शुद्ध स्वर शब्दों के लिए आवृत्ति ३०० चक्र प्रति सेकण्ड पर पाया गया है। शब्द तारत्व का आवृत्ति से सम्बन्ध भी अनुसंधान का विषय बना है और इन दोनों के फलन लगभग सर्वसम पाये गये हैं। तारत्व तथा तीव्रता के सम्बन्ध में बहुत व्यक्तिगत अन्तर देखा गया है। एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने एक प्रयोग में उच्च स्वरों के तारत्व को तीव्रता के साथ बढ़ते हुए और निम्न स्वरों के तारत्व को तीव्रता की बढ़ती के साथ घटते हुए पाया है। कुछ अन्य प्रयोगकर्ताओं ने भी यही पाया है, परन्तु अधिकांश प्रयोज्यों में बहुत कम मात्रा में। शब्द की उद्घोषता जितनी कम आवृत्ति की होती है, उतनी ही तीव्रता के साथ बढ़ती है। अर्थात मान लीजिए एक १००० चक्रप्रति सेकेण्ड का स्वर, और एक १०० चक्र प्रति सेकेण्ड का स्वर, प्रयोज्य को समान उद्घोषता के प्रतीत होते हैं, तब दोनों स्वरों की तीव्रता समान मात्रा में घटाने पर, १००० चक्र प्रति सेकेण्ड वाला स्वर, १०० चक्र प्रति सेकण्ड वाले स्वर से ऊँचा प्रतीत होगा, और दोनों स्वरों की तीव्रता समान मात्रा में बढ़ाने पर, १०० चक्र प्रति सेकण्ड वाला स्वर अपेक्षाकृत ऊँचा प्रतीत होगा।

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने दृष्टि-दोष अथवा श्रवण-दोष के विशेष अध्ययन किये हैं। दृष्टि तथा श्रवण दोनों का जीवन के शिक्षा आदि सभी व्यावहारिक क्षेत्रों में बड़ा महत्त्व है। इसलिए व्यावहारिक सामान्यता एवं सफलता में इन दोनों के दोष, प्रमुख रुकावटों के रूप में, मनोवैज्ञानिक मापन, उपचार एवं समायोजन के योग्य विषय माने गये हैं। इन दोनों दोषों में मात्रा-भेद स्वीकार किये गये हैं। इनकी सर्वाधिक मात्राओं को अंधता एवं बधिरता कहा जाता है। सम्पूर्ण दृष्ट्यन्धता स्पष्ट दोष है। उनकी आँखों की ओर देखकर अंधों को पहचाना जा सकता है। क्षीणदृष्टि वाले व्यक्ति दृष्टानुभवों की अस्पष्टता से अपना दृष्टिकोण स्वयं बता सकते हैं। परन्तु केवल वर्णान्धता भी होती है, जो इतनी स्पष्ट नहीं होती। वह भी सम्पूर्ण वर्णान्धता और केवल लाल हरे रंगों की, अर्थात् आंशिक वर्णान्धता दो प्रकार की होती है। इनकी पहचान के लिए विशेष मनोवैज्ञानिक परीक्षणों का उपयोग करना पड़ता है। श्रवण-दोष भी पूर्ण बधिरता से कम होने पर बहुत स्पष्ट नहीं होता और विशेष परीक्षणों के बिना व्यक्तियों में अज्ञात पड़ा रह सकता है।

घ्राण-संवेदना उत्पन्न करने वाली उत्तेजना के भौतिक अथवा रासायनिक गुणों

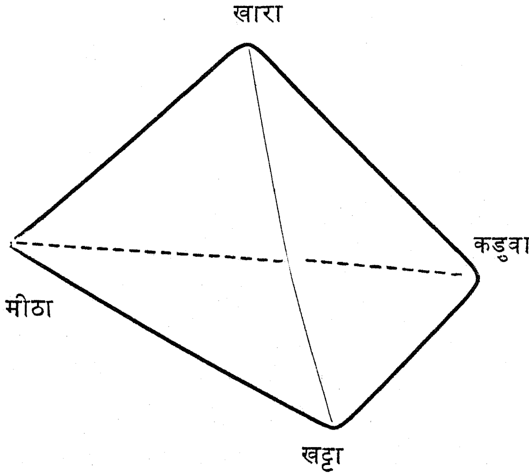
का अभी पर्याप्त ज्ञान नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि घ्राण-प्रतिक्रिया उत्पन्न करने के लिए किसी पदार्थ में वाष्पशीलता का होना आवश्यक है। क्योंकि कुछ प्रयोगों से पता चला है कि नासिकागुहा को साधारण गन्धयुक्त द्रव्य से भर देने पर संवेदना नहीं होती। घ्राण-उत्तेजना कुछ विद्वानों के मत के अनुसार भौतिक और अन्य विद्वानों के मतानुसार रासायनिक होती है। ग्रन्थों में प्रतिपूरण, मिश्रण और थकानजनित परिवर्त्यता के विषय में कुछ अनुसंधान हुए हैं। इनका ज्ञान स्वीकृत खाद्यों, और इत्रों के बनाने में बहुत उपयोगी हो सकता है।

स्वाद-संवेदना को शुद्ध अमिश्रित रूप में पाने की कठिनाई उसके वैज्ञानिक अध्ययन में बड़ी बाधा उपस्थित करती है। बहुत समय से इसका कारण घ्राण-संवेदना से घनिष्ट सम्बन्ध ही समझा जाता था। परन्तु अब इसका स्पर्श-संवेदना से और भी घनिष्टतर सम्बन्ध प्रतीत हो रहा है। वह दोनों प्रायः घ्राण के साथ मिश्रित रहते हैं। प्रायोगिक परिस्थितियों में स्पर्श और घ्राण के अंशों को आँख, नाक, आदि बंद करके थोड़ा बहुत अलग किया जा सकता है, और कुछ थोड़ा-बहुत शुद्ध रूप में स्वाद-संवेदना प्राप्त की जा सकती है। भिन्न विशिष्ट मूल स्वाद-प्रकारों में विश्वास बहुत पुराना है और पुष्ट होता जा रहा है। चार मूल स्वाद-प्रकार माने गये हैं—मीठा, खट्टा, खारा और कड़ुवा। एक तांत्रिका-दैहिक अनुसंधान में बिल्ली की प्राणतंत्रिका में कुछ तंतु केवल अम्ल एवं सोडियम के तथा कुछ तंतु केवल अम्ल तथा कुनीन के उपस्थापन करने पर प्रतिक्रियाशील पाये गये हैं और शर्करा-विलयन के उपस्थापन पर कोई भी तंतु प्रतिक्रियाशील नहीं पाये गये।

विभिन्न प्रकार की स्वाद-संवेदनाओं की उत्तेजनाओं के विषय में समान रूप से निश्चित ज्ञान नहीं है। सर्वाधिक ऐक्य खट्टे स्वाद के लिए हाइड्रोजन आयन के महत्त्व पर है। नमकीन स्वाद के लिए मुख्य उत्तेजनाएँ ऋणायन, Cl-, Br-, I-, तथा No_3-So_4 हैं। मीठे अथवा कड़ुवे स्वाद की उत्तेजनाओं की सामान्य विशेषताएँ अभी ज्ञात नहीं हैं। बहुत-सी शर्कराएँ और मद्यसार मीठे होते हैं, परन्तु सीसे और कुछ लवणों का स्वाद भी मीठा होता है। ऐलकेलाइड कड़ुवा होता है, परन्तु कुछ अमोनियम और मैगनेशियम लवण भी कड़ुवे होते हैं।

बहुत से स्वाद इन चार मूल स्वाद-प्रकारों में से किन्हीं दो, तीन, अथवा चारों के बीच के होते हैं। इसलिए इन्हें इनके मिश्रण से उत्पन्न माना जाता है। मूल तथा अन्य अथवा मिश्रित स्वादों के परस्पर सम्बन्धों को दर्शाने के लिए एक ठोस स्वाद चतुष्फलक का उपयोग किया गया है। स्वाद मिश्रणों में भी गाढ़ेपन के अंतर होते हैं। चौकोलेट में मीठे और कड़ुवे का कम गाढ़ा मिश्रण होता है। लैमोनेड में मीठे और खट्टे का मिश्रण

इससे अधिक गाढ़ा होता है। मूल स्वाद-प्रकारों का दैहिक आधार खोजने का प्रयत्न किया गया है। एक मत यह है कि चार भिन्न प्रकार के स्वाद नाड़ी-तन्तु होते हैं और प्रत्येक मीठे, खारे, खट्टे या कड़ुवे एक ही प्रकार के स्वाद को ग्रहण कर सकता है। परन्तु इस मत के पक्ष में अभी कोई पूर्ण प्रमाण नहीं मिल सका है। साधारण जनता में यह



विश्वास बहुत प्रचलित है कि किसी पोषक रासायनिक तत्त्व से वंचित रहने पर व्यक्ति में उसके स्वाद की ग्राह्यता बढ़ जाती है। परन्तु इसके विपरीत एक प्रयोग में ३४ घंटे तक भोजन से वंचित रहने पर भी मानव-प्रयोज्यों में लवण, कड़ुवे और मीठे स्वादों का बोध-द्वार स्थिर पाया गया है, जिससे इस विश्वास के प्रति शंका होती है।

त्वक्-संवेदनाओं को दो समूहों में विभाजित किया गया है—एक समूह उन अस्थानीय त्वक् संवेदनाओं का जो त्वचा के विशिष्ट स्थलों अथवा बिन्दुओं पर प्रगट नहीं होती और सम्पूर्ण त्वचा पर ही सामान्य ढंग से प्रगट होती हैं, और दूसरा उन स्थानीय त्वक्-संवेदनाओं का है जो त्वचा के भिन्न विशिष्ट स्थलों अथवा बिन्दुओं पर उत्पन्न होती हैं। इस दूसरे समूह में चार प्रकार की त्वक्-संवेदनाएँ हैं—(१) शीत-संवेदनाएँ, (२) ताप संवेदना, (३) पीड़ा संवेदनाएँ, तथा (४) दबाव अर्थात् स्पर्श संवेदनाएँ। इन प्रकारों की विशिष्टता के पीछे ग्राहक इन्द्रियों की विशिष्टता मानी जाती है। प्रायः स्पर्श अर्थात् दबाव के ग्राहक तापोत्तेजना के उपस्थापन पर प्रतिक्रियाशील नहीं होते, और शीत अथवा उष्णता के विशिष्ट ग्राहक स्पर्शोत्तेजना के उपस्थापन पर प्रतिक्रियाशील नहीं होते। फिर भी कुछ द्वयोत्तेजना ग्राहकों का भी पता चला है।

कम्पन-संवेदना के मनोविज्ञान का बहरे-अंधों की शिक्षा और उनके भाषा-विकास के लिए बड़ा महत्त्व है। प्रयोगों से पता चला है कि काल की अवधियों के विवेक की सबसे नीची अर्थात् कम अधर सीमा दबाव-बोध में होती है। सबसे अधिक संवेदना-ग्रहणशील त्वचाभाग पर एक सेकण्ड में १,५०० उत्तेजनाओं का विशिष्ट अनुभव प्राप्त किया जा सकता है, जब कि दृष्टि के क्षेत्र में प्रति सेकण्ड २४ विभिन्न उत्तेजनाएँ उपस्थित हो जाने पर ही संमिश्रण हो जाता है और सतत् अथवा गतिमान उत्तेजना का अनुभव होने लगता है। इस आधार पर बहरे-अंधों के लिए एक कम्पन-भाषा का निर्माण किया गया है।

अम्लत्व तथा मीठेपन के समान एक दूसरे का प्रभाव कम करनेवाले अर्थात् एक दूसरे के प्रति पूरक स्वाद भी होते हैं। उनकी मंद मात्राओं में प्रतिपूरण अधिक हुआ करता है। इसके विपरीत जिह्वा के भिन्न-भिन्न भागों पर खट्टे, खारे और मीठे उत्तेजकों का सम्पर्क होने पर सहवर्ती वैषम्य के कारण प्रत्येक की तीव्रता बढ़ जाती है। इसी से जिह्वा के एक भाग में नमकीन उत्तेजन होने पर दूसरे भाग में सीमोपरि मीठेपन का आभास भी हो जाता है। परन्तु कड़ुवा स्वाद न तो प्रतिपूरण को स्वीकार करता है, न सहवर्ती वैषम्य के प्रभाव को। किसी प्रथम स्वाद के प्रति अनुकूलन अर्थात् संविधान के कारण स्वादों में अनुवर्ती वैषम्य तो साधारण अनुभव की बात है। किसी एक स्वाद के कुछ समय तक भोग के उपरान्त उस स्वाद के ग्रहण की सामर्थ्य कम हो जाती है और नष्ट तक हो जा सकती है।

संवेदना मात्र के क्षेत्र में एक बहुस्वीकृत नियम वेबर तथा फेक्नर के नामों से सम्बद्ध है। वेबर ने १८३४ में हाथ में उठाये हुए भारों में न्यूनतम बोधगम्य अन्तर ज्ञात करने के लिए कुछ प्रयोग किये थ और उनके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि भार में न्यूनतम बोधगम्य वृद्धि उस वृद्धि के पूर्व हाथ में रखे हुए भार की समानुपाती होगी। तदुपरान्त फेक्नर ने इस निष्कर्ष को सभी प्रकार की संवेदनाओं के विषय में सत्य प्रतिपादित किया। इस प्रकार यह नियम बना कि परिमाण में न्यूनतम बोधगम्य अन्तर का मूल परिमाण से अनुपात स्थिर रहा करता है, और यह अनुपात विभिन्न संवेदना-प्रकारों के लिए अलग-अलग परिमाण का होता है। यह नियम अब एक मनोविज्ञान का एक प्रमुख विवादग्रस्त विषय है। हेल्म होल्ट्ज़ ने दृष्टि-संवेदना के विषय में इसका खंडन किया था। और बहुत से मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि यह किसी भी प्रकार की संवेदना के विषय में सत्य नहीं उतरता। फिर भी वेबर फेक्नर-नियम बहुत लोकप्रिय हुआ है और मनोवैज्ञानिक इसे सर्वथा भूल जाने को तैयार नहीं प्रतीत होते।

संवेदना अपने शुद्ध रूप में गुण-बोधात्मक होती है। संवेदनाओं के परस्पर तथा

गतानुभवों के साथ गुंथन द्वारा अर्थ को प्राप्त होने से प्रत्यक्ष अर्थात् वस्तुबोध का उदय होता है। प्रत्यक्ष के अध्ययन ने मनोविज्ञान में प्रमुख स्थान प्राप्त किया है। बहुत पहले ही जर्मन विचारक इमानुयेल काण्ट और हर्बार्ट ने इसे मानसिक जीवन में सार्वभौम महत्त्व दिया था। अब गेश्टाल्टवादियों ने प्रत्यक्ष के मनोवैज्ञानिक स्वरूप को ही सब प्रकार की मानसिक प्रक्रियाओं के ज्ञान की कुंजी माना है। शिक्षा-ग्रहण तो किसी न किसी प्रकार के प्रत्यक्षानुभव पर आधारित होता ही है। मानसिक प्रक्रियाओं के दैहिक आधार खोजनेवाले भी इसे ललकार कर चुनौती देने वाला विकट क्षेत्र स्वीकार करते हुए इससे जूझते रहे हैं। बहुत काल तक प्रत्यक्ष को विशेषतया वैयक्तिक प्रक्रिया ही समझा जाता रहा, परन्तु अब इसमें सामाजिक निर्धारकों का महत्त्वपूर्ण हाथ दिखाई देने लगा है। कुछ काल से मानसिक विकारों के अध्ययन भी बहुत कुछ प्रत्यक्ष पर केन्द्रित हो गये हैं। विश्व युद्धों की परिस्थितियों ने भी प्रत्यक्ष के विषय में बहुत अमूल्य तथ्य उपलब्ध किये हैं। यहाँ तक कि मनोवैज्ञानिक अनुसंधान के फलस्वरूप सम्पूर्ण व्यक्तित्व स्वयं प्रत्यक्ष के साथ इतना गुंथा प्रतीत होने लगा है कि प्रत्येक को दूसरे का रहस्योद्घाटन कुंजी कहा जा रहा है। कभी तो शिक्षाग्रहण अथवा उत्प्रेरण को प्रत्यक्ष का मूल समझा गया है, और कभी परिणाम-स्वरूप यह भी समझा गया है कि कदाचित् प्रत्यक्ष कई प्रकार का हुआ करता है। यह स्पष्ट नहीं कि इस वर्गीकरण का वास्तविक आधार स्वयं प्रत्यक्ष तथ्यों की विभिन्नता है या केवल प्रत्यक्षोत्तेजनाओं की विभिन्नता ही है।

प्रत्यक्ष के दो प्रमुख प्रकार मानने की परम्परा रही है। इनको अक्षरशः और योजनाशः रचनात्मक और प्रकार्यात्मक, बाह्य निर्धारित और अंतर्निर्धारित, अथवा अप्रक्षेपक और प्रक्षेपक कहा गया है। अधिक अध्ययन प्रस्तावित दो प्रकारों के सापेक्ष महत्त्व तथा उनकी परस्पर अन्तःक्रिया अथवा स्वतन्त्रता का हुआ है। यह प्रकार उत्तेजना के कुछ अंशों अथवा अंगों की ओर से ध्यान हटाकर कुछ अन्य अंशों अथवा अंगों की ओर विशेष ध्यान देने का परिणाम है। उदाहरण के लिए, मनोभौतिक प्रयोगों में मनोदिशा उत्प्रेरण, मनोभाव आदि आन्तरिक उत्तेजनांगों को स्थिर रखकर निष्फल करते हुए प्रत्यक्ष के बाह्य उत्तेजनांगों को ही महत्त्व दिया जाता है। ऐसे ही कुछ प्रयोगों में इन आन्तरिक उत्तेजनांगों के प्रभावों को ही सिद्ध किया जाता है। परिणाम-स्वरूप विभिन्न प्रत्यक्ष सिद्धान्तों का विकास हुआ है।

प्रत्यक्ष का प्रमुख मनोभौतिक सिद्धान्त यह है कि दृश्य जगत् तलों और किनारों के अनुभवों से मिलकर बना है। देशात्मक जगत् के प्रत्येक गुण के पीछे उत्तेजना का कोई परिवर्त्य होता है, जो मात्र उसका प्रतिरूप अथवा सम्बन्धी, प्रतीक, आदि भी हो सकता है। देशात्मक अर्थात् द्रव्यात्मक जगत् का प्रत्यक्ष, साधारण अनुभव में आनेवाले

व्यावहारिक उपयोगी वस्तुओं के जगत् के प्रत्यक्ष से भिन्न होता है। इसी सिद्धान्त के आगे बढ़ाने पर अनुकूलन स्तर सिद्धान्त बनता है जिसके अनुसार उपस्थापित भौतिक उत्तेजना, परिस्थिति में उपस्थित अन्य उत्तेजनाएँ तथा पूर्व उत्तेजनाओं के प्रभाव, सबके द्वारा सामूहिक रूप से एक अनुकूलन स्तर का उदय हुआ करता है और प्रत्यक्ष एवं उत्तेजना-निर्णय इसी स्तर से हुआ करते हैं। जो उत्तेजनाएँ इस स्तर पर होती हैं वह तटस्थ प्रतीत होती हैं और इस स्तर से नीचे और ऊपर की उत्तेजनाओं में परस्पर विरोध प्रतीत होता है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि किसी भी प्रत्यक्ष सिद्धान्त के लिए कोई न कोई मस्तिष्क-धारणा आवश्यक है। एक सिद्धान्त यह प्रतिपादित किया गया है कि मस्तिष्क एक प्रकार का आयतन-चालक है और इसमें विशिष्ट तंत्रिका-कोशिकाओं के उत्तेजनों का कोई विशेष महत्त्व नहीं। मनोभौतिक समानता में विश्वास करते हुए, प्रत्यक्ष का आधार पृष्ठिका-प्रान्तस्थ में विद्युत्तरंगों का उदय है। उत्तेजन के आसपास तरंगों का बहाव उस ऊतक का प्रतिरोध बढ़ा देता है, जिसमें यह बहता है। प्रतिरोध की इस वृद्धि से, जिसे तृप्ति कहते हैं, तरंग के बहाव में परिवर्तन होते हैं, जिनके परिणाम-स्वरूप प्रत्यक्ष परिवर्तन होते हैं। इस क्षेत्रवादी सिद्धान्त में अवधान, अपेक्षा एवं मनोभाव जैसे केन्द्रीय निर्धारकों की पर्याप्त व्याख्या नहीं मिलती और अनुभव-प्राप्ति के लिए बहुत कम अवसर स्वीकार किया जाता है।

इसके स्थान पर एक अन्य मस्तिष्क-धारणा प्रस्तावित की गयी है, जिसके अनुसार कोई विशेष प्रत्यक्ष केन्द्रीय तंत्रिकातंत्र में किसी स्थान पर विशेष कोशिकाओं के उत्तेजन पर आधारित होता है। किसी विशेष उत्तेजन के बारम्बार होने से धीरे-धीरे एक "कोशिका गुट" बन जाती है। यह प्रान्तस्थ तथा डायनसेफोलीन की कुछ कोशिकाओं से बनी एक विस्तीर्ण रचना होती है, जो सामूहिक रूपसे एक सम्पूर्ण तंत्र की भाँति कार्य कर सकती है। ऐसी प्रत्येक गुट, किसी अन्य पूर्वगामी गुट द्वारा, किसी संवेदना द्वारा, अथवा इन दोनों द्वारा क्रियाशील हो सकती है। ऐसी कई कोशिका गुटों की, एक दूसरे के उपरान्त क्रियाशीलता से विचार-प्रक्रिया बनती है। यह एक प्रकार का सम्बन्धवाद हुआ। इसमें सम्बन्ध अभिवाही तथा अपवाही तंत्रिकापथों में नहीं, बल्कि स्वायत्त केन्द्रीय क्रियाओं के बीच होता है।

पिछले पचीस वर्षों में एक प्रत्यक्ष सिद्धान्त इस प्राचीन विश्वास के विरोध में विकसित हो रहा है कि दृष्टि, श्रवण जैसे बाह्य ग्राहक प्रत्यक्ष मुख्यतः जीव की दूरग्राहक इन्द्रियों पर आधारित हैं। प्रत्यक्ष में इन इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य दैहिक निर्धारकों का महत्त्व धीरे-धीरे ज्ञात हुआ है। परिणाम-स्वरूप विकसित सिद्धान्त की मुख्य मान्यता यह है

कि प्रत्यक्ष केवल ज्ञानेन्द्रिय पर ही नहीं, बल्कि उतनी ही मात्रा में पेशीय अवस्था पर भी आधारित होता है। ऐन्द्रीय उत्तेजन पेशीय अवस्था को प्रभावित करता है, और पेशीय अवस्था प्रत्यक्ष को निर्धारित करती है। इसलिए आवश्यक है कि प्रत्यक्ष को ऐन्द्रीय ही नहीं, ऐन्द्रीय पेशीय अनुभव समझा जाय।

प्रत्यक्ष-सिद्धान्त में एक पुरानी, परन्तु पुनः प्रचलित धारा प्रत्यक्ष को शिक्षा-ग्रहण अर्थात् सीखने की प्रक्रिया से सम्बद्ध करती है। इस विचारधारा का आग्रह है कि प्रत्यक्ष होता नहीं सीखा जाता है। सरल प्रत्यक्ष भी बचपन में धीरे-धीरे सीखे जाते हैं। जैसे, किसी आकृति के प्रत्यक्ष में एक अंश मौलिक सांवेदनिक एकता है, जो बहुत कुछ नैसर्गिक होती है, दूसरा अंश असांवेदनिक एकता है, जो अनुभव द्वारा प्रभावित होकर आकृति की सीमाओं को निश्चित करती है। तीसरा अंश विशिष्टता है, जो विषय के दीर्घ अनुभव-काल में उसकी अन्य विषयों से समानताएँ तथा असमानताएँ निश्चित करता है। मनोवैज्ञानिकों ने इस ओर विशेष ध्यान दिया है कि प्रत्यक्ष नेत्रपट अर्थात् रूपाधार पर पड़नेवाले प्रक्षेपों अर्थात् प्रतिमात्मक चिह्नों तक ही सीमित नहीं रहता। उसमें बहुत कुछ संकेतों का उपयोग और संकलन हुआ करता है। इसी से प्रत्यक्ष में वह स्थिरता होती है, जो रूपाधार पर पड़नेवाले प्रक्षेपों में नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षकर्ता का काम वास्तविक पदार्थों की प्राप्ति अथवा निष्पत्ति होता है। इसमें नेत्रपटीय प्रक्षेप बीजमात्र होता है। अन्य ऐन्द्रीय प्रदत्त, विषय के पूर्व ज्ञान, सामान्य पूर्व अनुभव, उत्तेजना रूपी संकेत, और वास्तविक पदार्थों के सम्बन्ध के विषय में विद्यमान विश्वास और अनुमान संदर्भ का काम देते हैं। बीज और संदर्भ के किसी प्रकार के परस्पर संकलन से प्रत्यक्ष वास्तविक पदार्थ से अनुरूपता प्राप्त करता है। प्रत्यक्ष परिस्थिति में संदिग्धता होने पर भी पूर्वानुभव, महत्त्वपूर्ण मात्रा में प्रत्यक्षानुभव को निर्धारित करके, उसे स्पष्ट एवं असंदिग्ध रूप प्रदान करता है। इसलिए प्रत्यक्ष को किसी एक घटना अथवा विषय का अनुभव नहीं, बहुत से भूत वर्तमान अनुभवों के सांख्यिकीय माध्यम के रूप में भी प्रतिपादित किया गया है, इसे रचनात्मक नहीं प्रकार्यात्मक भी कहा गया है, और पूर्व अनुभव से न्यनतम मात्रा में भिन्न जगत् को बनाने और बनाये रखने का प्रयत्न भी समझा गया है।

एक प्रमुख सिद्धान्त-धारा प्रत्यक्ष को व्यक्तित्व पर निर्भर देखती है। वह इस अनुभवसिद्ध तथ्य को लेकर चलती है कि वही बाह्य उत्तेजना सब प्रत्यक्षकर्त्ताओं को एक-सी प्रतीत नहीं होती। फलस्वरूप बहुत-से प्रयोग यह देखने के लिए किये गये हैं और किये जा रहे हैं कि एक ही बाह्य उत्तेजना के प्रति हो सकनेवाली अनेक प्रतिक्रियाओं के होने की संभावनाओं को व्यक्ति की आन्तरिक उत्प्रेरणात्मक अवस्था कहाँ तक परिवर्तित

करती है। इन प्रयोगों के निष्कर्षों ने यह मत पुष्ट किया है कि प्रत्यक्ष अंतर्धकेलों, सामाजिक मूल्यों, रुचियों, विश्वासों, प्रत्याशाओं, कुंठाओं, मनोभावों, प्रतिरक्षातंत्रों आदि सबसे प्रभावित होता है। इस दिशा में बहुत उत्साहपूर्वक खोजें हो रही हैं और प्राप्त प्रयोग-फलों पर कुछ-कुछ सैद्धान्तिक विचार करने का प्रयत्न भी हो रहा है।

प्रत्यक्ष-सिद्धान्त के क्षेत्र में अन्य धाराएँ भी हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख मात्र यहाँ किया जा सकता है। कुछ मनोवैज्ञानिक गणित के आधार पर सिद्धान्त बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। विशेषतया देश में प्रत्यक्ष को यूक्लिडातीत रेखागणित के आधार पर समझने का प्रयत्न हो रहा है। सूचना-सिद्धान्त का विकास भी प्रत्यक्ष के विषय में महत्त्वपूर्ण प्रतीत हो रहा है। प्रत्यक्ष को एक प्रकार का व्यवहार भी समझा गया है। प्रत्यक्ष में कार्य-कारण-सम्बन्ध एवं पदार्थता को नैसर्गिक अनुभव सिद्ध करनेवाले कुछ प्रयोग भी हुए हैं। प्रत्यक्ष में अभ्यनुबन्धन की संभावना भी दर्शायी गयी है।

प्रत्यक्ष उच्चतर विचार प्रक्रियाओं को जन्म देता है। इनका अध्ययन भी भौतिक एवं मानसिक दोनों स्तरों पर किया गया है। भौतिक स्तर पर विचार-प्रक्रियाओं को सूक्ष्म यान्त्रिक प्रक्रियाएँ समझा गया है। इस दृष्टिकोण का पोषण प्रायः अमरीकन पशु-मनोवैज्ञानिकों, व्यवहारवादियों, क्रियावादियों एवं रूसी प्रतिवर्तवादियों ने किया है।

परन्तु ये सब यान्त्रिक अध्ययन बहुत-से मनोवैज्ञानिकों को विचार-प्रक्रियाओं को दूर से छूने मात्र का प्रयत्न करते प्रतीत होते हैं। उन्हें चिन्तन के वास्तविक स्वरूप तथा नियमों का ज्ञान केवल मानसिक स्तर पर अर्थात् अयांत्रिक मानसिक तत्त्वों की स्वीकृति के आधार पर ही संभव लगता है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष प्रायः इंग्लैंड, औक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज में हुए हैं। उदाहरणस्वरूप, सर फ्रांसिस बार्टलेट ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि चिन्तन आन्तरिक स्वाभाविक क्रमयुक्त विभिन्न पदों की शृंखला द्वारा रिक्तताओं के पूर्ण करने की प्रक्रिया है। इसकी विशिष्टता यह होती है कि प्रत्येक पद पर क्रमिक पदों की संख्या, तथा क्रम से स्वतन्त्रता धीरे-धीरे सीमित होती जाती है और अन्त में ऐसी अवस्था आ जाती है कि क्रमिक पद पूर्णतया तथ्यात्मक हो जाते हैं, अर्थात् सभी विचारकों के लिए एक से हो जाते हैं।

एक दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष में भी और संवेदनाओं में भी विचार का अंश होता है। संवेदना, प्रत्यक्ष, स्मरण तथा चिन्तन सभी बोध प्रक्रियाएँ अर्थात् ज्ञानात्मक प्रक्रियाएँ हैं। सबका प्रकार्य प्रतीकात्मक है। अन्तर यह है कि संवेदना तथा प्रत्यक्ष में यह प्रकार्य उत्तेजनाबद्ध होता है। इसके विपरीत स्मरण तथा चिन्तन में यह प्रकार्य स्वयं व्यक्ति के अन्दर ही होता है, उसी पर निर्भर रहता है, उसकी सुविधा की प्रतीक्षा कर सकता है, उसमें स्वतन्त्र रूप से विचारों को जन्म दे सकता और परिवर्तित कर सकता है।

आरम्भ में चिन्तन के अध्ययन अन्तःप्रेक्षण द्वारा ही किये जाते थे। परन्तु इस शताब्दी के आरम्भ में चिन्तन के अन्तःप्रेक्षणात्मक अध्ययन अपनी उपयोगिता की चरम सीमा तक पहुँच चुके थे। इसी विधि से चिन्तन के ज्ञान में प्रगति असम्भव-सी हो गयी। प्रत्यय एवं अन्य चिन्तन-फल मन में उत्पन्न तो होते थे, परन्तु किस प्रकार होते थे, यह प्रेक्षण में नहीं आ पाता था। अतः मनोवैज्ञानिक विचारात्मक व्यवहार के तथ्यात्मक अध्ययन की ओर झुक गये और उत्तेजना एवं प्रतिक्रियाओं के बीच अप्रेक्ष्य मध्यस्थ परिवर्त्यों की धारणाओं का सहारा लेने लगे, जिन्हें प्रत्याशा, मानसिक मानचित्र, परिकल्पना, मध्यस्थ, प्रक्रिया आदि कहा गया। प्रत्यय-निर्माण, समानार्थक उत्तेजनाओं, उत्तेजना सामान्यीकरण, उत्तजना-पक्षांतरण आदि विचार प्रकार्यों के प्रायौगिक अध्ययन किये गये हैं और इनके विषय में नयी-नयी प्रयोग-विधियाँ निर्धारित करने में बहुत सूज्ञ प्रदर्शित की गयी है।

परिणामस्वरूप एक ओर तो बौद्धिक प्रकार्यों को सरल तंत्रिकात्मक प्रक्रियाओं के संयोजन मात्र माननेवाला सिद्धान्त है और उसके विरुद्ध दूसरी ओर यह सिद्धान्त पुष्ट होता जा रहा है कि सामान्यीकरण जीवों के तंत्रिकात्मक ऊतक का मूल आधारभूत प्रकार्य है, जो कीटों से मनुष्यों तक सभी विवेचक प्रक्रियाशील जीवों में पाया जाता है। यह चूहों में रेखित प्रान्तस्थ के पूर्ण नाश के उपरान्त भी पाया गया है, इसलिए इसे आदि प्रकार्य कहा जा सकता है। यह आदि विवेक चेतन-चिन्तन के स्तर तक तो नहीं पहुँच सकता, परन्तु चेतन चिन्तनशील मनुष्यों में विचार अथवा विचारात्मक व्यवहार के बहुत ही सरल एवं साधारण रूप भी होते हैं। पियाज़े ने बच्चों में आत्मकेन्द्रित, मिश्रक, आध्यात्मिक तथा सान्निध्य-केन्द्रित विचारशैलियाँ पायी हैं। ऐसे ही वर्नर ने बच्चों तथा असभ्य जातियों में सम्पूर्ण पदार्थों के विषय में एवं संपूर्ण सूचक भाषा में सोचने की वृत्ति की प्रधानता पायी है। प्रौढ़ों की भाषा में उपमाओं एवं रूपकों का उपयोग भी चिन्तन के ऐसे ही स्तर का उदाहरण है। डेनिस ने तो विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों के प्रकार के विषयों के और विभिन्न स्वस्थ अस्वस्थ परिस्थितियों में प्रत्यय-निर्माण की स्नातकों में भी जड़ पदार्थों को जीवित समझने की मनोवृत्ति पर्याप्त मात्रा में देखी है।

चिन्तन के प्रायौगिक अध्ययन प्रायः प्रत्यय-निर्माण पर केन्द्रित रहे हैं। विभिन्न प्रक्रिया का प्रेक्षण किया गया है। एक विवाद-ग्रस्त प्रश्न यह रहा है कि क्या चिन्तन सर्वथा भाषा पर अथवा प्रतिमाओं पर आधारित होता है। प्रतिमा-रहित चिन्तन संभव है कि नहीं, यह निश्चत करने के लिए बहुत-से प्रयोग तथा प्रेक्षण किये गये हैं और निष्कर्ष यही प्रतीत होता है कि अन्तःप्रेक्ष्य प्रतिमाएँ चिन्तन में आवश्यक नहीं। कदाचित् थोड़ा-बहुत तनाव का भाव चिन्तन में अवश्य रहा करता है। चिन्तन के विषय में बहुत-सा

अनुसंधान, मानसिक रोग-चिकित्सा, संज्ञापन एवं नियन्त्रण के यान्त्रिक नियमों के नवजात शास्त्र साइवर्नेटिक्स तथा मनोविश्लेषण के संदर्भ में हो रहा है। मनोविश्लेषण ने अचेतन-चिन्तन की संदिग्ध धारणा प्रस्तुत की है।

बोध, प्रत्येक स्तर पर अवधान पर निर्भर होता है, अवधान कभी स्पष्टतम बोध को ही कहा जाता है और कभी सभी बोध किसी न किसी मात्रा के अवधान ही माने जाते हैं। इसलिए कुछ मनोवैज्ञानिक अवधान की परिभाषा ही बोध की मात्रा कह कर करते हैं। टिचनर, जैम्ज़, वार्ड और स्टाउट ने अवधान को मनोविज्ञान में एक प्रमुख स्थान दिया था। उन्हीं दिनों अवधान की चयनात्मकता का सिद्धान्त बना और मुंश्टरबर्ग ने क्रिया पर ौर मैक्डगल ने निस्सारण पर आधारित अवधान-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। परन्तु उसके उपरान्त अवधान की ओर मनोवैज्ञानिकों ने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। हाँ, सीखने में अवधान का महत्त्व अब भी अवश्य स्पष्टतः स्वीकार किया जाता है। अवधान व्यवहार का प्रेक्षण हुआ है। परन्तु अवधान की उदासीनता से लेकर तल्लीनता तक, मनोवैज्ञानिकों से विभिन्न मात्रा में अभी बहुत कुछ अछूती-सी ही पड़ी है।

प्रायोगिक विधियों से अवधान का अध्ययन पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वुन्ट तथा उसके छात्रों के हाथों आरम्भ हुआ। इन लोगों ने प्रायः अवधान के विस्तार तथा विचलन के विषय में प्रयोग किये। इन प्रयोगों की विधियाँ निश्चित तथा विकसित करने में, सबसे अधिक काम टिचरन ने किया। अपने और अपने गुरु वुन्ट के सामग्री केन्द्रित रचनावादी दृष्टिकोण के अनुसार उसने अवधान को संवेदनाओं की स्पष्टता का गुण कहा और इसका प्रकार्य चेतना-केन्द्र के लिए सामग्री चुनना बताया। टिचनर के शिष्य डालेनबाख ने इस स्पष्टता के विभिन्न प्रकार निश्चित किये। गाइस्लर ने अवधानिक स्पष्टता की प्राप्ति में विविध चरणों अथवा स्तरों की खोज की। ऐसे ही अवधान की मात्रा, अवधान में सामग्री प्रवेश में, प्राथमिकता, उच्चाटन, अवधान-वितरण आदि के विषय में बहुत-से प्रयोग हुए। अवधान की अस्थिरता की ओर विशेष ध्यान आकर्षित हुआ। किसी भी पदार्थ के प्रेक्षण में ध्यान एक विषय से दूसरे विषय की ओर विचलित होता रहता है। इस प्रकार ध्यान को एक विषय से दूसरे विषय की ओर बड़े वेग से हटाया जा सकता है। परन्तु एक ही समय पर दो विपरीत क्रियाओं पर ध्यान नहीं दिया जा सकता। वुन्ट ने अवधान के सक्रिय और निष्क्रिय दो प्रकारों में भेद किया था। निष्क्रिय अर्थात् अनैच्छिक अवधान आकर्षित करने में सफल उत्तेजना गुणों की प्रायोगिक खोज हुई और इनमें परि-वर्तन, प्रबलता, आकार, पुनरावर्तन, विशिष्टता, तथा आकृति-स्पष्टता को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पाया गया। सक्रिय अर्थात् ऐच्छिक अवधान प्रायः चेतन-संकल्प, सामाजिक

दबाव और क्षणिक रुचि पर निर्भर पाये गये । इन अध्ययन-फलों का झट शिक्षा, विज्ञापन आदि के व्यावहारिक क्षेत्रों में अनुप्रयोग भी आरम्भ हो गया । अवधान-मापन की विधियों के निर्माण की ओर भी ध्यान दिया गया, और विभिन्न कार्यों के युगपत् उपस्थापन, उत्तरोत्तर उपस्थापन, तथा सीमान्त-उत्तेजनाओं के उपस्थापन की विधियों का विकास हुआ ।

शीघ्र ही कुछ थोड़े से मनोवैज्ञानिकों न रचनावादी एवं सामग्री-वादी दृष्टिकोण को छोड़कर क्रियावादी अर्थात् प्रकार्यवादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए और प्रयोग से अधिक साधारण व्यावहारिक अनुभव का सहारा लेते हुए अवधान को उद्वेगाधारित और इसका काम चयनशीलता ही माना । अवधान को जीव का परिवेश के प्रति प्रत्याशात्मक समायोजन और विचार का दिशा निर्धारक कहा, और उसके संवेदना तथा विचारात्मक तैयारी, दो मुख्य अंश बताये ।

व्यवहारवादियों ने पहले तो अवधान के अस्तित्व को जैसे स्वीकार ही नहीं किया, परन्तु धीरे-धीरे आगन्तुक उत्तेजनाओं के प्रति प्रतिवर्त-समायोजन, अव्यक्त भाषा, अथवा जीव की किसी पदार्थ के संबंध में पेशीय एवं सम्भवतः ग्रन्थिमय सज्जा मात्र के रूप में स्वीकार कर लिया । परन्तु इस प्रकार अवधान गत्यात्मक सज्जा होकर रह जाता है और मनोविज्ञान में इसका महत्त्व बहुत ही क्षुद्र हो जाता है । गेश्टाल्टवादियों ने अवधान की धारणा को सर्वथा व्यर्थ समझकर बिलकुल ही त्याग दिया । उनका कथन था कि अवधान को सामंजस्यस्थापक बोध-द्वार-निर्धारक, एवं स्पष्टतावर्द्धक समझना भ्रम है । केवल ध्यान देने से कोई सामंजस्य स्थापित होता नहीं देखने में आता । और बोध-द्वार गेस्टाल्ट अर्थात् सम्पूर्ण द्वारा निर्धारित होता है । और स्पष्टता में परिवर्तन होने से तो स्वयं गेश्टाल्ट ही बदल जायगा । चयन-प्रक्रिया अवश्य होती है, परन्तु वह तो आकृति-पृष्ठभूमि सम्बन्ध मात्र के लिए स्वाभाविक है और इसी पर आधारित है । फिर वेग से विकसित हुई मानसिक सज्जा की धारणा ने अवधान की धारणा को अनावश्यक-सा कर दिया । मानसिक सज्जा की धारणा प्रतिक्रिया काल और भार उठाने के प्रायोगिक अध्ययनों में जीव के विवेचक व्यवहार के मूल के रूप में प्रगट हुई और प्रतिक्रिया-चयन का निर्धारक बनी । संवेदनात्मक विवेक तथा इस प्रकार के अन्य तथ्यों की व्याख्या में यह उतनी ही सफल प्रतीत हुई, जितनी अवधान की धारणा थी ।

पिछले दस-बारह वर्ष से फिर कुछ मनोवैज्ञानिकों ने अवधान को पर्याप्त महत्त्व देना आरम्भ किया है । डौलर्ड एवं मिलर ने अपना विश्वास प्रगट किया है कि विचारों को उपयोगी दिशाओं में ले चल सकना उसी मात्रा में संभव होगा, जिस मात्रा में अवधान की प्रक्रियाओं को नियंत्रित एवं सांद्रित किया जा सकेगा । मर्फी ने अवधान में आन्तरिक

आवश्यकताओं अथवा उत्प्रेरणाओं के महत्त्व पर बल दिया है। ऐसे ही नीना बुट ने मनोभाव के दैहिक अंश को अवधान का आधार मानते हुए यह सुझाव दिया है कि अवधान का उद्वेग के साथ परस्पर सम्बन्ध में एक कार्य के दो अंगों के रूप में अध्ययन करना चाहिए।

बरो और उसके साथियों के अनुसंधान तो अवधान पर ही केन्द्रित हैं। उनके विचारानुसार अवधान जीव को परिवेशीय पदार्थों एवं परिस्थितियों से सम्पर्क में लानेवाली जीव-परिवेश-बंधक-प्रक्रिया है। इसका मूल उद्देश्य जीव की रुचियों को विषय की ओर लगाना उतना नहीं जितना जीव को विषय के साथ समन्वित कर देना है। अवधान का यह मूल रूप प्रौढ़ों में उतना नहीं देखने में आता जितना बच्चों में देखने में आता है, यह जीव और परिवेश के बीच एक प्रकार से पूर्णात्मक आदि प्रतिक्रिया है। चिह्नों, प्रतीकों और भाषात्मक अभिव्यक्तियों के विकास के साथ मनुष्य में अवधान का विशिष्ट प्रक्षेपक विकास होता है। अब अवधान क्रिया में जीव, विषय अथवा प्रतिभा के सामने, मानो दूसरी ओर रहता है और वहाँ से मन को विषय पर केन्द्रित करता है। अर्थात् अब मनुष्य परिवेश से अलग हटकर उसे अपना विषय बनाता है। विकास क्रम में ऐसा होना स्वाभाविक है। परन्तु इससे समाज-सम्पर्क, सामाजिक आदान-प्रदान आदि समन्वित व्यापार में कमी आती है। अब सम्पूर्ण जीव के सीधी दैहिक प्रतिक्रिया के बजाय केवल अमूर्त शब्द अथवा प्रतीक द्वारा विषयों का ज्ञान मात्र होता है। बहुत कुछ अखण्ड जीव-परिवेश एकत्व के स्थान पर अवधान में एक विभाजक भेदकारी अंश आ जाता है। पदार्थ अथवा कार्य में तल्लीन सम्पूर्ण लक्ष्यानुस्थापन टूट जाता है। भावप्रधान आत्मा और उसके गुप्त लाभ का ही ध्यान रह जाता है। अवधान के प्रथम अर्थात् मूल रूप को सहावधान तथा उसके विकासोपरान्त रूप को विहावधान कहा गया है। नेत्र-क्षेत्र में होने वाले दैहिक तनाव पर केन्द्रित एक पद्धति का भी पता चला है, जिसके निरन्तर उपयोग से अपने और दूसरों की भावात्मक प्रतिमाओं का धीरे-धीरे पुनरावशोषण हो जाता है और अधिक सफल अन्तर्सम्बन्धात्मक समायोजन हो जाता है। दोनों प्रकार के अवधान में नेत्र-गति, श्वसन एवं मस्तिष्क-तरंग-क्रियात्मकता के क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण अन्तर पाये गये हैं।

प्रायः अवधान को ऐसा प्रत्यक्षपूर्व अथवा प्रत्यक्षांतर्गत मनोभाव अथवा जीव समायोजन समझा जाता है जो प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया को महत्त्वपूर्ण मात्रा में निर्धारित करता है। स्वाभाविक है कि प्रत्यक्ष की निर्धारक मानी गयी इच्छाओं, आवश्यकताओं, रुचियों, मनोवृत्तियों आदि को इस अवधान का गुण माना जाय। अवधान को प्रत्यक्ष का केन्द्रीय सरलीकरण, प्रतिक्रिया चयन, पूर्व स्थित उत्तेजन पर नवागंतुक उत्तेजन का आ जमना

और प्रत्यक्ष प्रक्रिया का क्षणिक फलोत्पादक प्रतिक्रिया-विभव भी कहा गया है। अतः इस प्रक्रिया के नियमों को ज्ञान कर लेने के महत्त्व पर बल दिया गया है। अनुमान किया जाता है कि व्यावहारिक मनोविज्ञान तथा मनोविकार-विज्ञान के लिए ये नियम बहुत उपयोगी होंगे।

कुछ काल से मनोवैज्ञानिक जनमत बौद्धिक प्रकार्यों के प्रान्तस्था में विशिष्ट स्थान मानने के विरुद्ध रहे हैं। फिर भी अवधान के वर्तमान अध्ययनों में एक धारा प्रयोगों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँच रही है कि मस्तिष्क के ललाट पूर्व क्षेत्र का अवधान से महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। बन्दरों के साथ विलम्बित प्रतिक्रिया-प्रयोगों में ललाटपूर्ण मस्तिष्क-क्षेत्रों के द्विपार्श्व-निष्कासन से विलम्बित अनुस्थापन नहीं हो पाता, और मस्तिष्क के अन्य क्षेत्रों की क्षति से इस योग्यता में कोई कमी नहीं आती। पूर्व ललाट क्षति की अवस्था में अवधान-प्रकार्य का ह्रास हो जाता है। जीव बेचैन हो जाता है, और वह निश्चित नहीं कर पाता कि भोजन कहाँ रखा है। सरल विवेचन अब भी सीखे जा सकते हैं, परन्तु उनमें बहुत त्रुटियाँ होती हैं। विरोधी संकेतों से युक्त जटिल विवेचनों के सीखने में तो और भी अधिक त्रुटियाँ होती हैं। विलम्ब पूर्व कुमक आदि द्वारा बलपूर्वक कार्य में ध्यान लगाने से, अथवा कष्ट दूर करनेवाली हलकी औषधियों से, अथवा विलम्ब काल में प्रयोग कक्ष की बत्तियाँ बुझा देने से अयोग्यता दूर हो जाती है। बन्दरों में ही नहीं, अन्तराबन्ध रोगग्रस्त मनुष्यों में भी यही देखा गया है। अन्य उच्छेदन प्रयोगों से ललाट पूर्व पिण्डक में एक निरोधक तंत्रिकामंडल के साथ घनिष्टतया सम्बन्धित एक विरोधक क्षेत्र का पता चला है और इसे भी अवधान के तंत्रिकीय आधार के रूप में प्रस्तावित किया गया है। अवधान में सामान्य गत्यात्मक क्रियाएँ अवरोधित हो जाती हैं, और नेत्रों तथा संपूर्ण शरीर का एक विशिष्ट उत्तेजना की ओर अनु-स्थापन हो जाता है।

अवधान व्यक्ति के प्रत्यक्षीकरणों को ही नहीं, प्रत्यक्षीकरण के उपरान्त और उनके द्वारा उनके स्मरणों को भी निर्धारित करता है। अवधान से प्रत्यक्ष के समय ही मानसपट पर उसकी गहरी छाप पड़ी रह जाती है। फिर कालान्तर में उसका सफलतर एवं स्पष्टतर प्रत्यास्मरण भी अवधान की मात्रा पर ही निर्भर होता है। प्रत्यास्मरण के समय किसी वर्तमान प्रत्यक्ष अथवा विचार के उपरान्त उससे सम्बन्धित अनेक स्मृतियों में से कौन-सी मानसतल पर आती है, यह सब कुछ दिये हुए अवधान पर ही निर्भर होगा। अवधान और स्मरण की इस सम्बद्धता के कारण पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अवधान-सम्बन्धी प्रयोग आरम्भ होने के बाद, शीघ्र ही स्मरण के विषय में भी प्रयोग होने लगे। इन प्रयोगों के पूर्व स्मृति को एक शक्ति अथवा योग्यता माना जाता था। और किसी

सामग्री को याद कर लेना और उसे भूल जाना दो विरोधी कौतूहलपूर्ण घटनाएँ समझी जाती थीं। प्रयोगात्मक अध्ययनों के आरम्भ से स्मृति एक माप्य प्रक्रिया अथवा प्रकार्य के रूप में देखी जाने लगी। धारणा की मापनात्मक परीक्षा के लिए सीखने की मात्रा, बचत की मात्रा, एवं बतलाते रहने की आवश्यकता की मात्रा ज्ञात करने की विधियों का निर्माण हुआ और प्रायौगिक सामग्री के रूप में अर्थहीन शब्दांशों का उपयोग आरम्भ किया गया। सम्बद्ध पदयुग्म उपस्थापन विधि भी बनी। इससे कंठस्थ करने और भूलने का परिमाणात्मक अध्ययन संभव हो गया। पता चला कि किसी सामग्री को कंठस्थ करने की क्रिया बन्द करने पर उसका सबसे अधिक विस्मरण पहले की कुछ मिनटों में हो जाता है और विस्मरण की मात्रा सामग्री के स्वरूप पर निर्भर रहती है। विस्मरण गति ही नहीं, स्मरण विस्तार, सीखने की अति का प्रभाव, अभ्यास का श्रेष्ठतम वितरण, दूर के सम्बन्धों और पीछे की ओर सम्बन्धों के प्रायौगिक अध्ययन हुए। साहचर्यों की यान्त्रिक अंतःक्रिया को समझने के लिए कुमक, साहचर्यात्मक अवरोधन, सीमान्तक अवरोधन, तथा भूतलक्षी अवरोधन की धारणाओं का निर्माण हुआ। प्रयोगों ने सिद्ध किया कि पूर्वप्रेक्षित सामग्री का धारण मध्यकालीन सामग्री द्वारा प्रभावित होता है और इस प्रकार पूर्वप्रचलित विश्वास का खंडन किया, कि विस्मृति का बढ़ना समय बीतने के कारण ही होता है। यह भी ज्ञात हुआ कि किसी सामग्री को याद रखने के लिए एक स्थिरन अथवा दृढ़ीकरण काल आवश्यक है। निद्रा के तथा शिराघातोत्पन्न स्मृतिनाश के धारण पर होनवाले प्रभावों के अध्ययनों से, और संक्षोभ-चिकित्सा के उपरान्त होनेवाले स्मृति-दोषों के अध्ययन से इस ज्ञान की पुष्टि हुई।

इन सब अध्ययनों में साहचर्यवादी दृष्टिकोणों की प्रधानता रही और स्मृति की मुख्यतः यांत्रिकवादी धारणा बन गयी। व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों ने भी मानसिक अंशों के स्थान पर देह-प्रकार्यात्मक अंशों को स्थापित करके, उनमें वैसे ही साहचर्यात्मक तंत्र का प्रतिपादन किया और स्मृति को अभिवाही ऐन्द्रीय उत्तेजनों को अपवाही गति-प्रतिक्रियाओंसे सम्बद्ध करनेवाले अपेक्षाकृत स्थिर निम्न प्रतिरोधात्मक पथों पर आधारित बताया। इस दृष्टिकोण में मानसिक अथवा अनुभवात्मक तत्त्वों के लिए कोई स्थान नहीं है। व्यावहारिक प्रयोग पूर्व किसी हस्ततंत्र, शाब्दिक, अथवा रक्तवाहक तंत्र का प्रदर्शन ही स्मृति माना जाता है। बहुत-से मनोवैज्ञानिकों को यह दृष्टिकोण प्रात्रमान्यता-दोष से दूषित और इस क्षेत्र में प्रगति के लिए अननुकूल प्रतीत होता है।

स्मृति के सम्बन्ध में एक प्रकार्यवादी दृष्टिकोण का विकास भी हुआ है। इसके अनुसार कम-से-कम कुछ स्मृतियाँ अवश्य यथावत् धारण-स्वरूप न रहकर औद्वेगिक निर्धारकों के फलस्वरूप परिवर्तित होती अथवा अस्थिर रहती हैं। विशेषतया साक्ष्यों

के अध्ययनों ने प्रत्यास्मरण की अविश्वस्यता, और सुझावन, पूर्वाग्रह, व्यक्तिगत लाभ, आदि भावात्मक प्रवृत्तियों द्वारा उसके विकृत हो जाने के बहुत-से प्रमाण एकत्र किये हैं। केवल निरर्थक शब्दांशों जैसी कृत्रिम सामग्री के प्रयोग से भी असंतोष बढ़ा है। संपूर्ण स्मृति प्रक्रिया के नियम केवल इनके प्रयोग पर आधारित करना वैज्ञानिक संकीर्णता समझी गयी है। सीखने और याद रखने में विशेष सुविधाहीन, अर्थात् सर्वथा अर्थहीन पूर्व साहचर्यहीन, लयहीन आदि शब्दांश बनाने अथवा चुनने की व्यावहारिक कठिनता से भी यह निष्कर्ष निकाला गया है कि स्मृति विशिष्ट साहचर्यात्मक सम्बन्धों पर निर्भर निष्क्रिय प्रक्रिया नहीं। यह तो अपने प्रदत्तों को अर्थपूर्ण संयोजनों में संगठित करनेवाली सक्रिय प्रतिक्रिया है। गेश्टाल्टवादियों ने स्मरण-प्रक्रिया की सक्रियता पर और भी अधिक बल दिया है। साथ ही उन्होंने स्पष्टता के कम होने से स्मृति प्रतिमाओं में अधिक परिचित अथवा श्रेष्ठतर सम्पूर्णता आती हुई देखी है। इस प्रकार सीखने के समय की सम्पूर्ण परिस्थिति स्मृति में होनेवाले परिवर्तनों की महत्त्वपूर्ण निर्धारक हो जाती है। धारण तथा विस्मृति-सामग्री की तार्किक संगति एवं रचनात्मक विशेषताओं के दृष्टिकोण से देखी जाने लगती है। कुछ गेश्टाल्टवादियों ने मानसिक ऊर्जाओं की गत्यात्मक अंतःक्रीड़ा को महत्त्व देते हुए स्मृति को अन्य मानसिक घटनाओं की भाँति जीव की आवश्यकताओं अथवा इच्छाओं द्वारा स्थापित मानसिक तनावतंत्रों का प्रकार्य प्रतिपादित किया है। अमूर्त कार्यों अर्थात् अस्खलित तनावतंत्रों से संबंधित सामग्री का मूर्त कार्यों अर्थात् स्खलित तनावतंत्रों से संबंधित सामग्री की तुलना में अधिक स्मरण रहना इस प्राक्कल्पना को प्रायोगिक पुष्टि प्रदान करता है।

कहानियों के लम्बे काल तक प्रायोगिक प्रत्यास्मरणों, पुनः प्रत्यास्मरणों के अध्ययन से यह मत पुष्ट हुआ है कि किसी घटना की स्मृति केवल स्थिर अपरिवर्तनशील स्मृति-चिह्नों पर निर्भर नहीं होती। स्मृति के अधिक महत्त्वपूर्ण निर्धारक, प्रत्यास्मरण के समय के मनोभाव हैं। इस प्रकार स्मृति वास्तव में थोड़े-से स्मृत सारतथ्य की कल्पना द्वारा पुनर्निर्माण की उपज होती है। किसी व्यक्ति को किस प्रकार की उपस्थापित सामग्री याद रह जाती है यह उसके राजनीतिक दृष्टिकोण पर निर्भर पाया गया है। एक प्रयोग में एक पुरुष तथा एक स्त्री में संघर्ष की एक कहानी पुरुषों एवं स्त्रियों दोनों को सुनायी गयी। पुरुष-दल को और स्त्री-दल को वही एक कहानी अलग-अलग रूप में याद रही।

यह जानने में लोगों की बहुत रुचि रही है कि सामान्य स्मृति-प्रशिक्षण हो सकता है कि नहीं। कुछ विशेष प्रकार की कविता के याद करने के अभ्यास के बाद यह देखने का प्रयत्न किया गया है कि सामान्य रूप से सभी प्रकार की कविता के याद करने में पहले

से अधिक सफलता प्राप्त होती है कि नहीं। प्रायः निष्कर्ष सामान्य स्मृति-प्रशिक्षण के विपक्ष में ही रहा है। विशिष्ट धारण, यांत्रिकवादी मत के अनुसार, आवृत्ति तथा कालिक समीपता पर निर्भर होता है, परन्तु अब सुखान्तकता, दुखान्तकता तथा अन्य औद्वेगिक निर्धारकों द्वारा भी प्रभावित स्वीकार किया जाता है। प्रसिद्ध "परिणाम नियम" यह है कि किसी परिस्थिति में की गयी विभिन्न प्रतिक्रियाओं में से वे प्रतिक्रियाएँ पक जाती हैं, जिनके साथ अथवा बाद में जीव संतुष्टि की अवस्था को प्राप्त हो और वे प्रतिक्रियाएँ छूट जाती हैं, जिनके साथ अथवा बाद में व्यक्ति कष्ट की अवस्था को प्राप्त हो। शिक्षा-ग्रहण का सुख-दुःख-सिद्धान्त भी बहुत कुछ यही है। मनोविश्लेषण ने भी स्मरण एवं विस्मरण में उद्वेगों को महत्त्व दिया है। प्रायः मनोविश्लेषणवादी मत के खंडन करने की आशा से सुखात्मक और दुखात्मक संवेदनाओं अथवा अन्य अनुभवों से सम्बन्धित सामग्री के स्मरण के विषय में बहुत-सा प्रायोगिक कार्य हुआ है। इससे कोई कार्य-कारण-सम्बन्ध तो स्पष्ट नहीं हुआ, परन्तु सुखात्मक सामग्री दुखात्मक सामग्री की अपेक्षा अधिक याद रहती पायी गयी है। सुखात्मकता अथवा दुखात्मकता से भी अधिक महत्त्व इन भावात्मक गुणों की तीव्रता में पाया गया है।

मनोविश्लेषवादी मत, स्मृति को समय बीतने के साथ फीका पड़ जानेवाला तथा निष्क्रिय सामग्री धारण करनेवाला मानने के विरोध में रहा है। इस मत के अनुसार अनुभवों के धारण पर केवल समय बीतने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। विस्मरण इससे नहीं, वरन् अस्वीकृत सामग्री को चेतना में आने से रोकनेवाली सक्रिय दमन-प्रक्रिया के कारण होता है। मनोविश्लेषक इस मत के पक्ष में बोलने, लिखने अथवा अन्य कामों में होनेवाली भूल-चूक के बहुत-से उदाहरण उद्धृत करते हैं। स्मृति-नाश के और स्मृति पर सम्मोहन एवं भेषज के प्रभावों के अध्ययन भी इस मत को पुष्ट करते हैं। सम्मोहक भेषज व्यक्ति के चेतन प्रत्यास्मरण की पहुँच के बाहर की संक्षोभात्मक स्मृतियों को पुनर्जाग्रत कर देते हैं और वह भी उसके व्यक्तित्व के परिवर्तन के द्वारा नहीं, केवल दमनात्मक अवरोधों को अस्थायी रूप से हटा देने से।

औद्वेगिक निर्धारक विशिष्ट सामग्री अथवा घटनाओं के स्मरण को ही नहीं, सामान्यतः सम्पूर्ण प्रत्यास्मरण योग्यता को भी हानि पहुँचाते पाये गये हैं। एक व्यक्ति को गिरने से मस्तिष्क में धक्का पहुँचा और वर्तमान घटनाओं की स्मृति सर्वथा जाती रही। बुद्धि वैसी ही रही और इस चोट के पहले की घटनाएँ अच्छी तरह याद रहीं। तीन वर्ष ऐसी ही स्थिति रही। फिर सम्मोहनात्मक एवं मनोविश्लेषणात्मक चिकित्सा से स्मृति धीरे-धीरे पूरी तरह लौट आयी। चिकित्सा-काल में ज्ञात व्यक्तित्व-समस्याओं से यह निष्कर्ष निकला कि वर्तमान घटनाओं के प्रत्यास्मरण की पूर्ण अयोग्यता भयानक नैतिक समस्याओं

के विरुद्ध प्रतिरक्षक का काम दे रही थी। इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्यास्मरण का प्रकार्य कई वर्ष तक न हो सकने पर भी उसकी योग्यता अक्षुण्ण रहती है और उपयुक्त मनश्चिकित्सा से पुनः स्थापित हो सकती है।

मनोविश्लेषकों ने बाल्यस्मृति-नाश को विशेष महत्त्व दिया है। उनका कथन है कि बाल्य में प्रत्यक्षानुभव द्वारा धारण तथा प्रत्यास्मरण के लिए परिस्थितियाँ सर्वाधिक मात्रा में अनुकूल होती हैं। बच्चे प्रत्येक नवीन सामग्री के अनुभव में अपने को बड़ी रुचि एवं तल्लीनता से लगाते हैं और उसे बड़ी लगन और यथार्थता से दुहराया करते हैं। फिर भी उत्तरायु में इन अनुभवों का प्रायः विस्मृत हो जाना ध्यान देने योग्य बात है। उनके मतानुसार इसका कारण चेतना से शैशवीय कामवृत्ति का दमन, अर्थात् आंतरिक प्रतिबन्ध द्वारा शैशव के कामानुभवों का दमन है। अधिकांश मनोवैज्ञानिकों को यह मत बहुत संकीर्ण प्रतीत होता है। कदाचित् यह विश्वास करना अधिक यथार्थ है कि बाल्य-स्मृति-नाश उत्तरायु में ऐसे प्रत्ययात्मक एवं लोक-प्रचलित स्मृति-तंत्रों के विकास का कारण होता है जिसमें बाल्यकाल के देह-प्रधान, संयुक्ति-प्रधान अनुभव उपयुक्त स्थान नहीं प्राप्त कर पाते। शिशुओं और प्रौढ़ों की अनुभव-शैलियाँ ही एक दूसरे से भिन्न होती हैं। प्रौढ़ता में पायी जानेवाली आत्म-चेतना और परिवेश की विषमता धीरे-धीरे ही आती है। विशिष्टता-प्रधान, विभाजनशील, प्रक्षेपणात्मक दृष्टिकोण प्रौढ़ता की विशेषता है। शैशव तथा पूर्वबाल्य के अनुभवों में पायी जानेवाली सम्पूर्णता एवं समन्वयात्मक एकतानता इससे सर्वथा भिन्न होती है और इसलिए इसमें समा अर्थात् खप नहीं पाती।

स्मृति के दैहिक आधार के स्वरूप अथवा स्थान, किसी के विषय में मतैक्य नहीं है। यह तो लगभग सर्वस्वीकृत है कि शिक्षण-काल में बन गये कोई केन्द्रीय चिह्न ही स्मृति के दैहिक आधार होते हैं, परन्तु साहचर्यवादियों का मत यह रहा है कि सीखने के साथ विशिष्ट तंत्रिका-तन्तुओं में अथवा अल्प प्रतिरोध अन्तर्ग्रथनों पर परिवर्तन हो जाते हैं और अनभ्यास की अवस्था में इन अन्तर्ग्रथनों पर प्रतिरोध बढ़ जाते हैं। इसके विपरीत अब बहुत-से विद्वानों का यह मत है कि स्मृति-चिह्न-विशिष्ट तंत्रिका-तन्तुओं तक अथवा स्थानबद्ध ढाँचों तक सीमित नहीं है, वरन् प्रांतस्थ प्रतिक्रिया के विस्तृत सम्पूर्णों के रूप में फैले हुए होते हैं। यह विचार प्रगट किया गया है कि कदाचित् किसी संवेदना के प्रतिवाद रूपी तंत्रिकीय परिणाम उत्तेजना की स्मृति का अस्थायी दैहिक आधार होंगे और यह पीछे से किसी स्थायी रचना-परिवर्तन द्वारा पुष्ट हो जाते होंगे। कुछ विशेषज्ञों का यह भी मत है कि स्मृति का कोई निश्चित विशिष्ट मस्तिष्कीय स्थान है ही नहीं। वे स्मृति को सम्पूर्ण प्रान्तस्थ का ही प्रकार्य मानते हैं। एक मत यह भी है कि विभिन्न प्रान्तस्थ क्षेत्रों के अलग-अलग सामान्य स्मृति प्रकार्य तो हैं, परन्तु विशिष्ट स्मृतियों

के अलग-अलग विशिष्ट स्थान नहीं होते। कदाचित् अलग-अलग प्रान्तस्थ क्षेत्रों के अलग-अलग सामान्य स्मृति-प्रकार्यों में भी इतनी परस्परतन्त्रता है कि किसी विशिष्ट क्षेत्र के नष्ट हो जाने से भी उसके प्रकार्य लुप्त नहीं हो जाते। फिर भी स्मृतियों के अलग-अलग विशिष्ट स्थान होने की धारणा सर्वथा खंडित नहीं कही जा सकती। एक अनुसंधानक मिरगी ग्रस्त रोगियों के शंख पिण्डकों के उत्तेजन द्वारा उनके पूर्व अनुभवों की विशिष्ट स्मृतियों को जागृत कर पाया है। उसका कथन है कि जब भी कोई सामान्य व्यक्ति किसी विषय को चेतन रूप से ध्यान दे रहा है, वह साथ ही मस्तिष्क के प्रत्येक अर्थ गोल के शंख-प्रान्तस्थ में उसको अंकित भी करता जा रहा है और इस प्रकार उस क्षेत्र के प्रान्तस्थीय ढाँचों में पूर्व अनुभवों के चिह्न अंकित एवं संग्रहीत रहते हैं। परन्तु यह भी देखा गया है कि शंख-पिण्डकों के बड़े भाग नष्ट हो जाने पर भी विशिष्ट स्मृतियाँ बनी रहती हैं। हाँ, जिन बन्दरों के दोनों शंख-पिंडक निकाल दिये जाते हैं, वह पूर्वप्राप्त प्रशिक्षण को भूल जाते हैं। शंख-पिण्डक में चोट खाये हुए बन्दरों में परिचित पदार्थों को देखकर पहचान लेने की योग्यता का लोप अर्थात् दृष्ट-प्रत्यभिज्ञानाश भी देखा गया है।

६

सामान्य मनोविज्ञान (२)

संवेदना, प्रत्यक्ष, अवधान, स्मृति सभी बोधात्मक प्रतिक्रियाएँ हैं। मानसिक प्रक्रियाओं में दूसरा बड़ा वर्ग भावात्मक प्रक्रियाओं का है। ये ही क्रिया की जड़ हैं, उत्प्रेरण का आधार हैं। मनोविकृति भावात्मक प्रक्रियाओं से ही उत्पन्न होती है। मन की गहराइयों में इन्हीं का राज्य है। इनमें उद्वेग प्रमुख हैं। परन्तु उद्वेग के विषय में कई दृष्टिकोण एवं सिद्धान्त प्रस्तावित हुए हैं।

कुछ प्रायोगिक मनोवैज्ञानिकों को उद्वेग लक्ष्योन्मुख क्रियाओं में विघ्न डालनेवाले, कुशल कार्याभ्यासों को तोड़नेवाले और व्यक्ति को अव्यवस्थित प्रतिक्रियाओं की ओर ले जानेवाले प्रतीत होते हैं।

इसके विरोध में यह मत है कि उद्वेग उद्भावकों का काम देते हैं और इसलिए यह जीव के लिए उपयोगी होते हैं। एक तीसरा मत मनश्चिकित्सकों की ओर से विकसित हुआ है। इसके अनुसार प्रेम तथा आक्रामक भाव मानव-क्रियाशीलता के प्रमुख अनुप्राणक हैं और इसलिए मनुष्यों के सामान्य विकास के लिए आवश्यक हैं। अब कुछ मनोवैज्ञानिक यह सोचने लगे हैं कि कदाचित् सब उद्वेगों का एक ही प्रकार्य, एक ही संरचना, और एक ही परिणाम नहीं होता। कुछ उद्वेग अभ्यसित व्यवहार-शैलियों को तोड़नेवाले होते हैं, कुछ नहीं। कुछ पलायन अथवा संघर्ष आदि विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति में उपयोगी होते हैं। कुछ सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक होते हैं।

एक प्रमुख विवादास्पद प्रश्न यह भी है कि उद्वेग स्वतन्त्र आत्ममूलक अनुभव है या विशिष्ट प्रकार के शारीरिक परिवर्तनों अथवा अव्यवस्थितियों का ही प्रकार्य है। उद्वेग में शारीरिक अव्यवस्थिति तो होती ही है, जो अनुभव के उग्र होने पर और भी स्पष्ट हुआ करती है। परन्तु उद्वेग प्रत्यक्ष द्वारा ही उत्तेजित होता है। किसी अनुद्वेगिक अनुभव से किसी औद्वेगिक अनुभव की उत्पत्ति कैसे सम्भव हो जाती है, यह गम्भीर एवं कठिन समस्या है। साथ ही यह समस्या भी है कि उद्वेग का उद्विग्नावस्था में पायी गयी शारीरिक अव्यवस्था से क्या सम्बन्ध है। क्या उद्वेग से शारीरिक अव्यवस्था उत्पन्न होती है अथवा शारीरिक अव्यवस्था से उद्वेग की उत्पत्ति होती है?

वह मनोवैज्ञानिक जो तांत्रिकी कायिकी से विशेषतया प्रभावित है, उद्वेग का कोई भौतिक आधार ही खोजते हैं। इस प्रकार का प्रथम प्रयास इस मत का प्रतिपादन था कि उद्वेग शारीरिक परिवर्तनों का ऐन्द्रीय प्रत्यक्ष मात्र होता है। विषय का प्रत्यक्ष, रुधिर-वहन में क्रिया-प्रोत्साहक परिवर्तन उत्पन्न करता है और ये परिवर्तन ही औद्वेगिक अवस्था के रूप में प्रतीत होते हैं। इस प्रकार शारीरिक परिवर्तन ही अनुभूत उद्वेग की उत्पत्ति के कारण होते हैं। कोई भी एक विषय सदा एक ही उद्वेग नहीं उत्पन्न करता। जब वह विषय हमें हमारी संभावित हानि की ओर संकेत करता है, तब हम उससे दूर भाग खड़े होते हैं, परन्तु जब उससे हमें उस पर विजय प्राप्त करने का रास्ता सूझता है, तब वह हमें लड़ने को उद्यत कर देता है। परन्तु प्रत्येक अवस्था में औद्वेगिक उत्तेजना उस विचार के बाद, उस विचार से उदित विभिन्न शारीरिक क्रिया-प्रेरणाओं के परिणामस्वरूप ही होती है। इस मत के स्वीकार करने में बहुत-सी कठिनाइयाँ रही हैं। एक तो पूर्वोक्त हानि अथवा विजय, और लड़ने अथवा भाग खड़े होने का विचार, स्वयं उद्वेगात्मक ही है, अतः उसे उद्वेग का कारण कहना अनुपयुक्त होगा। दूसरे, इस प्रकार के विचार तो किसी वस्तु के कई अनुभवों के पश्चात् ही आ सकते हैं, परन्तु उद्वेग तो किसी वस्तु के प्रथम अनुभव पर भी हो सकता है, और भी होता है। उदाहरणार्थ, चिम्पांजी, सर्प, मनुष्य के सिर, अथवा चिम्पांज़ी के सिर को पहली बार देखकर भी भय प्रगट करते हैं। फिर, किसी विषय के प्रति वर्तमान उद्वेग उसी विषय से उत्तेजित पूर्व उद्वेगों से भिन्न भी तो हो सकता है। इसके अतिरिक्त, प्रयोगों में प्रयोज्य शारीरिक परिवर्तनों का बोध होने से पहले ही अपने उद्वेग को बताते हुए पाये गये हैं। यहाँ तक कि यदि क्षति अथवा रोग के कारण शारीरिक संवेदनाओं का लोप हो जाये, तो भी उद्वेग पूर्व की भाँति होते रहते हैं।

कुछ इन्हीं कारणों से एक अन्य तांत्रिकी कायिकी से प्रभावित मत उद्वेग को मस्तिष्क के अन्दर थैलेमस में स्थित मानता है। इस मत के अनुसार, जब कोई भी ऐन्द्रीय उत्तेजन थैलेमस से होता हुआ प्रान्तस्थ में जाता है, तो बीच में थैलेमस उसे किसी औद्वेगिक रंग में रँग देता है, और साथ ही, अनुकम्पी तंत्रिका-तंत्र को विभिन्न अभ्यन्तरांग-परिवर्तन उत्पन्न करने में लगा देता है। साधारणतया प्रान्तस्थ थैलेमसी प्रस्राव का अवरोधन करता है और इसलिए संवेदनाओं में औद्वेगिक लेश का पता नहीं चलता। जब औद्वेगिक उत्तेजन तीव्र हो जाता है, तब उद्विग्नता इस अवरोध में से भी निकल जाती है और प्रगट हो जाती है। अन्य परिस्थितियों में प्रान्तस्थ में प्रतिक्रिया की दिशा निर्धारित करनेवाली अभ्यनुबन्धित प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और ये थैलेमस में उपयुक्त प्रक्रियाओं को मुक्त कर देती हैं। परिणामस्वरूप थैलेमस अपनी विशिष्ट प्रक्रियाएँ ऊपर को प्रान्तस्थ की ओर, औद्वेगिक अनुभव उत्पन्न करते हुए, और नीचे परिधि की

ओर, उद्वेग की अभिव्यक्ति उत्पन्न करते हुए, प्रभावित करता है। इस प्रकार, प्रत्येक अवस्था में, प्रान्तस्थीय अवरोध से मुक्ति ही उद्वेग का लक्षण है। इस मत की पुष्टि में, बहुधा इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है कि जिन जन्तुओं के क्षीण प्रान्तस्थ निकाल दिये जाते हैं, वे अपने तख्ते पर बँधे हुए, संवेदनाहरण का प्रभाव क्षीण होने पर प्रबल क्रोध प्रदर्शित करते हैं। परन्तु प्रान्तस्थ, थैलेमस एवं हाइपोथैलेमस-सम्बन्धी अनेकों शल्य-क्रियात्मक प्रयोगों के पश्चात् सार यही निकला है कि थैलेमस अथवा हाइपोथैलेमस उद्वेगाभिव्यक्ति के आधार हैं। इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि उद्वेगानुभवों का उदय भी थैलेमस अथवा हाइपोथैलेमस से होता है।

एक और प्रकार से हाइपोथैलेमस को उद्वेग का स्थान माना गया है। मस्तिष्क को तीन विभिन्न प्रकार के संकलन में काम आनेवाला महान् अंतस्सम्बन्धयुक्त तंत्र समझा गया है। इसकी प्रत्यक्षीकरण-धारा विभिन्न ऐन्द्रीय ग्राहकों से चलकर थैलेमस के ऐन्द्रीय केन्द्रकों में होती हुई प्रान्तस्थ के संवेदना-क्षेत्रों तक जाती है। संकलनात्मक विचारधारा थैलेमस में इससे अलग होकर पृष्ठ-मध्य-केन्द्रकों में होती हुई ललाटकीय पिण्डकों तक जाती है। भावना-धारा थैलेमस में अलग होकर हायोथैलेमस स्थित स्तनग्रंथियों में होती हुई अग्र थैलेमी केन्द्रकों और मेखलाकार प्रान्तस्थ तक जाती है। इस भावनाधारा में एक धारा हिप्पोकैम्पस के गिर्द के प्रान्तस्थ क्षेत्र से आ मिलती है जो फौर्निक्स होती हुई स्तनग्रंथियों में पहुँचती है। प्रान्तस्थ जाते हुए संवेदनात्मक उत्तेजन हाइपोथैलेमस जानेवाले वाहकों पर पहुँच जाते हैं। हाइपोथैलेमस में उन्हें अपना-अपना औद्वेगिक रंग प्राप्त होता है। जब इनके वाहक सिंगुलर वल्लिका में पहुँचते हैं, तब उद्वेग का अनुभव होता है। उद्वेग का निर्माण हिप्पोकैम्पल वल्लिका में भी हो सकता है। तब उत्तेजन अथवा औद्वेगिक रंग प्राप्त करने के लिए हिप्पोथैलेमस भेजे जाते हैं, और जब संदेश हाइपोथैलेमस से सिंगुली वल्लिका में पहुँचते हैं, तब उनका उद्वेग के रूप में अनुभव होता है। प्रश्न यह होता है कि हाइपोथैलेमस यह कैसे निश्चित करता है कि किस उत्तेजन को कौन-सा औद्वेगिक रंग दे। अर्थात् सामान्य औद्वेगिक उत्तेजन, भय, क्रोध, प्रेम आदि विशेष उद्वेग का रूप कैसे ले लेता है।

एक तीसरा मत इन सबसे भिन्न है। वह उद्वेग को चेतना का किसी प्रकार का अनुभव नहीं, वरन् औद्वेगिक व्यवहार उत्पन्न करनेवाली और उसी के आधार पर अनुमानित तांत्रिकीय प्रक्रियामात्र मानता है। इस मत के मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि कोई एक निश्चित प्रकार की मानसिक अवस्था अथवा घटना नहीं है, जिसे उद्वेग कहा जा सके। भय जैसा कोई भी अव्यस्थाकारी उद्वेग वास्तव में प्रान्तस्थ के अन्दर कोशिका-गुटों के

रूप में संगठित क्रियाशीलता क्रमों का अस्थायी व्यतिक्रम होता है। ऐसे ही सुखद उद्वेग प्रान्तस्थ-व्यवस्था के वर्तमान सतत विकास रूप होते हैं। इस प्रकार मनुष्य के अन्दर घटनाओं का अनुमोदन, अननुमोदन, निर्देशन, प्रोत्साहन, अथवा सक्रिय विरोध करनेवाले मानव से छुट्टी पाने का प्रयत्न किया जाता है, और व्यवहार तथा उत्प्रेरणा की विषयोन्मुखता, क्रमशीलता और परिवर्त्यता केवल तंत्रिकीय प्रकार्यों पर ही आधारित सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु यह प्रयास पूर्णतया सफल नहीं हो पाता है। उद्वेग में किसी प्रकार की क्रिया की ओर प्रवृत्ति का बोध तो स्वीकार करना ही पड़ता है, जो चेतन मानसिक अवस्था नहीं तो और क्या है? औद्वेगिक व्यवहार के ढाँचों की विशिष्टता तत्काल पहचानने में आ जाती है। पहचानने वालों को व्यक्ति की आन्तरिक तांत्रिकीय अवस्था का कुछ पता नहीं होता और यदि होता भी तो वे उससे उसके उद्वेग को न पहचान पाते। फिर, इस प्रकार तांत्रिकी एवं दैहिक प्रक्रियाओं द्वारा उद्वेग को समझने का प्रयत्न करनेवाले भी तंत्रिकातंत्र के अन्दर संघर्ष, आशातीत स्तर से निम्नता, परिहार आदि ऐसी प्रक्रियाओं का ही प्रतिपादन करते हैं, जो वास्तव में मानसिक ही हो सकती हैं, भौतिक नहीं। वे मन के स्थान पर तंत्रिका-तंत्र की स्थापना अवश्य करते हैं परन्तु उससे अनुमोदन, अननुमोदन, प्रोत्साहन, स्वीकृति, अस्वीकृति, निर्णय, बल-प्रयोग, सरलीकरण आदि मानसिक कार्य ही कराते हैं।

कुछ तंत्रिक्यकायिकी से प्रभावित मनोवैज्ञानिक यह स्वीकार कर लेते हैं कि अलग-अलग उद्वेगों का विभिन्न प्रकार का अनुभव होता है और तब वे प्रत्येक प्रकार के उद्वेग का अलग प्रकार का दैहिक आधार स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार यह कहा गया है कि भय की विशेषता अनुकम्पी तंत्रिकातंत्र का उत्तेजन है और क्रोध की विशेषता अत्यनुकम्पी तंत्रिकातंत्र का उत्तेजन है। यदि यह मान लिया जाय तो आत्मग तंत्रिकातंत्र की इन दोनों शाखाओं के प्रान्तस्थ से अलग-अलग सम्बन्ध भी होंगे। थैलेमस से उद्वेग की उत्पत्ति के प्रमाण के अभाव में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि उद्वेग में प्रान्तस्थ द्वारा ही थैलेमस तथा हाइपोथैलेमस का उत्तेजन होता है। कदाचित् इसीलिए ललाट पूर्व पिण्डक पर शल्यक्रिया करने से व्यक्ति में चिन्ता कम हो जाती है। प्रान्तस्थ द्वारा थैलेमस हाइपोथैलेमस तथा आत्मग प्रेरणा चालक तंत्र के उत्तजन के वास्तविक पथों को ज्ञात कर लेने के प्रयत्न भी किये गये हैं।

मनोवैज्ञानिकों के एक समुदाय का आग्रह है कि उद्वेग में होनेवाली शारीरिक अव्यवस्था का कोई उद्देश्य अथवा लक्ष्य अवश्य होगा, चाहे उसे सांयोगिक चयन अथवा प्राकृतिक उपयुक्ति ही क्यों न कह दिया जाय। सम्भव है कि उद्वेग में होनेवाले शारीरिक परिवर्तन उद्वेग द्वारा अव्यवस्थित साम्यावस्था को लौटा लाने के लिए ही होते हों। ऐसी विचार-

धारा प्रायः जीव-विज्ञान से प्रभावित हुआ करती है और उद्वेग को जैवी मूल प्रवृत्तियों के अधीन समझती है।

इस प्रकार का एक मत यह है कि कोई विशिष्ट प्रकार की औद्वेगिक परिस्थिति किसी विशिष्ट प्रकार की मूल प्रवृत्ति को जागृत करती है। इसका अनुभव विशिष्ट प्रकार के उद्वेग के रूप में होता है और इसकी अभिव्यक्ति क्रिया को उकसाने वाले और क्रिया में फलीभूत होने वाले परिधिस्थित परिवर्तनों में होती है। इसलिए उद्वेग मूल प्रवृत्ति का अनुभव होता है। बिना सम्बद्ध मूल प्रवृत्ति के कोई उद्वेग नहीं होता। मूल प्रवृत्ति की जागृति या तो किसी ऐसे संवेदना-पुंज द्वारा होती है जो व्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण होता है, या फिर साहचर्य के आधार पर होती है। इसलिए उद्वेग मूल प्रवृत्ति की क्रियाशीलता का अनुभव होने के नाते जीव के लिए उपयोगी ही होता है। जब किसी एक ही विषय से सम्बन्धित बहुत से उद्वेग संगठित हो जाते हैं तो नवीन तन्त्रिकीय रचनायुक्त स्थायीभाव उत्पन्न हो जाता है।

मनोविश्लेषणवादी मनोविज्ञान की ओर से एक यह मत प्रतिपादित हुआ है कि उद्वेग मूल प्रवृत्त्यात्मक ऊर्जा के प्रस्राव का या उसके विक्षेप का अनुभव है। इस मत के अनुसार कामवृत्ति ही एक मात्र क्रिया-प्रेरक शक्ति है। इसलिए प्रस्राव के लिए उग्र मानसिक ऊर्जा कामवृत्ति अथवा उसके जोड़े एवं प्रतिभाग आक्रमणवृत्ति का अनुभव, या इनके प्रस्राव में अड़चन पड़ने पर होने वाली अव्यवस्था अर्थात् शारीरिक कामोत्तेजन की प्रान्तस्थीय विक्षेपावस्था चिंता का अनुभव ही, उद्वेग होता है। यों प्रेम तथा आक्रमण-वृत्ति को प्रस्राव पर और चिंता को संघर्ष पर आधारित कहा जाता है। कुछ मनो-विश्लेषकों ने सभी उद्वगों को संघर्षाधारित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु वे चिंता तथा क्रोध की ही संघर्षाधारित व्याख्या कर पाये हैं, काम आदि सुखद उद्वेगों की नहीं। मनोविश्लेषणवादियों में ही संघर्षाधारित एवं प्रस्रावाधारित दोनों व्याख्याओं का परित्याग भी हुआ है और इस मत का प्रतिपादन हुआ है कि उद्वेग अंतर्धकेल के तनाव अर्थात् उत्तेजन का घटाव या बढ़ाव होता है। यह तनाव काम के क्षेत्र में हो सकते हैं, जैसे कामोद्वेग और क्रोध के बीच, या स्वयं के क्षेत्र में हो सकते हैं, जैसे भय और विषया-नुराग के बीच, या स्वयं और काम के बीच हो सकते हैं, जैसे अपनी कामवृत्तियों का ही भय, या फिर स्वयं (अहम्) और पराहम् के बीच हो सकते हैं, जैसे दोषभावनाएँ। परन्तु यहाँ यह कठिनाई होती है कि प्रत्येक अंतर्धकेली तनाव के घटाव-बढ़ाव को उद्वेग नहीं कहा जा सकता। भूख इसका स्पष्ट उदाहरण है। प्रस्रावाधारित व्याख्या एवं संघर्षाधारित व्याख्या दोनों को मिलाकर उद्वेग का एक ऐसा विकासात्मक सिद्धान्त बनाने का प्रयत्न भी हुआ है, जिसके अनुसार विकासक्रम में पहले उद्वेगानुभव अंतर्धकेल का भावप्रस्राव

होता है, और फिर धीरे-धीरे विकसित होता हुआ अहम् इस भावप्रस्राव को स्थगित कर पाता है और ऐसा करने में ऐसे प्रतिरक्षा-प्रतंत्रों से काम लेने को विवश हो जाता है, जिनके अपने उत्प्रेरण और उद्वेग होते हैं।

मनोविश्लेषणवादियों के अतिरिक्त कुछ अन्य मनोवैज्ञानिकों ने भी संघर्ष को उद्वेग का लक्षण माना है। उनमें उद्वेग को उत्तेजन की बाढ़ ले आने वाला क्रियावृत्तियों का बाँध कहा गया है। उद्वेगों को मस्तिष्क के उच्चतर केन्द्रों में परिस्थिति के प्रति उपयुक्त प्रतिक्रिया आरम्भ करने के अयोग्य भी माना गया है। उद्वेग को कठिन परिस्थिति द्वारा उदित मानसिक प्रतिक्रिया के रूप में भी प्रतिपादित किया गया है, और ऐसा करने में आनन्द का उद्वेग होना अस्वीकार करना पड़ा है। मानसिक संघर्ष के अस्पष्ट एवं अव्यवस्थित अवस्था में होने के कारण उद्वेग को संघर्षात्मक मानने वालों के लिए यह भी आवश्यक समझा गया है कि वह इसे मानव-स्वभाव की दूषित अवस्था समझें और रचनात्मक अथवा सर्जनात्मक उद्वेगों को उद्वेग स्वीकार ही न करें। इस प्रकार संघर्षाधारित व्याख्याएँ सबके विषय में न हों, कुछ उद्वेगों के विषय में ही सफल सिद्ध होती हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिक तो यह सोचने लगे हैं कि उद्वेग केवल एक लोक-प्रचलित पद है और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कोई ऐसी अलग विशिष्ट प्रकार की मानसिक प्रक्रिया नहीं होती। केवल विशिष्ट विषयोन्मुखी ऊर्जा-उन्मुक्ति होती है। मनोविज्ञान के विषय-व्यवहार का वर्गीकरण, इस ऊर्जा उन्मुक्ति की मात्रा और दिशा के अनुसार होना चाहिए। इसकी मात्रा कदाचित् सबसे कम प्रगाढ़ निद्रा में, और उन्मत्त प्रयास अथवा उत्तेजन में अधिक हो जाती है। परन्तु इस प्रकार सभी प्रकार की मानसिक प्रक्रियाओं की विशिष्टता लुप्त हो जाती है। व्यवहार अथवा मानसिक जीवन को वैज्ञानिक ढंग से समझने के लिए उसमें भेद तो करने ही होंगे। ऊर्जा-उन्मुक्ति में विभिन्न मात्राओं का स्पष्ट प्रेक्षण प्रायः अनुभव में नहीं आता और विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं में भेद करने के लिए संतोषजनक आधार उपलब्ध नहीं करता। जैसे, अत्यन्त प्रयास एवं औद्वेगिक उत्तेजन में ऊर्जा-उन्मुक्ति समान होने पर भी उन्हें एक नहीं माना जा सकता। प्रयास में श्रम होता है, जो औद्वेगिक उत्तेजन में नहीं होता। ऐसे ही भय, प्रेम, क्रोध आदि भिन्न उद्वेगों में समान ऊर्जा-उन्मुक्ति हो सकती है, फिर भी उससे इनका अन्तर नहीं मिटेगा, और किसी भी सामान्य व्यक्ति को इन्हें अलग-अलग पहचानने में भ्रम नहीं होगा।

यही प्रश्न, व्यवहारवादियों की उद्वेग-धारणा के विषय में भी उठते हैं। वे प्रायः रक्तवहन तथा ग्रंथि-तन्त्र में और कुछ मात्रा में सम्पूर्ण कायातंत्र में, विस्तृत वंशानुक्रमाधारित परिवर्तन, प्रतिवर्त-प्रबलता-परिवर्तन, अथवा अंतर्धकेल-प्रबलता-परिवर्तन को ही उद्वेग का लक्षण समझते हैं।

विभिन्न उद्वेगों की विशिष्टता को स्वीकार कर लिया जाय तो इस विशिष्टता का आधार एवं स्वरूप निश्चित करना होगा। इसके लिए वास्तविक गतिभाव का सहारा लेकर देखा गया है। मारने को उद्यत होना क्रोध का, और भागने को उद्यत होना भय का लक्षण बताया गया है। परन्तु फिर भी प्रश्न रह जाता है कि यह कैसे निर्धारित हो कि किसी अवसर पर क्रोध का गतिभाव क्रियाशील हो, कि भय का। इसका निर्धारक उत्तेजना नहीं, क्योंकि उत्तेजना प्रत्येक अवसर पर उद्वेग उत्पन्न नहीं करती, और जब करती भी है तो प्रत्येक बार वही उद्वेग नहीं। उद्वेग को उत्प्रेरण रूप भी कहा गया है, और इसकी उद्देश्यपूर्णता एवं व्यवस्थितता की ओर विषेशतया ध्यान आकर्षित किया गया है। इसमें रक्तवहन, क्रिया एवं अनुभव, सबकी उपयुक्त, सुविधाजनक, विशिष्ट, संगठित व्यवस्था दर्शायी गयी है। कुछ उग्र उद्वेगों में अव्यवस्थितता स्वीकार की गयी है। परन्तु यह आग्रह किया गया है कि उद्वेग अथवा किसी भी प्रक्रिया का वास्तविक स्वरूप उसकी असामान्य नहीं सामान्य अवस्थाओं से समझना चाहिए। कठिनाई यह है कि औद्वेगिक व्यवस्था का उपयुक्त एवं सुविधाजनक होना व्यक्ति के उद्देश्यों पर ही नहीं उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर निर्भर होगा और इन सबका स्पष्ट निश्चयात्मक ज्ञान अभी दूर है। साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि उद्वेग में अव्यवस्थिति, असमन्वय एवं संस्तंभ सा भी होता है।

उद्वेग के विषय में कुछ मध्यमवर्गीय विचार धाराएँ भी हैं। एक विचार यह है कि उद्वेग व्यक्ति और विषय के बीच अनुभूत प्रकार्यात्मक संबंध है, जो व्यक्ति की प्रतिक्रिया द्वारा स्थापित होता है और उसके द्वारा किये गये विषय-सम्बन्धी तात्कालिक अपरोक्ष अनुमान पर आधारित होता है। उद्वेगों को सम्पूर्ण व्यक्ति की ऐसी स्वयमात्मक भावनाएँ भी कहा गया है, जो व्यक्ति द्वारा किसी परिस्थिति, विषय अथवा व्यक्ति पर अपने संदर्भ में विचार करने पर उत्पन्न होती हैं। ऐसा ही एक विचार यह भी है कि उद्वेग किसी विषय अथवा उससे परे की ओर झुकाव की अनुभूति है। इस विचार के अनुसार उद्वेगों को धनात्मक तथा ऋणात्मक दो वर्गों में रखा गया है, और उत्तेजन मात्रा के अनुसार भी उनका वर्गीकरण किया गया है। प्रेम, इच्छा, आनन्द, घृणा, दुःख आदि उन उद्वेगों में रखे गये हैं, जो अपने विषय की ओर झुकते हैं। इसके विपरीत भय, क्रोध, आदि उन उद्वेगों में रखे गये हैं, जो कठिनाइयों का सक्रिय सामना भी करते हैं।

कदाचित् सबसे बाद में और सबसे अधिक अध्ययन मनुष्यों के सम्पूर्ण जीवन तथा व्यवहार के मानसिक गुण, व्यक्तित्व का हुआ है। इसकी परिभाषा करना कठिन प्रतीत हुआ है। यह प्रक्रिया अथवा प्रकार्य नहीं है। यह तो मानसिक गुणों, मनोभावों आदि ढाँचों का संघटन अर्थात् उनसे बना हुआ एक सामान्य ढाँचा सा है, जिससे समान

परिस्थितियों में लगभग एक-सी क्रियाओं का उदय होता रहता है, जो एक ही से मुख्य भेद किया करता है, और अन्यों को एक-सा ही लगा करता है। इस संघटन में शारीरिक, बोधात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक सभी प्रकार के गुण परस्पर ओतप्रोत रहते हैं और सामान्यतः आयु की वृद्धि के साथ इस संघटन का विकास हुआ करता है।

व्यक्तित्व की रचना बहुत जटिल होती है और इसका विकास बहुत धीरे-धीरे अधिक समय में होता है। इस विकास का आरम्भ मनोविश्लेषणवादी मनोवैज्ञानिक जन्म के अनुभव से मानते हैं, कुछ मनोवैज्ञानिक गर्भस्थ प्रभावों से और कुछ गर्भ धारण के ही समय से प्रौढ़तापूर्व, जननपूर्व मनोग्रंथियाँ उस पर सदा के लिए प्रबल प्रभाव डाल देती हैं। फिर परिवार एवं समाज के प्रभाव भी उसमें स्थायी परिवर्तन कर देते हैं। फिर भी संभव है कि व्यक्तित्व का ६० से ८० प्रतिशत तक निर्धारण जीन कहलानेवाले आनुवंशिक निर्धारकों द्वारा ही होता हो और परिवेशात्मक निर्धारकों के आधार पर प्राप्त व्यक्तित्व की समझ इन आनुवंशिक निर्धारकों के आधार पर की गयी व्यक्तित्व-व्याख्या की अपेक्षा कभी भी श्रेष्ठतर न हो पाये।

व्यक्तित्व के अध्ययन की इकाइयाँ व्यक्तित्व के गुण हैं। यह गुण साधारण दर्शकों को विशिष्ट शैली युक्त दिखनेवाली क्रियाश्रृंखलाओं के सामान्य विशेषण होते हैं। इन्हें सम्पूर्ण श्रृंखला की क्रियाओं को एक सूत्र में बाँधनेवाली प्रेरक शक्तियाँ भी कहा जा सकता है। व्यक्ति के अपने प्रयास अथवा बाह्य प्रभावों द्वारा इन गुणों में परिवर्तन भी संभव होता है।

परन्तु इन गुणों के व्यक्तित्वरूपी संघटन के स्वरूप के विषय में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों एवं मनोवैज्ञानिक वर्गों की विभिन्न धारणाएँ हैं। व्यक्तित्व की धारणाओं में अन्तर कुछ अंश तक मनोवैज्ञानिकों के स्वभाव-वैषम्य के कारण और कुछ उनके सम्प्रदायानुसरण के कारण हैं। अपने व्यक्तित्व-संबंधी प्रयोगों में भी वे अपनी अपनी धारणाओं के अनुसार ही प्राक्कल्पनाएँ बनाकर चलते हैं, और उनके प्रयोग-फल भी प्रायः उन्हें अपनी प्राक्कल्पनाओं के पक्ष में ही प्रतीत होते हैं। परिणामस्वरूप व्यक्तित्व की रचना, उसके निर्धारक, उसके अन्दर संगठित विभिन्न गुण, उसकी संस्कृति, अन्य व्यक्तियों तथा परिस्थितियों से संबंध, उसकी चेतनागम्यता, उसकी प्रक्रियाओं के पीछे स्वायत्त मूल सत्ता, उसके सांख्यिकीय विश्लेषण की संभावना, उसका आनुवंशिक विधान, उसके प्रकार, स्तर और उसके लक्ष्य, इन सबमें से किसी एक अथवा अनेक पक्षों को लेकर व्यक्तित्व के अध्ययन के कई दृष्टिकोण बन गये हैं और इस प्रकार व्यक्तित्व अनुसंधान के बहुत से क्षेत्र खुल गये हैं और कई व्यक्तित्व-सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी हुआ है।

व्यवहारवादियों का मत है कि व्यक्तित्व, अभ्यनुबन्धित आदतों के समूह का नाम

मात्र है। परन्तु व्यवहारवाद अब बहुत लोकप्रिय नहीं है। उसका स्थान बहुत कुछ उसी के अनुगामी क्रियावाद ने ले लिया है। इसमें अभ्यनुबन्धित प्रतिवर्ती के स्थान पर क्रियात्मक व्यवहार और उसकी पुष्टि की प्रधानता है और व्यक्तित्व को क्रियात्मक अभ्यनुबन्धन की उपज के रूप में देखा गया है। इसे एक विवेचनात्मक उत्तेजना के चारों ओर विकसित प्रकार्यात्मक एकतायुक्त प्रतिक्रिया-तंत्र का नाममात्र, और व्यक्तित्व-गुणों के पुष्टिकरण तथा बंधन की कुछ परिस्थितियाँ कहा गया है। इस प्रकार मनुष्य गुणतंत्र के वजाय प्रतिक्रिया-यंत्र मात्र रह जाता है। यांत्रिक संज्ञापन एवं नियंत्रण व्यवस्था-युक्त, विशाल लौहमानव में भी उसके बनानेवाले व्यक्तित्व के बहुत कुछ दर्शन करते प्रतीत होते हैं। यह ठीक है कि गुणों की अपेक्षा प्रतिक्रियाओं का नियंत्रण सुगमतर है। परन्तु किसी व्यक्ति की प्रतिक्रियाएँ भी तो तभी पूर्वानुमानित एवं नियंत्रित की जा सकेंगी, जब उसके गुणों का ज्ञान हो। साथ ही व्यक्तित्व को पदार्थत्वहीन मात्र स्वीकार करना भी कठिन है। व्यक्ति के किसी विशिष्ट स्वरूप के बिना उसकी प्रतिक्रियाओं का कोई अर्थ अथवा महत्त्व नहीं रह जाता।

मानव-विज्ञान तथा समाज-शास्त्र के अधिकांश पंडित और उनसे प्रभावित मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व को परिवेश द्वारा निर्धारित मानते हैं। वे सामाजिक परिस्थितियों को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं और अनुकरण, बड़ों द्वारा सिखाई हुई सांस्कृतिक परम्पराओं आदि को व्यक्तित्व के विकास के मुख्य निर्धारक मानते हैं। अनुकरण अवश्य ही बाल-विकास में एक महत्त्वपूर्ण अंग है। परन्तु औरों से आगे बढ़ने की प्रवृत्ति और स्वयं अनुकरणीय होने की इच्छा भी तो बलवान् और विकास में प्रगति की ओर ले जाने वाली होती है। विभिन्न समाजों के अलग-अलग आधारभूत व्यक्तित्व-प्रकार पहचानने का वहुत प्रयत्न हुआ है। इस प्रकार नवाहों-जाति में गुदीय काम की प्रधानता पायी गयी है, जिसे मनोविश्लेषणानुसार व्यवस्थाप्रियता, मितव्ययिता तथा हठीलेपन का चिह्न समझा जा सकता है। इन जातियों में धार्मिक कर्मकाण्ड, मलगोपनीयक शौच-प्रशिक्षण, एवं भयाधारित धार्मिकता की प्रधानता में इसकी पुष्टि प्रतीत होती है। सिऊ जाति उदार परन्तु युद्धरत पायी गयी है। यरोक जाति के लोग एक ही स्थान पर टिकनेवाले, मछली पकड़ने और अन्य शान्त कलाओं में आनन्द लेनेवाले, मितव्ययी एवं संपत्तिप्रिय सिद्ध हुए हैं। आलोग्की जाति की साल्टो शाखा के व्यक्ति उभयभावशील पाये गये हैं। वे ऊपर से सहयोगी, धैर्यशील, नियम-पालक, शान्तिप्रिय और अधिक खाद्य को बाँट देने-वाले, पर अन्दर ही अन्दर अस्पष्ट अथवा गुप्त रूप से और बहुधा जादू-टोना अथवा भूत-प्रेत की सहायता द्वारा आक्रमणशील निकले हैं; ऐसी परिस्थितियों में चिन्ता का बाहुल्य होता है और बहुधा संविभ्रम भी होता है। होपी के इंडियन आतिथेय, मैत्रीपूर्ण उदार भाव,

परन्तु विषमायोजन के लक्षण लिये हुए होते हैं। उनमें परस्पर संघर्ष प्रायः चला ही करता है और प्रत्याशा सहित अनिष्ट की चिंता लगी रहती है। इस जाति के जीवन में बहुत से मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त ठीक नहीं उतरते। बच्चों के पालन में अवरोधन का अभाव होता है। वे बहुत से बड़ों को माता-पिता की भाँति मानते हैं। उनमें विषमायोजन कदाचित् आर्थिक और सांस्कृतिक अनुकूलन की कठिनाइयों के कारण होता है। आलोरीय संस्कृति इस विश्वास पर आधारित है कि जीवन कठिन संघर्ष है। इसमें हमारे अधिकांश साथी विशेषतया स्त्रीवर्ग अविश्वसनीय हैं और हमारी सुनिर्मित योजनाओं को भी विफल कर देते हैं। अनुमान किया गया है कि इनमें चिन्तायुक्त, संदेहपूर्ण, कुंठित एवं दुःखी प्रकार के व्यक्तित्व का विकास अवश्यम्भावी है। इन परिस्थितियों में इसका कारण यह समझा गया है कि स्त्रियों को अपने शिशुओं को केवल एक पखवारा अपना दूध पिलाने के पश्चात् उन्हें छोड़कर खेतों में काम करने जाना पड़ता है। इसके परिणाम-स्वरूप बच्चे भूखे और कष्ट में रहते हैं जिससे उनमें तनावों का विकास हो जाता है। इन तनावों को हलका करने के लिए माता-पिता की वह सुख तथा स्नेह से पूर्ण धारणाएँ भी नहीं होतीं, जो अन्य संस्कृतियों के बच्चों को उपलब्ध हो जाया करती हैं। न्यूगिनी की मानू जाति में २५ वर्षों में ही व्यक्तित्व-परिवर्तन भी पाया गया है। इस अवधि के पूर्व यह जाति अप्रिय, लोभी और झगड़ालू थी, परन्तु जर्मनों द्वारा जीते जाने के बाद के शान्तिकाल में संतोष, भ्रातृवत् प्रेम, नियम और न्याय सीख गयी है और तभी से मानसिक सुख-शान्ति से रह रही है।

व्यक्तित्व के इस प्रकार के अध्ययनों में परिवेश की भौगोलिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक आदि किसी प्रकार की सांयोगिक विशेषता को व्यक्तित्व का प्रमुख आधार सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु इस संबंध में दो कठिन समस्याएँ हैं। एक यह कि ऐसे अध्ययन प्रायः असभ्य जातियों के ही होते हैं और यह अनुमान कर लेने की प्रबल प्रवृत्ति होती है कि जो नियम इन असभ्य जातियों के व्यक्तित्व-निर्माण में सहायक होते हैं वे ही सभ्य समाजों में भी सत्य निकलेंगे। दूसरे इन अध्ययनों में यह भूल जाने की प्रवृत्ति होती है कि प्रत्येक समाज में बड़े व्यक्तिगत अन्तर हुआ करते हैं। व्यक्तियों के अपने-अपने विभिन्नि व्यक्तित्वों का अस्तित्व जैसे अस्वीकार सा हो जाता है।

व्यक्तित्व के संस्कृति-केन्द्रित अध्ययनों से कुछ मिलते-जुलते अध्ययन अन्तर्व्यक्ति-वादी हैं। इनमें व्यक्तित्व स्वयं एक इकाई नहीं, वरन् एक सामाजिक सम्बन्ध है या सामाजिक सम्बन्धों का प्रतिच्छेद-बिन्दु है। यह सम्बन्ध व्यक्तियों की शारीरिक आवश्यकताओं, उनकी संतुष्टियों तथा उनकी परिस्थितियों के बिगड़ जाने पर उनकी चिन्ताओं से उत्पन्न होते हैं। एक अध्ययन के अनुसार व्यक्तित्व का विकास माता अथवा

धाय से भोजन अथवा स्नेह-प्राप्ति की मात्रा के आधार पर अच्छी और बुरी माँ दो प्रकार के व्यक्तित्व देखने से आरम्भ होता है। कालान्तर में शिशु अपने में अच्छा मैं, बुरा मैं और नहीं मैं से बना स्वयं-तंत्र देखने लगता है। अच्छा मैं उन अनुभवों से विकसित होता है, जिनमें सुखकारी स्नेह-वृद्धियों द्वारा संतुष्टि बढ़ी होती है। बुरा मैं पालक माँ अथवा किसी अन्य बड़े द्वारा उत्पन्न की गयी चिन्ताओं पर आधारित होता है। नहीं मैं उग्र चिन्ता की अवस्था से उत्पन्न होता है, अन्तराबन्ध में विच्छेदित व्यवहारों के रूप में व्यक्त होता है, और सामान्य व्यक्तियों में स्वप्नों में प्रकट होता है। शिशुओं की अन्तर्व्यक्तिगत स्थिति का यह गूढ़ विवेचन है। परन्तु दो प्रश्न उठते हैं। क्या यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि शैशव की ऐसी परिस्थितियाँ उसके भविष्य के व्यक्तित्व को भी सदा के लिए निर्धारित कर देती हैं। क्या कोई क्रूर अथवा अन्यायप्रिय बच्चे बड़े होकर महान् लोक-कल्याणकारी व्यक्ति नहीं बन जाते? दूसरे, क्या व्यक्तित्व में अन्तर्व्यक्तिगत सम्बन्धों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता? सामाजिक क्षेत्र के एकान्त जीवन, आत्म-चिन्तन, कलात्मक आत्माभिव्यक्ति, धर्म आदि में भी तो व्यक्ति की अपनी विशिष्ट स्वाभाविक शैली हुआ करती है, जिसे उसके व्यक्तित्व का ही महत्त्व-पूर्ण अंग मानना पड़ेगा।

व्यक्तित्व का अंत:क्रियातंत्र के रूप में भी अध्ययन किया गया है। इस दृष्टिकोण से व्यक्तित्व उत्तरोत्तर चढ़ते हुए स्तरों में संगठित सरल एवं जटिल आवश्यकता-प्रवृत्तियों का समूह प्रतीत हुआ है। यह आवश्यकता-प्रवृत्तियाँ शारीरिक ही नहीं, सामाजिक भी होती हैं। इनमें कार्य-प्रत्याशाएँ भी होती हैं और मूल्य-मापदंड भी। कर्ता का विषय से सम्बन्ध अन्य विषयों जैसा ही, अर्थात् सामान्य भी हो सकता है, और अन्य विषयों की अपेक्षा भिन्न प्रकार का, अर्थात् विशिष्ट भी। मनोविश्लेषण के प्रभाव में आकर इन अन्त:क्रियाओं की आधार-शिला भी शैशव में ही पड़ती मानी गयी है। व्यक्तित्व में, सामाजिक के अतिरिक्त किसी व्यक्तिगत अंश की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है और शैशव की अन्त:क्रियात्मक घटनाओं को महत्त्व देने में प्रौढ़ जीवन की घटनाओं का व्यक्तित्व के निर्माण-पुनर्निमाण में महत्त्व अप्रत्यभिज्ञ ही रह गया है।

व्यक्तित्व का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन अति प्रसिद्ध हो चुका है। यह शैशवीय अनुभवों को प्रमुख निर्धारक मानता है और इसीलिए वास्तव में परिवेश केन्द्रित भी है। मनोविश्लेषणवादी प्राय: कामवृत्ति के जननपूर्व विकास, उसके अन्तर्गत एडिपस-निवेशन, जीवन के प्रारम्भ में माँ द्वारा दूध छुड़ाने, नियम से मलमूत्र त्यागने की शिक्षा आदि के अनुभवों जैसे मौखिक तथा गुदीय अवशेषों को व्यक्तित्व के निर्धारण में प्रमुख स्थान देते हैं। कुछ मनोविश्लेषणवादी व्यक्तित्व की केवल मनोवैज्ञानिक व्याख्या का प्रति-

पादन करते हैं और कुछ उसका तंत्रिकीय आधार भी मानते हैं। अब उनमें क्रियावादी अध्ययन भी होने लगे हैं। एक अध्ययन व्यक्तित्व के मनोविश्लेषकों द्वारा प्रतिपादित उस गुण का हुआ है, जिसे मौखिक चरित्र कहा जाता है। इस गुण का मुख्य अंश भोजन में रुचि, अनुमोदन तथा प्यार की आवश्यकता का अनुभव, परतन्त्रता, सामग्री खोने के विषय में चिन्ता, कृपा करने की आवश्यकता का अनुभव, सामाजिक एकान्त, भक्तिभाव बाँटने में असमर्थता, सुझाव-ग्रहणशीलता, विषादोन्मुख प्रवृत्तियाँ तथा ऊबने के प्रति असहिष्णुता है। प्रच्छन्नता-काल के बच्चों को लेकर उन पर प्रयोग भी किये गये और उनके विषय में अध्यापकों के अंकनफल, समपन्यादर्श, समाजमितिफल तथा प्रक्षेपक परीक्षणफल भी प्राप्त किये गये। प्राप्त निष्कर्षों का एक नमूना यह है—"क्योंकि उन्हें सुरक्षित अनुभव करने के लिए कई रक्षकों की आवश्यकता प्रतीत होती है, इसलिए उन्हें अनेक व्यक्तियों के प्रति निष्ठा रखनी पड़ती है। क्योंकि वे 'नहीं' नहीं कह सकते', उन्हें हर किसी को 'हाँ' कहने में आनन्द आता है। इससे जो आलोचनाशक्तियों का संस्तम्भ हो जाता है वह उन्हें औरों पर अधिक अवलम्बित बनाता चला जाता है।" सम्पूर्ण अध्ययन से भोजन में अत्यन्त रुचि और सामाजिक एकान्त वाली परिकल्पनाएँ सबसे अधिक पुष्ट हुई। अनुमोदन तथा प्यार की आवश्यकता के अनुभव, देने के विषय में चिन्ता और ऊबने के प्रति असहिष्णुता वाली परिकल्पनाएँ भी पुष्ट हुईं। शेष सब परिकल्पनाएँ अपुष्ट अथवा अनिश्चित ही रहीं।

मनोवैज्ञानिकों का एक वर्ग व्यक्ति को एक मात्र सत्य और मानसिक प्रक्रियाओं को उसी के प्रतिबिम्ब मात्र सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा है। यह वर्ग व्यक्तित्व को मनोविज्ञान का प्रमुख विषय मानते हुए, इसे ऐसा सम्पूर्ण समझता है, जिसका उसकी सम्पूर्णता में ही अध्ययन करना चाहिए, अंशों में विश्लेषण करके नहीं। इस वर्ग में यह विश्वास रहा है कि मानसिक विकास चेतना में एक सत्य पुरुष के जीवन की प्रगतिपूर्ण अभिव्यक्ति है, जिसमें अपने ही नियमानुसार स्वतः ही उत्पन्न होनेवाली शक्तियाँ प्रकट हुआ करती हैं। प्रत्येक मानसिक क्रिया को सम्पूर्ण व्यक्ति की क्रिया समझना आवश्यक माना गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति समाज में नहीं जीव में स्थित है, जीव रिक्त नहीं परिपूर्ण है। उत्प्रेरण पूर्वस्थित ऊर्जाओं की कृति नहीं, वरन् वर्तमान रचना एवं प्रकार्य से सम्बन्धित तथ्य है। व्यक्तित्व के विश्लेषण की इकाइयाँ सजीव समन्वय योग्य होनी चाहिएँ और आत्मबोध को पर्याप्त महत्त्व देना चाहिए। इस वर्ग के कुछ मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व को अनुमानित संकलक के रूप में भी मानते हैं। सभी व्यक्तिवादी अनुभव को मूल असंदिग्ध तथ्य के रूप में स्वीकार करते हैं। उनका आग्रह है कि सामान्य मानव को अपने अनुभवों का लक्ष्यों का और दूसरों की दृष्टि में अपने

महत्त्व का बोध होता है, और वह निरन्तर दूसरों से अपनी तुलना किया करता है। इस प्रकार, जड़बुद्धियों अथवा जन्तुओं का कोई व्यक्तित्व नहीं होता। क्षिप्त मनुष्यों में दूषित ही सही, पर व्यक्तित्व होता अवश्य है। व्यक्तित्व-परिवर्तन दूर भूत की प्रतिध्वनि को ढकने की आवश्यकता से उत्पन्न ही नहीं, वर्तमान आत्मालोचना, भूल सुधार आदि विचार परिवर्तन से उत्पन्न भी हो सकता है। अवचेतना की अँधेरी गहराइयों से न निकला हुआ स्वतः विकसित चेतन तर्क, स्वतन्त्र लाभालाभ चिन्तन भी मनुष्य के बोधात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक जीवन को प्रभावित एवं निर्धारित कर सकता है। यह कठिनाई अवश्य है कि इस प्रकार के स्वरूपवाले व्यक्तित्व के साथ प्रयोगशाला में अपरोक्ष प्रयोग नहीं किये जा सकते।

वर्तमान युग में सांख्यिकी की प्रधानता है। स्वाभाविक है कि व्यक्तित्व का अध्ययन भी परिवर्त्यों के परस्पर सहसम्बन्धों के आधार पर किया जाय। गुणों के परस्पर सह-सम्बन्धों का खंड-विश्लेषण किया जाता है और इस प्रकार प्रत्येक परीक्षण अर्थात् गुण-पहचान में उस गुण का भार ज्ञात कर लिया जाता है। बहुत से परीक्षणों के उपयोग से प्राप्त अंकों के सह-सम्बन्धों के विश्लेषण से अन्तर्धकेलों की संख्या और उनके प्रकारों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इस शैली के व्यक्तित्व-अध्ययन, परिवेशवाद के पूर्ण समर्थक नहीं होते और कुछ अनुवंशानुक्रमवाद की ओर ही झुकते हैं। अंतस्सहसम्बन्धों के आधार पर बारह सुनिश्चित व्यक्तित्व-खण्ड ज्ञात किये गये हैं। प्रत्येक खंड विपरीत गुणों का जोड़ा है। इनकी सूची इस प्रकार है।

१. चक्रीय क्षिप्ति-वृत्ति—अन्तराबन्धवृत्ति।
२. स्थिरोद्वेग प्रौढ़ चरित्र—सामान्य उद्वेगशीलता।
३. पराभव—अभिभव
४. तरंग चढ़ाव—तरंग उतार
५. यथार्थ स्वभाव—अवलम्बी स्वभाव
६. साहसी चक्रीय वृत्ति—प्रत्याहत अन्तराबन्ध वृत्ति
७. चिन्तित उद्वेगशीलता—अनम्य संतुलन
८. सुसंस्कृत मानस—अशिष्टता
९. संविभ्रमात्मक—अन्तराबन्ध वृत्ति
१०. स्वच्छन्द चिन्ता-रहितता—रूढ़िबद्ध व्यावहारिकता
११. कृत्रिमता—सरलता
१२. आग्रह—विषाद

एक आनुवंशिक देह-रचना-प्रकारवादी मनोवैज्ञानिक ने खण्ड-विश्लेषण के आधार

पर तीन विभिन्न व्यक्तित्व-आयाम स्थिर किये हैं, जिन्हें उसने विक्षिप्तिवृत्ति, क्षिप्तिवृत्ति और अन्तर्मुखत्व—बहिर्मुखत्व कहा है। उसके खंडविश्लेषणात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष भी निकला है कि हिस्टीरिया की विशेषता अत्यन्त बढ़ी हुई सुझाव-ग्रहणशीलता की अवस्था है। उसके अध्ययन के अनुसार सामान्यता से एक ओर अथवा एक प्रकार का विकार अन्तराबन्ध और दूसरी ओर अथवा विपरीत प्रकार का विकार चक्रीय क्षिप्ति नहीं। इसके विपरीत अन्तराबन्ध स्वयं सामान्यता तथा चक्रीय क्षिप्ति के बीच की अवस्था है। विक्षिप्त अर्थात् मनोविकृति को भी उसने क्षिप्ति का लघु अथवा हलका रूप नहीं वरन् उससे सर्वथा भिन्न प्रकार की अवस्था पाया है।

व्यक्तित्व-प्रकारों की धारणा का इतिहास बहुत पुराना है। पाँचवीं ईसा पूर्व शताब्दी में मूर्छावृत्ति, मोटे और भारी भरकम व्यक्तित्व और राजयक्ष्मा आदि श्वासरोग वृत्ति एवं पतले-लम्बे शरीर वाले व्यक्तित्व में भेद किया गया था। तब से शारीरिक तथा मानसिक गुणों के आधार पर अनेक वर्गीकरण प्रस्तावित हुए हैं। शारीरिक गुणों पर आधारित कुछ वर्गीकरण इस प्रकार हैं—

१. आहारीय, पेशीय, श्वासीय और प्रमस्तिष्कीय
२. आहारीय, गत्यात्मक और मानसिक (सौन्दर्य)
३. आहार-तंत्र-प्रधान श्लेष्मीय, अस्थि-पेशीय-प्रधान पुष्ट अर्थात् पराक्रमी और सँकरे वक्ष, लम्बे शरीर तथा दुर्बल अस्थि-पेशियोंवाला क्षीणकाय।
४. अंगों की लम्बाई की अपेक्षा अति विकसित बड़े धड़ के अन्दर अति विकसित वर्धीतन्त्र अर्थात् आहार-तंत्र वाला, छोटे धड़, लम्बे अंग, क्षैतिज मापों की अपेक्षा बड़े ऊर्ध्वाधर मापों और पेशी-तंत्र, तंत्रिकातंत्र एवं कंकालतंत्र के समूह, प्राण-तंत्र के अति विकासवाला, और इनके बीच में धड़ तथा अंगों के यथोचित एवं सुसंगत विकासवाला।
५. घनत्वक्, पुष्ट, सूक्ष्म शरीर और विमूर्ति।
६. गोलाकृतिप्रधान, आयताकृतिप्रधान, लम्बाकृति प्रधान तथा संतुलिताकृति।
७. लम्बे, पतले और गोलाकार।

मानसिक गुणों पर आधारित प्रमुख वर्गीकरण यह है —

(१) कोमल स्वभाव और कठोर स्वभाव।
(२) उद्दीपन-अतिवृत्ति, अन्तर्लयन-अतिवृत्ति, और बीच में मध्यवर्ती प्रकार।
(३) प्रत्यक्षाभ प्रतिमाओं के आधार पर, बी० टाइप और टी० टाइप।
(४) अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी।

(५) सैद्धान्तिक, अर्थशास्त्रीय, सौन्दर्यप्रिय, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक।
(६) चक्रीवत् और अन्तराबन्धवत्।
(७) आंतरंग स्वभाव, देहरंग स्वभाव और मस्तिष्करंग स्वभाव।
(८) प्रतिरुद्ध, अन्तर्दमित एवं अन्तराबन्ध आदि मनोविकार की ओर झुके हुए, और प्रफुल्ल, हिले-मिले एवं चक्रीय मनोविकारों की ओर झुके हुए।

शारीरिक गुणों पर आधारित वर्गीकरण तथा मानसिक स्वभावों पर आधारित वर्गीकरण में विशिष्ट सम्बन्ध सिद्ध करने का प्रयत्न भी हुआ है। एक मत के अनुसार चक्रीवत् व्यक्ति घनत्वक् और अन्तराबन्धवत् व्यक्ति सूक्ष्म शरीर और कभी-कभी पुष्ट-शरीर होते हैं। ऐसे ही गोलाकृति-प्रधानता आंतरंग स्वभाव से, आयताकृति-प्रधानता देहरंग स्वभाव से और लम्बाकृति-प्रधानता मस्तिष्क रंग स्वभाव से सम्बन्धित प्रतीत हुई है। इसी प्रकार लम्बे पतले व्यक्ति के, प्रतिरुद्ध, अन्तर्दमित एवं अन्तराबन्ध जैसे मनोविकारों तथा गोलाकार व्यक्ति में, प्रफुल्ल हिले-मिले और चक्रीय मनोविकारों से ग्रसित होने की सम्भावना रहा करती है। स्वभाव को अप्रणाल ग्रन्थियों पर निर्भर भी समझा गया है। इस प्रकार के स्वभाव शरीर-सम्बन्धों के आधारभूत कारण के विषय में अनेक देहरसायनात्मक एवं देहभौतिकीय परिकल्पनाएँ हैं।

सामान्यतः व्यक्तित्व को आनुवंशिक संविधान पर आधारित माननेवाले मनोवैज्ञानिकों का यह विचार है कि यदि किसी जाति के व्यक्तियों में एक ही प्रकार के रचनात्मक अन्तर होते हैं तो उनके आनुवंशिक निर्धारण में विश्वास किया जा सकता है, और कुछ मुख्य रचनात्मक अंतर तो आनुवंशिक सिद्ध हो भी चुके हैं। जीवन के आरम्भ में ही व्यक्तियों के मस्तिष्कों की रचना में बहुत अन्तर होता है। उनमें तंत्रिकाकोणिकाओं की संख्या भिन्न-भिन्न हुआ करती है। उनका आकार तथा विन्यास भिन्न-भिन्न होता है। उनमें स्थूल अन्तर भी होते हैं। अपनी-अपनी तंत्रिकीय रचना के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्ति परिवेश के अनुभवों की ओर भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ करते हैं। सबमें न तो एक-सा भावात्मक बल होता है और न सर्वाधिक लालसाएँ ही होतीं हैं। प्रत्येक व्यक्ति किसी एक प्रकार का होता है, और किसी एक ही दिशा में झुकता है।

व्यक्तित्व प्रकारों की ऐसी संविधानाधारित धारणा के बहुत-से अंग अभी अस्पष्ट एवं अनिश्चित अथवा विवादास्पद हैं। एक ओर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्येक व्यक्तित्व-प्रकार की कुछ मात्रा अवश्य है। अधिकांश व्यक्ति ऐसे हैं कि उन्हें असंदिग्ध रूप से किसी एक प्रकार का ही नहीं कहा जा सकता। यों शुद्ध व्यक्तित्व-प्रकार काल्पनिक ही लगने लगते हैं। इनके अनुसार व्यक्तियों के वर्ग मानना कृत्रिम प्रतीत होता है। कृत्रिमता के आक्षेप से बचने के लिए इस धारणा के समर्थक

कभी-कभी प्रकारों को वर्तमान नहीं बल्कि आदिम वर्ग कहते हैं, और आज के बहुवर्गी व्यक्तियों का बाहुल्य पीढ़ियों तक आदिम वर्गों के बीच अन्तवर्गीय सम्बन्धों से उत्पन्न मानते हैं। फिर, जैसे शारीरिक गुणों और मानसिक स्वभावों के परस्पर सम्बन्ध का जैवी अथवा वैधानिक आधार समझा जाता है, वैसी ही यह भी तो हो सकता है कि भिन्न-भिन्न शरीर प्रकार के व्यक्तियों से सामाजिक वातावरण भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार कराता है, और इसी की प्रतिक्रिया में उनमें विभिन्न प्रकार के स्वभावों का विकास हो जाता है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व में विभिन्न परतों अर्थात् स्तरों के अस्तित्व की ओर ध्यान आकर्षित किया है। मनुष्य में वानस्पतिक, पाशव एवं मानवीय जीवन-स्तर प्राचीन काल से पाये गये हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में भौतिक अहं, सामाजिक अहं और आध्यात्मिक अहं का वर्णन हुआ है। मनोविश्लेषण ने व्यक्तित्व में काम, अहं तथा पराहम् तीन परस्पर संघर्षशील अंशों की व्याख्या की है और उसके विचारों, भावों एवं उत्प्रेरणों के चेतन, अर्धचेतन तथा अवचेतन तीन स्तर बताये हैं। मूल प्रवृत्ति, स्थायी भाव तथा चरित्र भी मानसिक जीवन के कुछ ऐसे ही स्तर हैं। मनःखंड-विश्लेषण भी मनःखंडों के ऐसे तारतम्य की ओर संकेत करता है, जिसमें उनकी सामान्यता की कई परतें हैं। विशिष्ट मनःखंड तथा सामूहिक मनःखंड तक तो सब प्रकार का खंड-विश्लेषण पहुँचता है। कुछ प्रकार के मनोविश्लेषण से भी सामान्य खंड निकलते हैं। अभ्यनुबन्धन में भी प्रथम संकेत स्तर और द्वितीय संकेत स्तर पाये गये हैं। व्यक्तित्व की व्यक्त तथा अव्यक्त परतों में और आकृतिगत तथा अंसगत परतों में भी भेद किया गया है।

इन सब परतों के कायिक आधार भी ढूँढ़ने का प्रयत्न किया गया है; वानस्पतिक अर्थात् वृद्धि प्रक्रियाओं और भावात्मक प्रक्रियाओं का आधार पुराना मस्तिष्क अर्थात् मेरुदण्ड, और बोधात्मक एवं संकल्पात्मक प्रक्रियाओं का आधार नवमस्तिष्क अर्थात् प्रान्तस्थ पाया गया है। निम्न परत उच्च परत का पोषण करती है और उच्च परत निम्न परत का नियंत्रण। प्रायः उच्च परत एक ही समझी गयी है परन्तु निम्न परतों की संख्या कम से कम पाँच तक स्वीकार की गयी है। एक मनोवैज्ञानिक ने नियंत्रक परत को वैयक्तिक तथा उसके अधीन एक अंतर्लक्षित परत बतायी है। एक अन्य मनोवैज्ञानिक ने जैव, वानस्पतिक, भावात्मक, उमंगात्मक तथा वैयक्तिक पाँच निम्न परतों को मानकर अहम् को उन सबका नियंत्रक एवं संचालक तथा उनके द्वारा वहन किया गया भी बताया है।

सामान्य मनोविज्ञान में अब उभरता हुआ एक क्षेत्र चरित्र के मनोवैज्ञानिक अध्ययन

का है। इस क्षेत्र में अव्यक्त अपराध-वृत्ति को पहचानने के उद्देश्य से प्रथम प्रयास नतिक विवेक-परीक्षणों के निर्माण के रूप में हुआ। तदुपरान्त यह ध्यान में आया कि नैतिक विवेक से ही नीतिनिष्ठता का अनुमान निश्चित अथवा विश्वस्त रूप से नहीं किया जा सकता। तब विश्वास-योग्यता, आक्रामकता, अत्युक्ति आदि नैतिक गुण-दोषों की परीक्षा के लिए व्यक्ति को नियंत्रित जीवन परिस्थितियों में डालकर देखनेवाले परीक्षणों का निर्माण हुआ।

चरित्र के स्वरूप के विषय में खण्ड-विश्लेषण-विधि से काम लेने का प्रयत्न हुआ। है। कुछ सहसम्बन्धों के खण्ड-विश्लेषण से एक चरित्र खण्ड निकला है, जिसे उत्प्रेरण-सातत्य समझा गया है। स्पष्ट है कि यह सम्पूर्ण चरित्र तो नहीं है। इसे चरित्र-बल अवश्य कहा जा सकता है। कदाचित् सामाजिक एकमानता अर्थात् आचार में अपने तथा दूसरों के लिए एक ही नियम मानना चरित्र का एक अन्य आवश्यक खण्ड होगा। एक परिभाषा में चरित्र को नियामक सिद्धान्तों के अनुसार मूल प्रवृत्तियों के अवरोधन की स्थायी मनोदैहिक वृत्ति कहा गया है। बच्चों के साथ उपर्युक्त जीवन-परिस्थिति की परीक्षण-विधि के उपयोग द्वारा यह निष्कर्ष निकला है कि चरित्र गुण-विशिष्ट होते हैं। अर्थात् चारित्रिक आदतें परिस्थितियों से सम्बद्ध होती हैं। जैसे, कोई धोखा-धड़ी करनेवाला व्यक्ति किसी एक प्रकार की परिस्थिति में ऐसा करता है, किसी अन्य प्रकार की परिस्थिति में नहीं। यदि यह ठीक है तो किसी व्यक्ति को सामान्यतः दयालु, निस्स्वार्थ अथवा साहसी नहीं कहा जा सकता। वास्तव में कोई भी परिस्थिति सम्पूर्णतया एक ही बार आया करती है, अतः मानव व्यवहार का पूर्वानुमान असम्भव हो जाता है। कदाचित् जीवन-परिस्थिति-परीक्षणों में यह कमी है कि वह परीक्षक के ध्यान को व्यक्ति की परिस्थिति पर केन्द्रित कर उसे व्यक्ति के उत्प्रेरणों से खींच लेते हैं। व्यक्ति से कोई भी आचरण परिस्थिति नहीं कराती, परिस्थिति में जाग्रत व्यक्ति के उत्प्रेरण कराते हैं। आचरण की नैतिकता अर्थात् चरित्रवत्ता कर्ताओं के उत्प्रेरणों द्वारा निर्धारित होती है, परिस्थितियाँ तो केवल अवसर मात्र प्रदान किया करती हैं।

चरित्र-मापन परिचितों में प्रसिद्धि के आधार पर किया गया है। विद्यार्थी का चरित्र जानने के लिए उसके अध्यापकों एवं सहपाठियों से अन्तर्वार्ताएँ की गयी हैं। इस विधि की जड़ में यह मान्यता है कि प्रसिद्धि के द्वारा चरित्र का पर्याप्त ज्ञान हो सकेगा। इस मान्यता की सत्यता संदिग्ध है। प्रायः प्रसिद्धि स्वयं-मुक्तियों पर अर्थात् आत्म-प्रकाशन पर निर्भर होती है। बहिर्मुखी वाचाल व्यक्ति अपने बारे में जैसी चाहे वैसी ही धारणाएँ प्रचलित कर देते हैं और अंतर्मुखी संकोची व्यक्तियों के बहुत से गुणों का ज्ञान लोगों को हो ही नहीं पाता। अतः प्रसिद्धि-आधारी चरित्र-मापन-विधि के अनुमोदन में सतर्कता

बरतनी पड़ेगी। परन्तु इस विधि के उपयोग से जो फल प्राप्त हुए हैं, उनमें कुछ ध्यानाकर्षक नवीनता है। एक मुख्य निष्कर्ष यह निकला है कि नैतिक चरित्र व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर निर्भर होता है। एक प्रकार के व्यक्तित्व में सच्चरित्रता का एक अर्थ होता है और अन्य प्रकार के व्यक्तित्व में कुछ दूसरा ही। चरित्र विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रकार का बनता है।

मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन चरित्र की अवचेतना पर, प्रारम्भिक जीवन के दमित अवशेषों, एडिपस एवं पुंस्त्वहरण ग्रंथियों पर तथा कामोत्प्रेरण के मौखिक, गुदीय और लिंगीय मैथुन-पूर्व-स्तरों से होते हुए पूर्ण मैथुन-स्तर तक विकास पर आधारित होता है। स्थायी चरित्र-गुण मौलिक प्रवृत्तियों के परिवर्तनशील स्थायी रूप, उनके परिशोधित रूप, अथवा उनसे स्वरक्षा के लिए उदित विपरीत गुण प्रतीत हुए हैं। परिशोधन मूलतः अवांछनीय प्रवृत्तियों को किसी समाजप्रशंसित क्रिया की ओर मोड़ देता है। स्वरक्षा में उदित विपरीत गुण की आड़ उसे ढँक लेती है। मनोविश्लेषण-साहित्य में क्रूरता का मौखिक चरित्र के रूप में, अनिवार्यता अनुभव, कंजूसी एवं व्यवस्थाप्रियता का गुदीय चरित्र के रूप में और आकांक्षा का लिंगीय चरित्र के रूप में बहुत वर्णन मिलता है।

मनोविश्लेषण के इतिहास में काम, अहम् एवं पराहम् की धारणाओं के सुदृढ़ हो जाने पर, संकल्प के आधार पराहम् की ओर रुचि बढ़ी है। उसके साथ ही स्वरक्षा-कवच अथवा विक्षिप्त उत्पादक भार, किसी न किसी रूप में चरित्र का प्रतिपादन भी बढ़ा है। कट्टर मनोविश्लेषकों को कड़े नैतिक नियम बरतनेवाला व्यक्ति गुदीय काम-वृत्ति का प्रतीत हुआ है। संज्ञाशील अन्तरात्मा, अन्तर्मुखी दोष-ग्रंथि एवं क्रूरता वृत्ति से सम्बद्ध प्रतीत हुई है। धीरे-धीरे दमित ग्रंथियों को अवरोध में रखनेवाली शक्तियों की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है और चरित्र मनोविश्लेषणात्मक अध्ययनों का केन्द्र-सा बन गया है।

चरित्र-गुणों को दो प्रकारों में वर्गीकृत किया गया है। एक वर्ग में आक्रामक गुण अभिमान, आकांक्षा, ईर्ष्या, लोभ और घृणा हैं और दूसरी ओर अनाक्रामक गुण एकान्त-प्रियता, चिन्ता, हृदयदौर्बल्य एवं व्यवहार-शिष्टता का वर्ग है। इस वर्गीकरण के प्रतिपादकों के चरित्रगुण आनुवंशिक नहीं, श्रेष्ठता-प्राप्ति के उद्देश्य से विकसित जीवन-शैली के परिणाम प्रतीत हुए हैं। बच्चे अपने बड़ों के उन गुणों को अपना लेते हैं जो उन्हें इस उद्देश्य की ओर ले जाते हैं। परन्तु लोकमत कदाचित् यह मानने को तैयार न होगा कि चरित्र-गुण श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए केवल उपाय मात्र ही हैं।

चरित्र का मनश्चिकित्सात्मक उपयोग भी किया गया है। मनोविश्लेषणात्मक मनश्चिकित्सा में मनोरोगी के लिए संकल्प-चिकित्सा अथवा आत्मसंयम का विधान

किया गया है। मनोविक्षिप्ति को नैतिक हार या कम से कम नैतिक कमी का लक्षण समझा गया है। इसलिए नैतिक विवेक के सप्रयास विकास की आवश्यकता पर बल दिया गया है। इस प्रकार नैतिक गुत्थियों को सुलझाना मानसिक रोग की चिकित्सा का आवश्यक अंग बन जाता है। इस दिशा में एक सुझाव यह भी दिया गया है कि चरित्र व्यक्तित्व के कड़े छिलके को उतारना और उससे उत्पन्न प्रतिबन्धों को तोड़ डालना और पूर्ण मैथुनी विकास को प्राप्त होना है, कवच उतार कर लचीले एवं स्वतन्त्र हो जाना है।

७

असामान्य मनोविज्ञान

मनोविज्ञान की एक शाखा का सम्बन्ध असाधारण अर्थात् असामान्य मन से है। इसे असामान्य मनोविज्ञान कहा जाता है। इसमें उन सभी मानसिक अवस्थाओं का अध्ययन किया जाता है जो मन की सामान्य अवस्थाओं से भिन्न, विलक्षण अथवा विचलित होती हैं। सामान्यता की पहचान निम्नलिखित हैं—समायोजन, बुद्धि-संगतता, पर्याप्ति काम विकास, एकसूत्रण आदि। जो भी हो, असामान्य अवस्थाएँ भी अनेक प्रकार की हैं। इसलिए असामान्य मनोविज्ञान का क्षेत्र बहुत विस्तृत एवं विविध-विषयी है। इसके अन्तर्गत जिन विषयों का अध्ययन किया गया है, उनमें से सर्वप्रमुख विषय मनोविकार से सम्बन्धित हैं। इसलिए असामान्य मनोविज्ञान का सर्वप्रमुख अंश मनोविकार-विज्ञान है। इसके अन्तर्गत आनेवाले अधिकांश विषय निम्नलिखित हैं—

(१) मनोविकारों के सम्बन्ध में प्रेक्षणीय तथ्य।

(२) मनोविकारों के स्वरूप तथा उनके निर्धारकों के सम्बन्ध में सिद्धान्त—विशेषतः उनके निर्धारण में अवचेतन तथा मनोविच्छेद का भाग।

(३) मनोविकार-निदान-विधियाँ।

(४) मनोविकार-ग्रस्त व्यक्तियों की रोकथाम तथा चिकित्सा की विधियाँ, विशेषतः मनोवैज्ञानिक चिकित्सा।

इनके अतिरिक्त असामान्य मनोविज्ञान में निम्न विषयों का अध्ययन भी होता है—

(१) मिथ्या शक्ति-विश्वास तथा उन पर आधारित व्यवहार।

(२) रहस्यात्मक शक्तियों द्वारा संचालित घटनाओं की निष्पक्ष एवं तथ्यात्मक वैज्ञानिक जाँच, जिसे परामनोविज्ञान भी कहा जाता है। इसमें मुख्यतः मानव-बोधशक्ति की साधारण विधियों तथा सीमाओं के परे पहुँचने में सशक्त मानी जानेवाली ऐसी अवस्थाओं अथवा घटनाओं का अध्ययन होता है, जैसे भूतों का आना और अंतःप्रसारण।

(३) सामान्य व्यक्तियों की कभी-कभी ही होनेवाली मानसिक अवस्थाएँ।

(४) अत्यन्त संकट तथा उत्तेजितावस्थाओं में मानव-व्यवहार भय, आतंक, मानसिक

महामारी आदि के समय उग्र वैयक्तिक अथवा सामाजिक उद्वेगवश व्यक्तियों अथवा समूहों में असाधारण मानसिक अवस्था तथा व्यवहार।

(५) बुद्धि की श्रेष्ठता अथवा अल्पता की अवस्थाएँ।

साधारण ढंग से यह कहा जा सकता है कि कोई भी मनोवैज्ञानिक विषय जो सामान्य व्यक्तियों के सामान्य अनुभव तथा सामान्य व्यवहार के अन्तर्गत न आ सके, वह असामान्य मनोविज्ञान का विषय हो जाता है। यहाँ तक कि जिन-जिन मनोवैज्ञानिक विषयों में विलक्षण रुचिकरता पायी गयी है अथवा जो विशेषतः रहस्यपूर्ण रहे हैं वे भी असामान्य मनोविज्ञान के विषय बन गये हैं। इस प्रकार के कुछ विषय ये हैं––

(१) स्वप्न।

(२) निद्रा।

(३) सम्मोहन, विचेतना अर्थात् लयावस्था, अचालित क्रिया आदि की अवस्थाएँ।

(४) पिनक-जनक औषधियों तथा मादक द्रव्यों के सेवन के मानसिक प्रभाव।

(५) विभिन्न प्रकार के विपर्यय तथा ऐन्द्रिय भ्रम।

(६) स्मृति-विकार।

(७) शारीरिक रोग के मानसिक प्रभाव।

(८) शारीरिक रोगों का मानसिक निर्धारण।

(९) वृद्धावस्था में योग्यताओं तथा मानसिक शक्तियों का क्षय।

(१०) विशिष्ट विकासाभाव अथवा शक्तिक्षय और इनसे उत्पन्न होनेवाले मनोविकार अथवा उन्माद।

(११) रंगीन श्रवण-जैसी सहसंवेदनाएँ।

इन सब विषयों के अध्ययन में विशेषतया यह दर्शाया जाता है कि संवेगों में मानव-विचार की रूपरेखा को निर्धारित करने की बड़ी प्रबल शक्ति है। मनोवेग और विचार-पूर्व निर्णय द्वारा किये गये निश्चयों को बदलने में बौद्धिक तर्क प्रायः अशक्य होता है और मनुष्य का मन बहुत सीमा तक ऐसी मानसिक घटनाओं द्वारा संचालित होता है, जिनका उसे स्वयं बोध ही नहीं होता।

मनोविकार-विज्ञान का विकास

असामान्य मनोविज्ञान के प्रमुख भाग मनोविकार-विज्ञान का जन्म मनश्चिकित्सा से हुआ है, और इसका विकास भी इसे मनश्चिकित्सा में ही ले जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य मनोविकारग्रस्त व्यक्तियों के विषय में तथ्य एकत्रित करना, उनके विषय में सिद्धान्त स्थिर करना, तथा उनकी चिकित्सा में सफलता प्राप्त करना है।

मनोविकार-विज्ञान के विकास का इतिहास प्रायः तीन युगों में विभाजित किया जाता है। प्रथम युग में मानसिक विकार को किसी देव अथवा दानव रूपी पारलौकिक आत्मा की अभिव्यक्ति माना जाता था। विकार-ग्रस्त व्यक्ति का व्यवहार देश-काल की धार्मिक कसौटियों के अनुसार होने पर उसे किसी देवता का कृपापात्र, पवित्र अथवा दिव्य विभूति समझा जाता था। उसका व्यवहार प्रचलित नैतिक सिद्धान्तों के विरुद्ध होने पर उसे किसी दुराशय पिचाश के वश में समझा जाता था। ऐसी अवस्थाओं में मनोन्मादियों के उपचार के लिए धार्मिक रीतियों अथवा मंत्रों, टोनों आदि का उपयोग किया जाता था। उनका रुधिर निकाल कर निर्बल कर देने का, उन्हें अंधाधुंध मादक औषधियाँ देने का, अथवा उन्हें एकाएक बर्फ के ठंढे पानी में डुबोकर प्रबल संक्षोभ देना आदि अन्य क्रूर उपचारों का भी प्रचलन था और इनके द्वारा सफलता न मिलने पर व्यक्ति को बेड़ी डालकर या काल कोठरी में बन्द करके रखा जाता था या समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता था। न्यूनाधिक मात्रा में अब भी ऐसा ही किया जाता है।

परन्तु धीरे-धीरे इस परिपाटी का मान घटा है। सन् ४६० के लगभग यूनान में पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान के जन्मदाता हिप्पोक्रेटीज ने इस मत का प्रतिपादन किया कि मन का अवयव मस्तिष्क है और मन का उन्माद मस्तिष्क के किसी उपद्रव का ही परिणाम होता है तथा भौतिक औषधियों से उसकी चिकित्सा हो सकती है। तब से कुछ विज्ञान की प्रगति के तथा कुछ कोमल सहृदय जनसेवावाद के विकास के प्रभाव से धीरे-धीरे उन्मादियों की बेड़ियाँ कटीं और उनको सहानुभूति योग्य रोगी समझा जाने लगा। इनके लिए आश्रय-भवन बने और उन्हें मनुष्यत्व के अनुकूल और वैसे सहायक व्यवहार के योग्य माना जान लगा जैसा देहरोगियों को प्राप्त है। उनके लिए सुविधाएँ एवं सुव्यवस्थाएँ उपलब्ध करना ही नहीं, यह भी आवश्यक समझा गया कि उनमें प्रगट विकारों को उसी यथार्थ अर्थात् वस्तुगत दृष्टि से देखा जाय जो देहरोग-विज्ञान तथा अन्य भौतिक विज्ञानों में सफलता एवं उन्नति का कारण बनी है। अतः उन्माद तथा अन्य सभी मानसिक विकारों को मस्तिष्क के विकार की ही अभिव्यक्तियाँ समझा गया। विशिष्ट मानसिक प्रक्रियाओं के विकार को भी विशिष्ट मस्तिष्कीय स्थल का विकार माना जाने लगा। देखा गया कि सिर तथा सभी अंगों की क्रियाओं के अवयव चेष्टाधिष्ठान के नाश से क्रिया-योग्यता का लोप हो जाता है। अब भी बहुत-से मनोविकारानुसन्धानक मन अथवा व्यवहार के विकारों का आधार दैहिक स्तर पर ही मानते तथा खोजते हैं और उनके पीछे मस्तिष्क में होनेवाले परिवर्तनों या विकारों की खोज करते हैं। इसी प्रकार मस्तिष्क में क्षति के कारण पठनान्धता होती देखी गयी है, जिसका लक्षण पढ़ने में अथवा शब्दों को दृष्टि द्वारा ग्रहण करने में अक्षमता है।

मनोविकार-विज्ञान के तीसरे अथवा वर्तमान युग की विशेषता—यह विश्वास है कि मनोविकार का आधार मानसिक स्तर पर ही होना चाहिए। इस विश्वास की स्थापना मानव-मन में असाधारण अद्‌भुत शक्तियों की ओर ध्यान आकर्षित होने से आरम्भ हुई। विशेषतया सुझावों द्वारा व्यक्तियों के विचार, भाव तथा व्यवहार सबको प्रभावित करने की शक्ति पायी गयी। इनके उपयोग से विकारों के उपचार में सफलता भी प्राप्त हुई। फलस्वरूप मनोविकार के देह-रचना-जन्य नहीं, देह-व्यापार-जन्य अर्थात् मनोजन्य होने की धारणा की स्थापना तथा पुष्टि हुई। इसी धारणा के आधार पर वातोन्माद, मनः-श्रान्ति आदि व्यापार-विक्षिप्तियों का ज्ञान बड़े वेग से बढ़ा है।

मनोविकार-लक्षण

इस बढ़ते हुए ज्ञान के साथ मनोविकारके लक्षणों के वर्गीरकण की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। यह कार्य बहुत बड़ा है और इससे मनोविकार-विज्ञान तथा मनश्चिकित्सा-शास्त्र का सुव्यवस्थित ढाँचा तैयार हो गया है, जिसमें प्रत्येक मानसिक रोग तथा प्रत्येक रोग-लक्षण को एक निश्चित स्थान प्राप्त हुआ है।

इस ढाँचे में मनोविकार-लक्षणों के चार प्रकार माने जाते हैं—अभावात्मक विकार, अल्पविकासात्मक विकार, अत्यात्मक विकार एवं विकृत्यात्मक विकार। प्रत्येक प्रकार की मानसिक प्रक्रिया के इन चारों प्रकार के विकार हो सकते हैं। और ये सभी लक्षण देहजनित भी हो सकते हैं तथा मनोजनित भी।

बोध-प्रक्रियाओं में सबसे अधिक प्रकार संवेदना-विकारों के हैं। दृष्टि-संवेदना के अभावात्मक विकार पूर्णांधता, अर्धांधता, बहुअंधबिन्दुता, वर्णान्धता, तथा दृष्टि-क्षेत्र-संकुचन हैं। अर्धान्धता में दोनों नेत्रों के उसी भाग अथवा अलग-अलग भागों में दृष्टि-हीनता होती है। वर्णान्धता सम्पूर्ण अर्थात् सभी रंगों के पहिचानने की अक्षमता, अथवा आंशिक अर्थात् केवल हरे और लाल रंगों के पहिचानने की अक्षमता होती है। अल्प-विकासात्मक विकार, निकट-दृष्टि, दूर- दृष्टि, अस्पष्ट-दृष्टि तथा द्विदृष्टि हैं। अत्यात्मक विकार अतिग्राहिता एवं प्रकाशभीति हैं। विकृत्यात्मक विकारों में बाह्य उत्तेजना के अभाव में भी दृष्टि में प्रकाश अथवा रंग दमक जाता है। श्रवण-संवेदना का अभावात्मक विकार बधिरता है, जो एक कान में भी हो सकती है और दोनों कानों में भी। श्रवणाल्पता भी एककरणीय और उभयकरणीय दोनों प्रकार की होती है। केवल ध्वनि-बधिरता भी होती है और आंशिक ध्वनि-बधिरता भी, जिसके दो प्रकार हैं—ध्वनिद्वीप और ध्वनि-गर्त। ध्वनिद्वीप में केवल कुछ ही ध्वनियों का श्रवण होता है शेष ध्वनियों का नहीं। ध्वनिगर्त में ध्वनिक्रम के कुछ अंश की ध्वनियों में अंतर नहीं पता चलता। शब्द अति-

ग्राहिता भी होती है और प्रायः उसके साथ खीझ का अनुभव होता है। कानों में फुसफुसाहट, गड़गड़ाहट अथवा विस्फोटात्मक शब्द सुनाई देना श्रवण का विकृत्यात्मक विकार है। स्पर्शाभाव, पीड़ालोप, तापाबोध, शीताबोध, स्पर्श के अभावात्मक विकार हैं। ऐसे ही स्पर्श-संवेदनाओं की अति अथवा अल्पता भी हुआ करती है। स्पर्श के विकृत्यात्मक विकारों में निरुत्तेजना स्पर्शानुभव, अंगों के सिरों पर सुन्नता, स्पर्श-स्थल-भ्रम, निस्थल स्पर्शानुभव, गिने जाते हैं। स्वाद-संवेदना के क्षेत्र में भी पूर्ण अथवा आंशिक विस्वाद अर्थात् स्वादाभाव, स्वादाल्पता, स्वादाति अथवा स्वादभ्रम हो सकता है। ऐसे ही पूर्ण अथवा आंशिक, तथा सामान्य अथवा विशिष्ट, घ्राणाभाव, घ्राणाति, घ्राणाल्पता, घ्राण-विभ्रम एवं विकृत घ्राणानुभव भी होते हैं और गतिबोधाभाव, गतिबोधाति, गतिबोधाल्पता तथा गतिबोध विभ्रम भी। भूख, प्यास, मतली तथा काम के विकारों का भी ऐसा ही वर्गीकरण होता है। उदाहरणार्थ भोजन के क्षेत्र में ये चार प्रकार के विकार होते हैं—क्षुधालोप, क्षुधाह्रास, अतिक्षुधा तथा विकृतक्षुधा अर्थात् अभोज्य पदार्थों के खाने की इच्छा। प्रत्यक्ष के क्षेत्र में भी उपर्युक्त चारों प्रकार के देहजनित अथवा मनोजनित विकार होते हैं। अल्पबुद्धिता के अथवा सरसाम, ज्वर, विषोन्माद के कारण भी सामान्य अप्रत्यक्ष की अवस्था हो जाती है। केवल लिखे हुए शब्दों को पढ़ने में असमर्थता अर्थात् पठनाक्षमता भी होती है। इसमें व्यक्ति उपस्थापित अक्षरों की रूपरेखा देख नहीं पाता। प्रतीकाप्रत्यक्ष में गणित में उपयोग में आनेवाले प्रतीक अथवा अन्य प्रकार के चिह्न नहीं पढ़े जाते। ऐन्द्रीय वाचानाश बोले गये शब्दों को सुन और समझ न पाने को कहते हैं। संगीताप्रत्यक्ष केवल संगीत में ऐसी ही अक्षमता है। अतिप्रत्यक्ष बुद्धि-दोष के कारण सामान्य भी हो सकता है, परन्तु प्रायः किसी एक इन्द्रिय के अनुभवों की अति एवं अन्य इन्द्रियों के अनुभवों की कमी के रूप में मिलता है। प्रत्यक्ष के विकृत्यात्मक विकारों में प्रमुख स्थान निर्मूल ऐन्द्रीय भ्रमों तथा प्रत्याशामूलक भ्रमों का है। प्रत्याशा-मूलक भ्रमों में किसी उपस्थित पदार्थ के पहचानने में भूल होती है—जैसे कोई रोगिणी उपस्थित चिकित्सक को पिता अथवा पति समझ ले। परन्तु यदि कक्ष में किसी व्यक्ति के न होते हुए भी पिता अथवा पति वहाँ दिखाई दे तो यह निर्मूल ऐन्द्रीय भ्रम होगा। देवी, देवताओं, अवतारों धर्मप्रवर्तकों, संतों आदि के दर्शन भी हुआ करते हैं। निर्मूल श्रवणभ्रम भी होते हैं। इनमें रोगी को भनभनाहट, कलकल शब्द, आदेशात्मक, आलोचक अथवा अनुमोदक वाक्य अथवा निरर्थक भाषा सुनने का ही अनुभव हुआ करता है। कभी-कभी अपने ही विचारों को व्यक्त करते हुए वाक्य सुनाई देते हैं। बहुधा अप्रिय गन्धों अथवा स्वादों के निर्मूल भ्रम भी होते हैं।

इसी प्रकार पूर्ण अवधानाक्षमता वास्तविक वातावरण के किसी भी पदार्थ की ओर

ध्यान न दे पाने को कहते हैं। आंशिक अवधानाक्षमता में रोगी किसी तार्किक विचार-श्रृंखला अथवा किसी अन्य विशेष प्रकार के विषयों की ओर ध्यान देने में असमर्थ रहता है। अत्यावधान प्रायः निर्मूल भ्रमों तथा पुनरावृत्यात्मक विचारों का आवश्यक अंग-सा है। परिवेश में अनुपयुक्त विषय की ओर ध्यान देना अवधान का विकृत्यात्मक विकार होगा।

विचार-साहचर्य के अभावात्मक विकारों में विचाराभाव, विचारावरोधन, विचारावगति प्रमुख हैं। विचाराभाव में अपबुद्धिता, शैशव, अन्तराबन्ध, विषाद आदि के कारण सहचारी विचारों की न्यूनता अथवा अटल विचारों की प्रसक्ति पायी जाती है। साहचर्य-प्रवाह का एकाएक रुक जाना विचारावरोधन है। रोगी का कुछ कहते-कहते किसी वाक्य के बीच में ही रुक जाना, और उसे पूरा न कर पाना, किसी विशेष विषय अथवा क्षेत्र में मूकता, अथवा अन्तराबन्धन में कुछ कहने का प्रयत्न करने पर शब्द न बोल पाना इसके उदाहरण हैं। विचारावगति में विचार-श्रृंखला चलती तो है, परन्तु असाधारणतया मन्द गति से प्रायः विषाद में ऐसा हुआ करता है। साहचर्य के मुख्य अत्यात्मक विकार, विचार द्रुतगति और शब्द-सलाद हैं। बोले हुए प्रत्येक वाक्य का शब्द-विन्यास ठीक होने पर भी उनका क्रम निरर्थक होना विचार-द्रुतगति की विशेषता है और प्रायः यही झक का चिह्न भी होता है। जब वाक्यों के अन्दर शब्दों का क्रम भी निरर्थक हो, उसे शब्द-सलाद कहा जाता है। ऐसा प्रायः अन्तराबन्ध में हुआ करता है। कभी-कभी शब्द-सलाद में मनगढ़न्त शब्द भी पाये जाते हैं, जिनका रोगी के अतिरिक्त किसी के लिए कोई अर्थ नहीं होता। साहचर्य के विकृत्यात्मक विकारों में प्रसक्ति और व्यर्थवाद प्रमुख हैं। एक ही शब्द अथवा वाक्यांश का बार-बार कहा जाना प्रसक्ति है। सम्बद्ध अर्थयुक्त विचार-श्रृंखला में उपयुक्त अवसरानुकूल विषयों के साथ-साथ बहुत-से अनावश्यक व्यर्थ विषयों को ले आने की प्रवृत्ति को व्यर्थवाद कहते हैं।

स्मृतिभ्रंश स्मृति का अभावात्मक विकार है। यह पूर्ण भी होता है और आंशिक भी, अस्थायी भी और स्थायी भी। अस्थायी आंशिक स्मृतिभ्रंश के उदाहरण दैनिक जीवन की साधारण विस्मृतियों में मिलते हैं। मनोविश्लेषकों ने इनके भी विकाराधारित होने पर बल दिया है। इसके अतिरिक्त विशिष्ट कालीय स्मृतिभ्रंश, विशिष्ट विषयक स्मृतिभ्रंश, व्यापक स्मृतिभ्रंश तथा अविरल स्मृतिभ्रंश पाये गये हैं। विशिष्ट-कालीय स्मृतिभ्रंश कभी किसी घटना-विशेष के पूर्व की, और कभी उसके बाद की बातों का होता है। इनको पूर्व स्मृतिभ्रंश तथा उत्तर-स्मृतिभ्रंश कह सकते हैं। विशिष्ट-विषयक स्मृतिभ्रंश में केवल किसी एक घटना, व्यक्ति, स्थान, अथवा तंत्र की स्मृतियाँ लुप्त हो जाती हैं। संभव है व्यक्ति बोल सके, पर लिखना भूल जाय, चलना भल जाय, पर रेंग और फुदक सके। व्यापक

स्मृतिभ्रंश में अब तक की सभी घटनाएँ अथवा योग्यताएँ भूल जाती हैं, परन्तु नवीन अनुभवों द्वारा उनका ज्ञान पुनः शीघ्र ही आ सकता है। अविरल स्मृतिभ्रंश में आगे होनेवाले अनुभव भी भूलते जाते हैं। प्रत्येक प्रकार के स्मृतिभ्रंश के साथ-साथ झूठी स्मृतियाँ भी पायी जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि स्मृतिभ्रंश में वास्तविक स्मृतियाँ नष्ट नहीं होतीं, केवल ऐच्छिक चेतना की पहुँच के परे हो जाती हैं। क्योंकि रोग के प्रकोप में, स्वप्न में, व्यग्रावस्था में, स्वचालित लेखन अथवा भाषण में, स्फटिकों या पानी गिलासों में, अथवा अन्य उपयुक्त परिस्थितियों में, इनका पुनरावाहन होता देखा गया है। मनोविश्लेषकों का विचार है कि स्मृतिभ्रंश में अप्रिय अथवा अनुचित प्रतीत होनेवाले विषय मानसिक दमन के कारण अवचेतना में उतर जाते हैं और इनके घनीकरण से इनका छद्मवेश ही स्मृति की त्रुटियों के रूप में मानसपट पर आता है।

अतिस्मृति-विकार स्वरूप तब होती है जब वह कुछ विशिष्ट अनुभवों अथवा विचारों की ही हो और उसके साथ अन्य अधिक महत्त्वपूर्ण अनुभवों अथवा विचारों का विस्मरण भी हो। तीव्र उद्वेगोत्तेजन की अवस्थाओं में भी अतिस्मृति देखने में आती है। विकृत स्मृति का उदाहरण है अपरिचित स्थानों में परिचितता का आभास होना, परिचित स्थानों में अपरिचितता का आभास होना, अथवा पढ़ी-सुनी घटनाओं को स्वयं कभी प्रत्यक्ष देखी हुई समझना।

विचार विकारों में पर्यावरण और मतिभ्रम मुख्य हैं। पर्यावरण में अनचाहे विचार बारम्बार आते हैं। मतिभ्रम में व्यक्ति के विश्वास न तो अन्य योग्य व्यक्तियों के विशासों से मेल खाते हैं, और न व्यक्ति के स्वयं अपने जीवन के इतिहास से। पर्यावरण साहचर्य पर आधारित होता है और मतिभ्रम उद्वेग पर। मतिभ्रम अव्यवस्थित भी होते हैं और सुव्यवस्थित भी। महानता-भ्रम, अत्याचार-भ्रम, शारीरिक रोग-भ्रम, अपराध दोष-भ्रम, तथा संकेत भ्रम प्रमुख मतिभ्रम हैं।

गति-प्रक्रियाओं का पूर्ण अभाव पक्षाघात अर्थात् संस्तम्भ है। कुछ कम होने पर उसे अल्प संस्तम्भ कह सकते हैं। संस्तम्भ तंत्रिकातंत्र में किसी प्रकार की हानि से हो सकता है, परन्तु रूपान्तरात्मक हिस्टीरिया में यह केवल प्रकार्यात्मक होता है। पेशियों के सामान्य आंशिक संकुचन का ह्रास, लोप अथवा आधिक्य भी हो सकता है। पेशीय गति के विकृत्यात्मक विकार अनेक हैं। प्रकम्प पेशी-तंतु का प्रवेग संकुचन शिथिलन है और मंद असम प्रकम्प प्रकार्यात्मक अर्थात् मानसाधारित होता है। सांकल्प क्रियाओं में प्रकम्प भी बहुधा मानसाधारित होता है। पेशियों का अनैच्छिक संकुचन आकर्ष कहलाता है। निरन्तर समयांतर से होनेवाले आकर्षों को आक्षेपक कहा जाता है। हाथ अथवा पैर की उँगलियों में आगे बढ़कर पकड़ने की क्रिया निरन्तर होते रहना भी एक गति-विकार

है। मुख, गर्दन, अथवा कंधों की पेशियों में स्पंदनात्मक स्फुरण भी विकार-लक्षण है और बाध्यता-विक्षिप्ति में बहुधा देखने में आती है। इन सब पेशीय गति विकारों का कारण दैहिक भी हो सकता है और मानसिक भी। पहचान यह है कि जब किसी पेशीय गति-विकार में सुझावन प्रभावशील प्रतीत हों, विकार लगभग पूर्ण हो और जब उसके साथ अन्य विकार-लक्षण भी हों तो उसे मनोविकार अर्थात् प्रकार्यात्मक विकार ही समझना चाहिए।

ऐसे ही प्रतिवर्त विकार भी होते हैं और बानों अर्थात् आदतों के विकार भी। मुख्य बान-विकार, बान-नाश अर्थात् पेशी-संस्तम्भ अथवा प्रतिवर्त-हानि के बिना भी किसी बान का-क्रियाशील न हो पाना है। भाषा से सम्बन्धित गति-विकार भी होते हैं। शब्दों के उच्चारण की अशक्ति, शब्दों को लिखने की अशक्ति, विचारों को भावभंगियों द्वारा व्यक्त करने में अशक्यता, मुंह से शब्द न निकलना, विचार के अननुकूल भावभंगिमा का प्रगट होना, लिखने अथवा बोलने में प्रकम्प, अक्षरों अथवा शब्दांशों का छूट जाना, स्थान-परिवर्तन, अथवा दुहराया जाना, अर्थहीन शब्दों का बोला या लिखा जाना, शब्दों अथवा अक्षरों का उलटा लिखा जाना, अवचेतना-बाध्य लेखन, हकलाना, तुतलाना, सुने गये शब्द को अनावश्यक दुहराना, निरंतर बोलते जाना, आदत के विपरीत अति अश्लीलता, मन-गढ़न्त शब्दों का लिखना या बोलना, भाषा से सम्बन्धित मुख्य गति-विकार हैं। पेशीय गति अथवा आसन के असमन्वयात्मक विकार भी होते हैं। आँखों पर पट्टी बाँध कर एक विशिष्ट उँगली से दूसरी विशिष्ट उँगली को या नाक को पकड़ न पाना, धीरे-धीरे डग-मगाते हुए चलना, एक पैर धम्म से डालकर दूसरा पैर उसके पीछे धीरे-धीरे घसीट कर चलना, घुटने को ऊंचा उठाकर पैर लटकाये और पृथ्वी पर घसीटते हुए चलना, बिना सहारे खड़े न हो सकना या चल न सकना इनमें मुख्य हैं।

संकल्पित क्रिया से विकारों में संकल्पाभाव अथवा संकल्प-क्षीणता भी है और अति संकल्प भी। संकल्पित क्रिया की ओर उदासीनता होने पर या तो व्यक्ति के अंगों को जैसे कर दिया जाय वे वैसे ही रहते हैं, या व्यक्ति स्वयं उन्हें किसी स्थिति में कर लेता है, जिससे उन्हें असाधारण बल प्रयोग के बिना हटाया नहीं जा सकता। संकल्पित क्रिया का एक प्रमुख विकार अंतर्बाध्यता है। इसमें व्यक्ति अंदर से ही ऐसी क्रियाएँ करने के लिए बाध्यता का अनुभव करता है, जो सामाजिक वास्तविकता को देखते हुए अनुपयुक्त होती हैं अथवा किसी अर्थहीन क्रिया की पुनरावृत्ति रूप होती हैं। कुछ व्यक्ति जीवन की सभी साधारण क्रियाओं के पहले अथवा उनके साथ-साथ कुछ ऐसी ही संस्कारी क्रियाएँ किया करते हैं। किसी द्वार में से निकलने के पूर्व सिर झुकाना, चलते हुए मार्ग के खम्भों को गिनते जाना आदि ऐसी ही क्रियाएँ हैं। कुछ चुराने की, आग लगा देने की, मद्यपान

की अथवा बारम्बार हाथ धोने की अनायास अदम्य इच्छाएँ इन अंतर्बाध्यताओं में विशेषतया महत्त्वपूर्ण हैं। इनके पीछे प्रायः हठात् आते रहने वाले अप्रिय विकृत विचार अर्थात् पर्यावरण हुआ करते हैं।

जटिलतम गति-विकार अपराधशीलता, कामवक्रता, मद्यपता, पिनक-व्यसन आदि सम्पूर्ण व्यवहार के विकार हैं।

सुख-दुःख भावों के विकारों में निर्भावता प्रमुख है। इसमें सफलता पर सुख अथवा असफलता पर दुःख का अनुभव नहीं होता। प्रिय लक्ष्यों की ओर पहुँचने की अथवा अप्रिय विषयों से बचने की चेष्टा अथवा प्रेरणा नहीं होती, या बहुत ही कम होती है। मिश्रित उत्तेजना विषाद-क्षिप्ति अर्थात् उत्तेजित विषाद आदि में व्यक्ति अति भावशीलता-ग्रस्त हो जाता है। पीड़ानुरक्ति में कभी-कभी कुण्ठा के प्रति सुखात्मक प्रतिक्रिया पायी जाती है। सफलता पर दुःख होना भी ऐसी ही भावविकृति है।

असामान्य उल्लास तथा असामान्य विषाद भाववृत्ति के विकार हैं। निराधार, वास्तविकताओं के विपरीत अथवा अत्यन्त उल्लास असामान्य होता है। ऐसे ही निराधार विषाद भी संभव है। उग्र विषाद में सब कुछ असंभव प्रतीत होता है और जीवन में कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं प्रतीत होता। इसकी अति होने पर आत्महत्या-वृत्ति की प्रधानता हो जाती है।

विशिष्ट उद्वेगों में से सर्वाधिक महत्त्व भय के विकारों का माना गया है। इनमें भी चिन्ता-विक्षिप्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। हृदय की धड़कन का द्रुत हो जाना, श्वसन का बढ़ जाना, प्रकम्प, पसीना छूटना, कोई काम न कर सकना इसके वाह्य लक्षण हैं। इस चिन्ता का कोई विशिष्ट ज्ञात विषय भी नहीं होता। इसकी अति आतंक का रूप ले लेती है और सम्पूर्ण भौतिक और सामाजिक वातावरण से हानि की संभावना प्रतीत होने लगती है। अबद्ध डोलक भय उसे कहा गया है जो किसी विशिष्ट स्थिर विषय के अभाव में अवसरानुसार कभी किसी उपस्थित विषय के साथ सम्बद्ध हो जाता है और कभी किसी अन्य विषय के साथ। किसी विशिष्ट वस्तु, व्यक्ति अथवा परिस्थिति के निरन्तर निराधार भय को भीति कहा जा सकता है। मनोविकार-चिकित्सक उच्च स्थान-भीति, खुले स्थानों के डर, पीड़ा भीति, नर भीति, बन्द स्थानों के भय, लजाने के भय, नारी-भीति, रुधिर भीति, तमो-भीति, रोग-भीति, पाप-भीति, मृत्यु-भीति, जन्तु-भीति एवं त्रासभीति से विशेषतया परिचित हैं। क्रोध का असामान्य रूप उन व्यक्तियों में मिलता है जो छोटी-सी बात पर अति क्रुद्ध हो जाते हैं। कुछ मात्रा में मनोविक्षिप्तियों में और विशेषतया मनःक्षिप्तियों में क्रोधविकृतियाँ बहुत देखने में आती हैं। अंतराबन्ध रोगी बिना वास्तविक कारण के अन्य व्यक्तियों पर और अपने

चिकित्सक अथवा सेवक पर भी प्रहार कर बैठते हैं। प्रेम और घृणा के विकार अनेक हैं। मात्रा की दृष्टि से इनका कामोदासीनता तथा अति कामुकता, काम-विषय के सम्बन्ध में स्वरति, सलिंग-रति, जन्तु-रति, बाल-रति, तथा शव-रति, काम-लक्ष्य के सम्बन्ध में अन्यांगरति, स्थानापन्न रति, प्रदर्शन-वृत्ति, पीड़ानुरक्ति, पीडनानुरक्ति तथा आयु की दृष्टि से बाल्य-रति तथा जरा-रति में वर्गीकरण किया गया है।

मनोरोग-प्रकार

परन्तु मनोविकार-लक्षण स्वयं पूर्ण तथ्य नहीं होते। यह प्रायः विशिष्ट समूहों में पाये जाते हैं और इन समूहों में से प्रत्येक के पीछे किसी विशेष प्रकार की विकारयुक्त व्यक्तित्व-रचना एवं मनोगति हुआ करती है। इन विशिष्ट लक्षणसमूहों में अभिव्यक्त, विशिष्ट, विकारयुक्त व्यक्तित्व रचनाओं तथा मनोगतियों को ही मानसिक रोग कहा जाता है। मानसिक रोग अथवा मनोविकार-लक्षण-समूह मनःक्षिप्ति, मनोविक्षिप्ति, काम-विकृति, चरित्र-विकृति आदि विभिन्न प्रकार के होते हैं।

मनःक्षिप्ति

मनःक्षिप्ति पागलपन या उन्माद की अवस्था है। यह उग्रतम मानसिक रोग प्रकार है और इतना स्पष्ट होता है कि पहचान में आये बिना नहीं रहता। इसमें व्यक्ति की अवस्था इतनी असामान्य होती है कि उसे अलग करके किसी संस्था में रखने की आवश्यकता प्रतीत होती है। प्रायः उसे स्वयं अपनी विकारयुक्तता का बोध नहीं होता। उसके विश्वास संभ्रमपूर्ण होते हैं। उद्वेग अति विकृत होते हैं। मनोविश्लेषणवादियों के मतानुसार उनमें अहम्, पराहम्, काम तथा बाह्य वास्तविकता के बीच अत्यन्त असंतुलन होता है। अहम् काम के समक्ष निर्बल पड़ जाता है और वास्तविकता से असंगत व्यवहार एवं विचार करने लगता है। पराहम् बाह्य वातावरण में प्रक्षेपित, लुप्त अथवा अति कठोर हो जाता है। सामाजिक व्यवहार अस्वीकार्य हो जाता है। व्यक्ति कम-से-कम अपने विकास के गुदीय स्तर पर लौट जाता है। प्रेरणाओं के कोई विशिष्ट विषय नहीं रहते अथवा उनमें विरोधी भाव एक साथ व्यक्त होते हैं। बोध एवं गति दोनों के क्षेत्र में उग्र लक्षण प्रकट होते हैं।

मनःक्षिप्ति दैहिक विकारजनित भी हो सकती है और मनोविकारजनित भी। दैहिक विकारजनित मनःक्षिप्तियों में सामान्य उन्मादसंस्तम्भ, आघातक्षिप्ति, अर्बुदजनित क्षिप्ति, रुधिर परिवहन विकारजनित क्षिप्ति, उपापचय विकारजनित क्षिप्ति, वंशानुक्रमणोत्पन्न क्षिप्ति, संक्रमणोत्पन्न क्षिप्ति तथा मदोत्पन्न क्षिप्ति प्रमुख हैं। प्रकार्यजनित

अर्थात् मनोजनित क्षिप्तियों में अंतराबन्ध, उत्तेजना विषाद-चक्र क्षिप्ति, संविभ्रम स्थितिज क्षिप्ति, क्षयात्मक संविषाद तथा क्षयात्मक संविभ्रम प्रमुख हैं ।

अंतराबन्ध व्यक्तित्व का वास्तविकताओं से विच्छेद है । इसमें उद्वेग वास्तविक परिस्थितियों के लिए अनुपयुक्त होता है । सामान्य अवस्थाओं में उद्वेगिक प्रतिक्रिया छिछली होती है । उग्र अवस्थाओं में उद्वेगिक प्रतिक्रियाओं का अभाव हो जाता है और अहम् अति अवगति की स्थिति में पहुँच जाता है। बोध-प्रक्रियाओं के साथ इनसे सामान्यतः सम्बन्धित भाव प्रक्रियाओं का विच्छेद हो जाता है। व्यक्ति वास्तविकताओं से खिंच जाता है। रोग की प्रारंभिक अवस्था में वह उत्तरदायित्व भावना-हीन प्रतीत होने लगता है। उसके बोध अयथार्थ होने लगते हैं और वह अपने सामाजिक कर्त्तव्यों और सामाजिक सुखों, दोनों की ओर से उदासीन रहने लगता है। उसकी कार्यकुशलता घटने लगती है। मुखाकृति, बोलने, बैठने, खड़े होने, चलने, सभी में असामान्यता आने लगती है । वह वास्तविक परिस्थितियों से हटने लगता है । उसे जीवन व्यर्थ लगने लगता है । वह बहुत अशान्त रहने लगता है और अपनी अवस्था पर चिन्तित रहने लगता है। उसे लगता है कि वह पागल होता जा रहा है । धीरे-धीरे उसका विचार-प्रवाह असंगत और अति असामान्य हो जाता है। वह अचानक अनुपयुक्त निरुद्देश्य क्रियाएँ करने लगता है। उग्रावस्था में अंतराबन्ध के चार विभिन्न रूप हो जाते हैं; सरल अंतराबन्ध, यौवनान्तराबन्ध, तन्द्रात्मक अंतराबन्ध तथा संविभ्रमात्मक अंतराबन्ध ।

सरल अंतराबन्ध में उद्वेगापकर्ष, रुच्याभाव तथा उदासीनता की प्रधानता होती है और साधारण असम्बद्ध मतिभ्रम होते हैं, परन्तु ऐन्द्रिय भ्रम लगभग नहीं ही होते । यौवनान्तराबन्ध में अवगति अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में तथा अधिक वेग से होती है। ऐन्द्रिय भ्रम बहुत होते हैं। मतिभ्रम अति असंगत, मूर्खतापूर्ण तथा अस्वाभाविक होते हैं। विचारों की कमी होती है। नये-नये शब्द बहुत गढ़े जाते हैं। व्यक्ति मुर्ख बनकर अर्थहीन झूठ-मूठ की हँसी हँसता है । अवगति इतनी अधिक मात्रा में हो सकती है कि व्यक्ति शिशुओं की तरह बोलने चालने लगे, स्वयं कपड़े न पहिन सके और कदाचित् अपने मल-मूत्र त्याग पर नियंत्रण भी न रख सके । तंद्रात्मक अंतराबन्ध में अत्यन्त उत्तेजना अथवा गहन तंद्रा प्रकट होती है, अथवा एक के बाद एक, दोनों अवस्थाएँ आती रहती हैं। उत्तेजना में अतिक्रियता, क्रियाबाध्यता तथा भाषा में शब्दों का गड़बड़घोटाला कर देने की वृत्ति पायी जाती है । तंद्रा में मौन तथा निष्क्रियता की प्रधानता होती है । व्यक्ति वास्तविक वातावरण से पूर्णतया हटकर अपने में सिमट जाता है । ऐसे ही अंतराबन्ध का संविभ्रमात्मक रूप होता है ।

मनोविश्लेषणवादियों का मत है कि अंतराबन्ध की उत्पत्ति प्रायः दीर्घकालीन

विषमायोजन के कारण, काम-वृत्तियों के प्रौढ़ समायोजन के परिणामों और उत्तरदायित्वों को स्वीकार न कर सकने से होने वाली पूर्वशैशवोन्मुखी अवगति से होती है। तंद्रात्मक अंतराबन्ध में कई व्यक्ति गर्भकालीन अवस्था की भाँति सिकुड़े पाये जाते हैं। काम की अवगति मौखिक चूषण काल की ओर होती है और अहम् की अवगति पूर्व स्वरति की ओर। कुछ विद्वानों का मत है कि यह अवगति अवचेचन सलिंगरतिवृत्ति के परिणामों से बचने के लिए होती है।

अंतराबन्ध का कोई निश्चित विशिष्ट उपचार अभी ज्ञात नहीं है। कुछ अंतराबन्ध रोगियों में स्वतः सुधार होता पाया गया है। शरीर में ऐंठन उत्पन्न करने वाली चिकित्सा-पद्धतियों से भी सुधार में कुछ सहायता मिलने के वृत्तान्त प्राप्त होते हैं। परन्तु अभी यही समझा जाता है कि वास्तव में अंतराबन्ध की चिकित्सा नहीं, रोक-थाम ही की जा सकती है, और वह शैशव में मानसिक आघात के परिणामों को रोकने और अंतराबन्धवत् स्वभाव वाले व्यक्तियों को किशोरावस्था के कठिन समायोजन काल में से सुरक्षित निकाल लाने से हो सकती है।

उत्तेजन विषाद चक्र क्षिप्ति में बारी-बारी से अनुपयुक्त अति उत्तेजन तथा अनुपयुक्त अति विषाद का चक्र चला करता है। इस क्षिप्ति का एक मिश्रित रूप भी होता है, जिसमें उत्तेजन तथा विषाद एक साथ रहते हैं। प्रत्येक रूप में इस मानसिक रोग की प्रथम अभिव्यक्ति प्रायः किसी प्रिय व्यक्ति, या पदार्थ, अथवा पद के खोने पर अथवा उन्नति, पद अथवा किसी अन्य लक्ष्य की प्राप्ति में किसी बड़ी असफलता के होने पर हुआ करती है। व्यक्ति उपस्थित परिस्थिति की ओर अतिरंजित अथवा अनुपयुक्त उद्वेग व्यक्त करन लगता है। उसके विषाद में दोष-भावना एवं अयोग्यता-भावना का प्रबल मिश्रण भी हो जाता है। उसके उत्तेजन में व्यक्ति समाज के प्रति एवं अपने प्रति अपने उत्तरदायित्वों को ही भूल जाता है। रोग की उग्रावस्था में उत्तेजन-काल के मुख्य लक्षण उल्लास, व्यग्रता, विचार-स्थिरता, अति क्रियाबाध्यता, दोषभावना अथवा आत्मग्लानिहीन समाज-विरोधी क्रियाशीलता तथा सामर्थ्यभ्रम हैं। ऐसी उग्रावस्था के विषाद-काल में गहरा अवसाद, वास्तविक वातावरण के प्रति अनवधान, दुःख-भाव, निष्क्रियता, अत्यन्त थकान का बोध तथा दोष-भावना मुख्य लक्षण हैं।

इस चक्रीय क्षिप्ति की उत्पत्ति में वंशानुक्रमण का महत्त्व प्रतीत होता है। चक्रीय क्षिप्ति रोगियों के बच्चों में अन्य क्षिप्ति रोगियों के बच्चों की अपेक्षा चक्रीय क्षिप्ति की बीस गुनी संभावना मानी जाती है। नाटी-मोटी गोल-मटोल देह-रचना इसके लिए विशेष अनुकूल प्रतीत हुई है। फिर भी मुख्यतः यह मनोजनित व्याधि है। मनोविश्लेषणवादियों के मतानुसार, विषाद काल की उत्पत्ति, खोये हुए प्रिय विषय के प्रति पूर्वविरोध के अतः-

क्षेपण से होती है। इससे पहले यह विरोध काम-वृत्तियों के कारण निष्फल हो जाता था। परन्तु विषय के खो जाने पर व्यक्ति अपने विरोध को अपने ऊपर ही उलट लेता है। वह अपनी घृणा के लिए अपने से ही घृणा करने लगता है अर्थात् अपने को दोष देने लगता है। साथ ही उसे अपने दुःख से दूसरों को होने वाले दुःख को देखकर स्वप्रेमात्मक संतुष्टि भी होती है। अंतःक्षेपण के पीछे प्रिय विषय को अपने अंदर ले लेने की अवचेतन इच्छा मानी जाती है। इस मौखिक पीड़नानुरक्ति के प्रतिकारस्वरूप भूख न लगना, खा न सकने का भ्रम, विष दिये गये होने का भ्रम, आदि लक्षण प्रकट होते हैं। इस प्रकार व्यक्ति के काम की उत्तरमौखिक स्तर तक अवगति हो जाती है। उत्तेजन-काल की उत्पत्ति विषाद-काल के दण्ड-भोग के उपरान्त काम-वृत्तियों की मुक्ति से होती है। पराहम् लुप्त-सा हो जाता है। शैशव अवगत स्तर पर ही व्यक्ति अपशब्द, प्रेम प्रदर्शन, पानानुरक्ति आदि द्वारा उत्तर मौखिक संतुष्टि का भोग करता है। परन्तु पराहम् पूर्णतया नष्ट नहीं हो जाता। इसलिए व्यक्ति को आनेवाले अवसाद काल का आभास भी रहता है, जिसमें उसे उत्तेजन-काल के कामवश किये गय पापों का फल भुगतना पड़ेगा।

चक्रीय क्षिप्ति का भी विशिष्ट उपचार अभी ज्ञात नहीं। औषधियों तथा औषधि-जनित आघातों से रोगी की अवस्था में कुछ सुधार होता है। कदाचित् यह भी रोगी को दंडरूप प्रतीत होती हैं और संतुष्टि प्रदान करती हैं। इनसे कुछ समय के लिए उत्तेजन शांत हो जाता है और अवसाद दूर हो जाता है। परन्तु रोग से सर्वथा मुक्ति नहीं मिल पाती। मनश्चिकित्सा अन्तराबन्ध की अपेक्षा चक्रीय क्षिप्ति में अधिक सफल हो सकती है। अवगति बहुत गहरी नहीं होती। रोगी को अपनी अवस्था का कुछ बोध होता है। वह सर्वथा आत्म-केन्द्रित नहीं होता। उसके साथ मानसिक एवं भावात्मक सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। मनश्चिकित्सा के लिए विषाद-काल तथा उत्तेजन-काल के बीच के कालान्तर का उपयोग विशेषतः किया जा सकता है।

संविभ्रम का प्राकट्य बहुधा अन्तराबन्ध अथवा चरित्र-विकार के साथ मिश्रित रूप में होता है। इसका एकमात्र लक्षण तंत्रबद्ध अत्याचार-भ्रमों और उनके साथ प्रायः महानता-भ्रमों का होना है। शासनाधिकारियों, व्यवसायाधिकारियों, सहयोगियों, मित्रों, परिवार के सदस्यों आदि की ओर से अत्याचार के भ्रम होते हैं। व्यक्ति अपने को विशेष प्रतिभाशाली, महान् अन्वेषक, महान् धर्मप्रवर्तक, महान् कवि, महान् लेखक, महान् प्रेमी, महान् नेता, शासक अथवा राजकुल में जन्म प्राप्त समझा करता है। इन मतिभ्रमों के साथ ऐन्द्रिय भ्रम प्रायः नहीं ही होते। मनोविश्लेषणवादियों का मत है कि संविभ्रम की उत्पत्ति मनोविकास के पूर्वगुदीय स्तर की ओर पूर्वगमन से होती है। मनःक्षिप्ति में वास्तविकताओं से पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद न हो पाने से मतिभ्रमों का विकास हो जाता है।

शैशवीय गुदीय उत्पादन-वृत्तियाँ सर्जन प्रतिभा-भ्रमों का रूप ले लेती हैं। पराहम् द्वारा अस्वीकार्य सलिंगरति-प्रेरणाओं की प्रतिक्रिया के रूप में महानताभ्रम उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु मनोविश्लेषणवादियों ने यह भी स्वीकार किया है कि प्रतिष्ठा उत्प्रेरण तथा सामाजिक जीवन में प्रतियोगितात्मकता से भी संविभ्रम की उत्पत्ति हो सकती है। संविभ्रमी व्यक्ति कष्ट सहता है, परन्तु उसका दोष दूसरों के सिर मढ़ता है। इसलिए संविभ्रम को यौक्तिककरण में असमर्थ क्षिप्ति और समज्ञ तथा चितायुक्त विक्षिप्ति के बीच की अवस्था भी कहा जाता है।

स्थितिज-क्षिप्ति व्यक्तित्व के लिए असह्य परिवेशात्मक स्थिति के प्रति क्षिप्त्यात्मक प्रतिक्रिया को कहते हैं। इसका मुख्य प्रकार प्रतिक्रियात्मक विषाद है, जो किसी तीव्र औद्वेगिक आघात के कारण हो जाया करता है। परिवेश की स्थिति में परिवर्तन से रोगी की अवस्था सुधर जाती है। क्षयात्मक संविषाद, कामसक्रियता घटने के उपरान्त अथवा पूर्व दीर्घकालिक उत्तेजित विषाद को कहा जाता है। स्त्रियों में यह मासिक धर्म के अंत से सम्बन्धित होता है। ऐसे ही क्षयात्मक संविभ्रम भी होता है, परन्तु यह पुरुषों में अधिक होता है। इन क्षयात्मक क्षिप्तियों में यदि व्यक्ति आत्मघात न कर ले, अथवा उसमें कोई देह-रोग उत्पन्न न हो जाय, तो समय बीत जाने पर व्यक्ति की अवस्था सुधर जाती है।

मनःक्षिप्ति और मनस्सामान्यता में अंतर के विषय में परस्पर मतभेद है। मनःक्षिप्ति और मनस्सामान्यता में कुछ विद्वानों ने प्रकार-भेद माना है, और कुछ ने मात्रा-भेद। प्रसिद्ध जर्मन मनश्चिकित्साशास्त्री क्रेत्शमर ने मात्रा-भेद को स्वीकार करते हुए, क्षिप्तियों और मनस्सामान्यता को एक आयाम पर, इस प्रकार स्थित पाया है कि सामान्यता उस आयाम के बीच में, चक्रीय क्षिप्ति दायें छोर पर, और अंतराबन्ध बायें छोर पर है। इसके विपरीत अंग्रेज मनोवैज्ञानिक आइज़ेक ने मात्रा-भेद के अनुसार क्षिप्तियों और सामान्यता को एक आयाम पर स्थित मानते हुए भी सामान्यता को इस आयाम के बायें छोर पर, अंतराबन्ध को बीच में और चक्रीय क्षिप्ति को दायें छोर पर पाया है। इस प्रकार एक मत के अनुसार यह चक्रीय क्षिप्ति और अंतराबन्ध-क्षिप्ति के विरोधी दिशाओं में विकसित रूप हैं। दूसरे मत के अनुसार सामान्यता से क्षिप्ति की ओर बढ़ने पर पहले अंतराबन्ध प्रकट होता है और उससे भी आगे चक्रीय क्षिप्ति का उदय होता है।

मनोविक्षिप्ति :

मनोविक्षिप्ति-बोध, उद्वेग अथवा क्रिया के वह विकार हैं, जो किसी चिंता पर आधारित होते हैं, और व्यक्ति के जीवन अथवा व्यवहार में आंशिक असामर्थ्य उत्पन्न करते हैं। विक्षिप्त व्यक्ति का चेतन अथवा अवचेतन आंतरिक संघर्ष के कारण अपनी योग्यता और

अपनी संस्कृति के अनुरूप प्रत्याशित कौशल अथवा सफलता से वंचित रहता है। मनोविक्षिप्ति के कारण मुख्यतः सामाजिक होते हैं। सामाजिक मानों से विचलन के कारण मनोविक्षिप्त व्यक्ति अपने को अकेला और हीन समझा करता है।

मनःक्षिप्ति से मनोविक्षिप्ति का अंतर कुछ मतभेद का विषय है। कुछ विद्वान् इन दोनों में केवल मात्रा-भेद मानते हैं और क्षिप्ति को विक्षिप्ति का उग्रतर रूप ही समझते हैं। इनके मत के अनुसार सामान्यता-विक्षिप्ति तथा क्षिप्ति सब एक आयाम पर इसी क्रम में स्थित हैं। आइज़ेंक ने इसमें संदेह व्यक्त किया है। उसका कथन है कि बहुतसे मनोवैज्ञानिक परीक्षण सामान्य और विक्षिप्त व्यक्तियों में महत्त्व पूर्ण अंतर दर्शा पाये हैं, परन्तु सामान्य और क्षिप्त व्यक्तियों में अंतर दर्शाने में असमर्थ हैं। ऐसे ही कुछ मनोवैज्ञानिक परीक्षण सामान्य और क्षिप्त व्यक्तियों में महत्त्वपूर्ण अंतर दिखाते हैं, परन्तु सामान्य और विक्षिप्त व्यक्तियों में नहीं। इससे उसने यह निष्कर्ष निकाला है कि मनोविक्षिप्ति और मनःक्षिप्ति के दो विभिन्न स्वतंत्र आयाम मानना चाहिए।

मनोविश्लेषण के दृष्टिकोण से मनोविक्षिप्ति में इदम् और अहम् में संघर्ष हुआ करता है और इस संघर्ष में अहवास्तविकता से अपना सम्बन्ध बनाये रखता है। कामवृत्ति का पूर्वगमन केवल लिंगीय अथवा उत्तरगुदीय काल तक होता है। व्यक्ति में अपनी अवस्था की समझ रहती है और वह वास्तविकता से इन्कार नहीं करता।

विक्षिप्तियों के मुख्य छः प्रकार

पर्यावरण-विक्षिप्त, बाध्यता-विक्षिप्ति, चिन्ता-विक्षिप्ति, मनः-श्रान्ति, भीति तथा रूपान्तरात्मक उन्माद। पर्यावरण-विक्षिप्ति में अप्रिय, स्पष्टतया असामान्य विचार व्यक्ति को बारम्बार सताते रहते हैं। प्रायः इनमें दूसरों पर अथवा अपने ही पर दोषारोपण होता है। बहुधा इन विचारों के साथ कुछ क्रियाबाध्यताएँ भी आ जाती हैं। इन विचारों के विषय में और इनको रोकने में असमर्थता पर चिंता होती है। यहाँ तक कि व्यक्ति अपने ही अस्तित्व अथवा मनुष्यत्व में संदेह करने लगता है। कभी-कभी तो इन विचारों के अस्तित्व में भी संदेह होने लगता है। इसे "बाध्य संदेह" कहा गया है। पर्यावरण-विक्षिप्ति का आधार किसी दमित उद्वेग का मूल विषय से सम्बन्धित किसी अहानिकर विषय पर विस्थापन माना जाता है। पर्यावरण-विक्षिप्ति रोगी, अपने संदेहों की अभिव्यक्ति में बाल की खाल निकाला करते हैं। मनोविश्लेषण के अनुसार यह उभय भावप्रधान उत्तरगुदीय विकास काल की विशेषता है। अतएव पर्यावरण-विक्षिप्ति को उत्तरगुदीय काल के दमित संघर्षों से स्वरक्षा का विकारात्मक साधन माना गया है।

बाध्यता-विक्षिप्ति में बाध्याताओं की प्रधानता होती है। अर्थात् अर्थहीन क्रियाओं

को करने की बारम्बार अरोध्य प्रवृत्ति होती है। यह शरीर के किसी एक अंग की कोई साधारण-सी, सरल स्पन्दन रूपी क्रिया भी हो सकती है। जैसे किसी के मन में कुछ पीने की, चुराने की प्रबल इच्छा हो और वह तब उसे रोक न पाये। किसी को रेल गाड़ियों की समय-सारिणी रटने की झक हो सकती है, किसी को मार्ग में चलते हुए प्रत्येक खम्भे को छूने की। प्रायः क्रिया देखन वालों को यह निरर्थक प्रतीत होती है, परन्तु उस क्रिया को करने की इच्छा व्यक्ति में बहुत प्रबल होती है। यदि किसी कारण, वह यह क्रिया नहीं कर पाता तो उसे बहुत चिन्ता अथवा अशान्ति का अनुभव होता है। इन बाध्यताओं को अवचेतन इच्छाओं से स्वरक्षा का अवचेतन प्रयास माना जाता है। हाथ धोने, स्नान करने आदि की झक शैशवीय काम पर आधारित दोष भावनाओं से अपनी रक्षा करने के लिए होती है। ऐसे ही अपने बटनों आदि को छेड़ते रहने की आन्तरिक बाध्यता हस्तमैथुन वृत्ति से अपने को बचाने का अवचेतन उपक्रम है।

चिन्ता-विक्षिप्ति का मुख्य लक्षण विषयहीन, मुक्त, जिस विषय पर जब चाहे टिक जाने वाली चिन्ता है। अतः इसका विषय बदलता रहता है। व्यक्ति को लगता है जैसे विषय उसके अपने ही अन्दर है। स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। नींद नहीं आती। रात्रि में चिन्ता बहुत बढ़ जाती है। साथ में पसीना आना, हृदय में तीव्र स्पन्दन, आदि दैहिक लक्षण भी प्रगट होते हैं। इसी प्रकार मनःश्रान्ति में भी चिड़चिड़ापन, अनिद्रा आदि होते हैं, परन्तु मुख्य लक्षण निरन्तर अत्यन्त थकान का अनुभव और कार्यक्षमता का घटाव है। विषाद, निर्बलता की भावना और दैहिक रोगभ्रम इसके अन्य लक्षण हैं।

भीति की चिन्ता, उन्माद भी कहा गया है। भीति किसी पदार्थ अथवा परिस्थिति के असामान्य भय को कहते हैं। यह प्रायः वासनाओं के प्रलोभन से बचने के लिए स्वरक्षा-रचना रूप होती है। इसकी जड़ में विकास के लिंगीय स्तर पर एडिपस ग्रन्थि-सम्बन्धी आन्तरिक संघर्ष होता है। उभय भावों तथा पूर्वगमन की प्रधानता होती है।

रूपान्तरात्मक, उन्माद का प्रमुख लक्षण मनोजनित दैहिक रोगों की प्रतीति हैं। केन्द्रीय तंत्रिकातंत्र द्वारा नियंत्रित ज्ञानेन्द्रियों अथवा कर्मेन्द्रियों में दोष प्रतीत होने लगता है। मिरगी, मतली आदि भी देखने में आती है। विशिष्ट प्रकार की स्वप्नावस्थाएँ निद्रा भ्रमण, विस्मृतिमय भ्रमण, तथा आत्मविस्मृति इसके अन्य लक्षण हैं। ये सभी लक्षण आत्मप्रेरित सम्मोहन के परिणाम माने जाते हैं। इनमें दमित उद्वेगों का दैहिक लक्षणों में रूपान्तरण हो गया होता है, जिससे व्यक्ति अवचेतन संघर्ष से बच सके। इस प्रकार मूल चिन्ता घट जाती है। व्यक्तित्व-चिन्ता से दैहिक रोग-चिन्ता मात्र रह जाते हैं। इन लक्षणों का यह प्रथम लाभ और प्रथम उद्देश्य होता है। इनका एक द्वितीय लाभ एवं उद्देश्य भी होता है। व्यक्ति को परिवार तथा मित्र-समुदाय की ओर से सहानुभूति,

रक्षा और अनेक विशेष सुविधाओं की प्राप्ति हो जाती है, और वह जीवन की वास्तविक परिस्थितियों का सामना करने से बच जाता है। रूपान्तरात्मक उन्माद में दैहिक रोग प्रतीति के अतिरिक्त अन्य लक्षण भी होते हैं। कौतूहल तथा प्रदर्शन प्रवृत्तियाँ दोनों होती हैं, परन्तु इनकी कामगतता से इन्कार होता है। कुण्ठा की प्रतिक्रिया निरोध के रूप में होती है। हस्तमैथुन में रुचि भी होती है और साथ में दोष भावना भी। रोगी प्रतीत होने वाले अंग व्यक्ति के लिए कामोत्तेजक रहे होते हैं और उनका काम महत्त्व अब बढ़ जाता है। यदि मिरगी-जैसे दौरे होते हैं, तो उनमें संघनन, अतिपूर्ति, बहुतादात्म्य एवं काल-व्यतिक्रम आदि संरचनाओं के साथ परिवर्तित कुछ गुप्त रोग में मैथुन-क्रिया व्यक्त हुआ करती हैं। अतः रूपान्तरात्मक उन्माद को दमित प्रजनन चेष्टाओं का विस्थापित रूप कहा गया है।

काम-विकृति

काम-विकृति सामान्य विलिंगरति के अतिरिक्त काम तनाव से किसी अन्य प्रकार मुक्ति पाने अथवा चाहने को कहते हैं। इसमें प्रायः हाथ, मुख, गुदा आदि को माध्यम बनाया जाता है। मनोविश्लेषक, शैशव में सभी अंगों को कार्यक्षेत्र मानते हैं। अतः उनके मतानुसार काम-विकृति शैशवीय काम के किसी विकास-स्तर पर बद्धमूल हो जाने अथवा पूर्वगमन करने से उत्पन्न होती है।

काम-विकृतियों में एक ओर कामाभाव तथा दूसरी ओर अति कामुकता है। कामाभाव स्त्रियों में पुरुष के कामकला के अज्ञान, रति में अवचेतन भय तथा चिन्ता, पुरुष की ओर विरोध भावना अथवा दमित सलिंग-रति से उत्पन्न हो सकता है। पुरुषों में कामाभाव दमित सलिंगरति, अथवा दमित विरोध से उत्पन्न हुआ करता है। पुरुषों में अनेक प्रकार की मानसिक नपुंसकता भी हो सकती है। इनके संभव कारण हैं स्त्री की कामकलाहीनता, पुरुष में कामभोग के परिणामों का अचेतन भय, स्त्री के प्रति विरोध और अवचेतन सलिंगरति। अति कामुकता में प्रबल लिंगीय तथा स्वरति अंश होते हैं। अवचेतन सलिंगरति के साथ-साथ प्रायः विलिंग व्यक्तियों के प्रति विरोध भी होता है। इसीलिए रतिक्रिया के पश्चात् उपेक्षा भाव अथवा पीड़न देखने में आता है और प्रेमपात्र बदलते हुए भी देखे जाते हैं। विषय की दृष्टि से काम का प्रमुख विकृत्यात्मक विकार सलिंगरति है। मनोविश्लेषणवाद के अनुसार अधिकांश सलिंगरति विपरीत एडिपस परिस्थिति से उत्पन्न होती है। बालक का तादात्म्य पिता के स्थान पर माता से हो जाता है और उसका भय अथवा प्रेम पिता पर केन्द्रित हो जाता है। ऐसे ही बालिका का तादात्म्य पिता से हो जाता है और उसका भय अथवा प्रेम माता पर केन्द्रित हो जाता है। यह

कैसे हो जाता है कहना कठिन है। काम के अन्य विकृत्यात्मक विकार बालरति अर्थात् बच्चों से रति-चेष्टा, जन्तुरति अर्थात् मनुष्य से नीचे स्तर के जन्तुओं से रति-चेष्टा तथा प्रतीक-रति अर्थात् किसी व्यक्ति के शरीर के किसी भाग अथवा उसके किसी वस्त्र आदि द्वारा काम-संतुष्टि हैं। संतुष्टि-विधि की दृष्टि से काम के मुख्य विकृत्यात्मक विकार हस्तमैथुन, देह को और विशेषतया उसके काम-क्षेत्रों को देखने से अथवा उनके प्रदर्शन से काम-संतुष्टि तथा पीड़ानुरक्ति हैं। हस्तमैथुन एक प्रकार का पूर्वगमन है। दर्शनानुरक्ति तथा प्रदर्शनानुरक्ति को पुंस्त्वहरण से इन्कार करने की चेष्टाएँ समझा गया है। पीड़नानुरक्ति रोध पर विजय के अनुभव का ढंग है। पीड़ानुरक्ति एडिपी वासना के लिए दण्ड की स्वीकृति का पूर्वगमनात्मक रूप है।

चरित्र-विकृति

चरित्र-विकृति उन व्यक्तियों में समझी जाती है जो विचित्र, निकृष्ट, दुखी, दुष्ट अथवा कुमार्गगामी होते हैं। इसकी उत्पत्ति व्यक्तित्व के अंगों में असंतुलन से होती है। कामविकृति, हर किसी से कामचेष्टा, अस्थिरता, मुकदमेबाज़ी, निरन्तर अशिष्टता, मद्यव्यसन, अफीम आदि का व्यसन, झूठ की आदत, धोखाधड़ी, अपराधवृत्ति, गुंडई और आवारागर्दी चरित्र-विकृतियों में गिनी जाती हैं। अधिकांश चरित्र-विकृतियों में कोई न कोई अवचेतन आन्तरिक संघर्ष बाह्य परिवेश में व्यक्त हानिकारक क्रियाओं के रूप में प्रकट होता है।

अन्य असामान्य मनोऽवस्थाएँ

असामान्य मनोविज्ञान को कुछ अन्य प्रकार की असामान्य मनोवस्थाओं में भी विशेष रुचि रही है। इनमें अल्पबुद्धिता सर्वोपरि है। अल्पबुद्धि व्यक्ति वे होते हैं, जो पर्याप्त आयु होने पर भी दूसरों द्वारा सहायता अथवा निरीक्षण के बिना, अपनी देख-भाल नहीं कर सकते। शिक्षा-विषयों में उनके सफल होने की संभावना नहीं के बराबर होती है। उनकी बुद्धिलब्धि प्रायः ५ से कम होती है। अल्पबुद्धिता के भी तीन स्तर पाये जाते हैं; बालिश, उससे नीचे मूढ़ और सबसे नीचे जड़बुद्धिता। अल्पबुद्धि व्यक्तियों में तीन व्यवहार-प्रकार पहचाने गये हैं—सुसमायोजित, साधारणप्रतिक्रियाशील अल्पबुद्धिता, बातूनी अल्पबुद्धिता और उत्तेजनशील अल्पबुद्धिता। उनमें कुछ काया-प्रकारों का भी विशेष अध्ययन हुआ है, जिनमें अपह्लसित शीर्ष, अपवृद्धशीर्ष, जलशीर्ष, मंगोल तथा आनुवंशिक प्रकार विशेषतया उल्लेखनीय हैं। अल्पबुद्धिता के कारण जन्मपूर्व, जन्मसमयी और जन्मोत्तर भी पाये गये हैं। बुद्धि आयाम के ऊपरी छोर पर स्थित प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का अध्ययन भी हुआ है। इस दिशा में विशेषतया मनःपरीक्षकों ने तथा मनो-

विश्लेषणवादियों ने योग दिया है। मनोविश्लेषणवादियों ने प्रायः प्रतिभा को विक्षिप्तियों के शोधन की उपज माना है।

अन्य असामान्य अवस्थाओं में वृद्धावस्था के साथ आने वाली जरा-क्षिप्तियों की ओर भी ध्यान दिया गया है। बुद्धि तथा स्मृति के ह्रास, नवीन समस्याओं के सुलझाने में अक्षमता और नवीन परिस्थितियों में समायोजन में कठिनाई, मतिभ्रम, चिड़चिड़ापन, नपुंसकता सहित अति कामुकता, शिकायतों की वृद्धि, शारीरिक कम्पन, अर्द्धनिद्रा, थकनशीलता, इनके मुख्य लक्षण हैं। एक अन्य रोग मिरगी का बहुत अध्ययन हुआ है। इसमें अनेक बार कुछ प्रारंभिक लक्षणों के उपरान्त अवचेतना तथा गति-असमन्वय के दौरे आया करते हैं।

व्यक्तिकेन्द्रित दृष्टिकोण का विकास

उपर्युक्त मनोविकारों अथवा अन्य असामान्य मनोवस्थाओं के अलग-अलग अध्ययन के साथ-साथ असामान्य मनोविज्ञान के क्षेत्र में और विशेषतया मनश्चिकित्सा के क्षेत्र में काम करने वालों में यह मत जोर पकड़ता जा रहा है कि वर्गीकरण-प्रधान मनोरोग-शास्त्र मानसिक जगत् की अवास्तविक गतिहीन धारणा उपस्थित करता है। यह अणुवादी भौतिकी पर आधारित है। मनोविकार-विज्ञान को इससे श्रेष्ठतर आधार जीव-विज्ञान की धारणाओं में मिलेगा। मनोविकारों को थोड़ी-सी सरल गतिरहित धारणाओं के अन्तर्गत लाने की अपेक्षा उनका पूर्णरूपेण अध्ययन तथा उपचार करना चाहिए। वर्गीकरण अथवा व्यक्ति के रोग के नामकरण मात्र से ही मनश्चिकित्सा में संतुष्टि नहीं हो सकती। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति में मनोरोग की उत्पत्ति की मानसिक प्रक्रिया को समझा जाय। वर्गीकरण मात्र से असंतुष्टि तथा प्रावर्तनिक प्रक्रियाओं के महत्त्व की स्वीकृति के परिणाम स्वरूप अब असामान्य मनोविज्ञान रोग-प्रकार केन्द्रित न रहकर, व्यक्ति-केन्द्रित तथा वैयक्तिक मनःप्रक्रिया केन्द्रित हो गया है। रोगी को अपनी वैयक्तिक विशेषताओं से युक्त मानव-जीव के रूप में देखने पर अधिक बल दिया जाता है।

इसका एक प्रभाव यह पड़ा है कि मानसिक रोग-प्रकारों की अपेक्षा अब मनोरोगियों की व्यक्तिगत मनोविकारात्मक प्रक्रियाओं अर्थात् व्यवहार-विकारों एवं अनुभव-विकारों पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। इसका एक उदाहरण चिन्ता तथा अशान्ति का बढ़ता हुआ अध्ययन है। अब मनोनिदान, व्यक्ति के मनोविकार-प्रकार की पहचान पर नहीं, बहुत कुछ उसके अंदर चिन्ता एवं अशान्ति के विकास के व्यक्तिगत इतिहास पर केन्द्रित होता है। रोगी के साथ अन्तर्वार्ता से, उसके मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से, उसके ज़ीवन-साथियों के साथ बात-चीत से तथा उसके चिकित्सकों और उसके विद्यालय, व्यवसाय

आदि के अधिकारियों द्वारा प्राप्त विवरणों से, उसके विषय में वह सब सामग्री एकत्र की जाती है, जो उसको समझने में और उसे मनोविकार पर विजय प्राप्त करने में सहायक हो सके ।

मनश्चिकित्सा

मनोविकारों की चिकित्सा की पद्धति पर भी इस वर्गीकरणोपरि व्यक्तिकेन्द्रित दृष्टिकोण का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। उपचार प्राय: विशिष्ट मनोविकार मात्र का नहीं वरन् व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का किया जाता है, और मनोविकार का किया जाता है, उसके प्रकार का नहीं । इसका परिणाम यह है कि मनोविकार मात्र के उपचार के लिए अनेक मनश्चिकित्सा-पद्धतियों का विकास हो गया है। दैहिक चिकित्सा-शास्त्रियों ने विशेष औषधियों के अथवा विद्युदाघात के ऊपर बल दिया है । परन्तु अधिकांश मनोवैज्ञानिक इनको मानसिक चिकित्सा में सहायक मात्र ही मानते हैं । एक मत यह रहा है कि मानसिक विकार का मुख्य कारण सुझाव-ग्रहण द्वारा व्यक्ति के मन में विशेष विचारों, विश्वास अथवा भावों का जम जाना है । इस मत के अनुसार मनश्चिकित्सा के सुझावन एवं आत्मावबोधन-विधियों का विकास हुआ है ।

सुझाव-ग्रहण प्रक्रिया के स्वरूप तथा उसके अनुकूल व्यक्तिगत और परिवेशगत परिस्थितियों का अध्ययन हुआ है। उसके द्वारा लक्षणों से अस्थायी मुक्ति होती अवश्य पायी गयी है। परन्तु इससे मनोविकार की जड़ तक पहुँच पाने में संदेह है। सम्मोहन एक अन्य मनश्चिकित्सा-विधि है। इसका उपयोग सुझावन के लिए भी किया गया है और अवचेतना की गहराइयों तक पहुँचकर मनोविश्लेषण करने के लिए भी। सम्मोहन के स्वरूप के विषय में मतभेद है । इसका आधार सम्मोहक द्वारा सम्मोहित व्यक्ति की काम-संभावना भी माना गया है, सम्मोहित व्यक्ति में सुझावग्रहणशीलता की वृद्धि भी बताया गया है, और सम्मोहित व्यक्ति का भिन्न चेतना अवस्था पर पहुँचना भी समझा गया है। सम्मोहन के लिए भी अनुकूल परिस्थितियाँ तथा अनुकूल व्यक्तित्व दोनों चाहिए । इसके विभिन्न स्तर भी माने गये हैं। इसकी उपयोगिता सीमित भी पायी गयी है और इसके उपयोग में कुछ आशंकाएँ भी प्रकट की गयी हैं।

अत: अब प्राय: मनश्चिकित्सा अंतर्वार्ता द्वारा की जाती है। अंतर्वार्ता में व्यक्ति के अज्ञात अथवा दमित आंतरिक संघर्षों तक पहुँच कर उसे उनका बोध कराया जाता है। उसे अपने व्यक्तित्व के विकास में अनुपयुक्त, अयथार्थ अथवा अधूरे अवगमों का विश्लेषण करने में सहायता की जाती है। उसके स्पष्ट लक्षणों और उसके कथित कष्टों के पीछे अन्य गुप्त समस्याओं, भावनाओं आदि की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया जाता

है। इस सब में मनश्चिकित्सक उसके साथ अनुपेक्षा, रुचि, समझ और सहानुभूतिपूर्ण प्रतिक्रिया का मानसिक सम्बन्ध स्थापित करके उसे आत्मबोध, स्वतंत्र, स्वव्यक्तित्व निर्माण तथा आत्मविश्वाससहित समस्या-विवेचन एवं निर्णय के लिए सामर्थ्य की प्राप्ति में सहायता करता है ।

ऐसा कई स्तरों पर किया जा सकता है । समस्याकेन्द्रित निर्देशन हो सकता है। आश्रयात्मक मनश्चिकित्सा द्वारा व्यक्तित्व में विशेष परिवर्तन लाये बिना उसमें मानसिक शान्ति अथवा आत्मविश्वास को पुनः स्थापित किया जा सकता है। चिकित्सक तथा रोगी के मानसिक सम्बन्ध को रोग के मन-उपचार का मुख्य माध्यम बनाया जा सकता है। इसे "सम्बन्ध चिकित्सा" कहा जाता है। ऐसी ही "गहन मनश्चिकित्सा" का प्रवर्तन भी हुआ है। इसका उद्देश्य व्यक्ति को उसके मनोविकास के अज्ञात अर्थात् अवचेतन पूर्वकालिक मनोगत्यात्मक कारणों का ज्ञान कराकर उसे अपनी औद्वेगिक कठिनाइयों तथा अपने विकार-लक्षणों से मुक्त करना है। मनोविश्लेषणवादियों का मत है कि वास्तव में मनोविश्लेषण ही व्यक्तित्व की अंतरतम गहराइयों तक पहुँच कर उसमें पूर्ण स्थायी परिवर्तन ला सकता है। मनोविश्लेषणात्मक मनश्चिकित्सा में चिकित्सक मनोरोगी के मुक्त साहचर्यों एवं स्वप्नों के विश्लेषणों में पूर्वगमन, भावांतरण, भावप्रत्यंतरण तथा प्रतिरोध का माध्यमों के रूप में उपयोग करता है। वह उसके साहचर्यों के गूढ़ अर्थ की अपने विश्लेषणवादी सिद्धान्त के अनुसार उसके समक्ष इस प्रकार व्याख्या करता है कि उसके मानसिक संगठन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो जाते हैं। कुछ समय से एक नवीन पद्धति का विकास हुआ है, जिसे अपरिचालक मनश्चिकित्सा कहा जाता है। यह मनोविकारग्रस्त व्यक्ति की अपनी स्वाभाविक स्वास्थ्य-प्रेरणा पर विश्वास करके उसके उपचार का उत्तरदायित्व उसी पर रखती है। परन्तु उसकी बौद्धिक प्रक्रियाओं की उपेक्षा करते हुए उसके भावों और उद्वेगों पर उसका ध्यान केन्द्रित किया जाता है। मनोविश्लेषण की भूतकेन्द्रित विधि के विपरीत इसमें वर्तमान समस्याओं को प्रमुखता दी जाती है। अंतर्वार्ता की दिशा का निर्धारण पूर्णतया मनोरोगी के हाथ में दे दिया जाता है। चिकित्सक न प्रश्न करता है, न अर्थ व्याख्या करता है, न परामर्श अथवा सुझाव देता है, न दोष देता है, न पुनराश्वासन देता है, न आलोचना करता है, न प्रशंसा करता है, और न सहानुभूति ही प्रकट करता है। वह केवल उसी की व्यक्त भावनाओं को दूसरे शब्दों में धीरे-धीरे लगभग एक स्वर में कहता रहता है। उसकी भावावस्थाओं को भी बिना किसी मूल्यांकन के शब्दों में कहता रहता है। मनोरोगी को बोलते में कभी टोकता नहीं। चुप रहकर बड़े ध्यान से इस प्रकार सुनता रहता है कि रोगी अपनी समस्या के और अपनी भावनाओं के विश्लेषण में प्रोत्साहित होता रहे। इस सबके परिणामस्वरूप रोगी में स्वतः आत्मबोध उत्पन्न होता है। वह अपनी समस्याओं

के नवीन सुलझाओं पर पहुँचता है। उसमें आत्म-विश्वास के साथ स्वतंत्रतापूर्वक अपनी परिस्थितियों से सुसमायोजन स्थापित करने की योग्यता का विकास हो जाता है।

कुछ मनश्चिकित्सा-विधियाँ, विशिष्ट साधनों का उपयोग करती हैं। इनमें प्रमुख स्थान मुक्ताभिव्यक्ति चिकत्साओं का है। इनमें भी क्रीड़ा-चिकित्सा मुख्य है। यह विशेषतया बच्चों के साथ काम में लायी जाती है। इसमें खेल को व्यक्ति के संघर्षों की अभिव्यक्ति का तथा उनके सुलझाव की खोज का माध्यम बनाया जाता है। खेल की अर्थ-व्याख्या इसका प्रधान अंग है। क्रिया-चिकित्सा, कठपुतली-चिकित्सा तथा मनोनाट्य ऐसी मुक्ताभिव्यक्ति-चिकित्सा के कुछ अन्य प्रकार हैं। संगीत-चिकित्सा तथा चलचित्र-चिकित्सा का विकास भी हुआ है। उपर्युक्त सभी प्रकार की मनश्चिकित्सा-पद्धतियाँ वैयक्तिक चिकित्सा-विधियों के रूप में आरम्भ हुई हैं। परन्तु धीरे-धीरे इन सभी के सामूहिक चिकित्सा-रूपों का विकास भी हो गया है।

मनोरोग के कारणों की खोज, कुछ समय से एक नयी दिशा में आगे बढ़ रही है। यह समझा जाने लगा है कि व्यक्ति में मानसिक रोग की उत्पत्ति को समझने के लिए उसके सामाजिक वातावरण को समझ लेना आवश्यक है। इस तथ्य को लेकर अब एक सामाजिक मनश्चिकित्सा-शास्त्र का उदय हो रहा है। इसके अनुसार केवल रोगियों की चिकित्सा ही नहीं, उनके पूरे समाज का और विशेषतया माता-पिता आदि उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों का भी निर्देशन आवश्यक है।

असामान्य मनोविज्ञान के इस ओर विकास की, एक विशेषता उत्तरोत्तर इस आभास की वृद्धि है कि ऐसे नवीन प्रत्ययों, सिद्धान्तों तथा अनुभवों का स्वागत किया जाय जिसके प्रतिपादन में विशेष साहस प्रदर्शित हुआ है, परन्तु जिनकी सत्यता प्रयोगात्मक साक्ष्यों द्वारा अभी पूर्णतया सिद्ध नहीं हो पायी है। इस मनोवृत्ति का एक परिणाम यह है कि असामान्य मनोविज्ञान के क्षेत्र में बहुत-से विभिन्न सिद्धान्तों का निर्माण तथा प्रतिपादन हुआ है और निदान एवं चिकित्सा की बहुत-सी विचित्र विधियाँ प्रचलित हैं। बौद्धिक एवं तार्किक आधार के अभाव में उपयोगिता के अनुसार ही इनका अनुप्रयोग हो रहा है।

८

समाज-मनोविज्ञान

समाज-मनोविज्ञान व्यावहारिक अथवा वैज्ञानिक सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में मनोवैज्ञानिक तथ्यों, प्रत्ययों, सिद्धान्तों एवं विधियों से काम लेने के प्रयत्नों द्वारा उत्पन्न हुआ है। इसे प्रायः व्यक्तियों अथवा समूहों के सामाजिक व्यवहार का विज्ञान कहा जाता है। व्यक्तियों का वह व्यक्त अथवा अव्यक्त व्यवहार सामाजिक माना जा सकता है, जो उन एक अथवा अनेक व्यक्तियों अथवा व्यक्तिसमूहों से उनकी उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति में प्रभावित हो, अथवा उन्हें प्रभावित करे। सामाजिक व्यवहार के अन्तर्गत परिवार के सदस्यों का मिलकर गृहस्थ प्रबन्ध पर परामर्श करना, नागरिकों का चुनाव में वोट देना, और सैनिकों का स्वदेश की रक्षा में जान दे देना आदि व्यक्त अर्थात् अपरोक्ष व्यवहार भी आते हैं, और व्यक्तियों, समूहों अथवा सामाजिक परिस्थितियों के विषय में समाचार-पत्र पढ़ना, समाज की बीती घटनाओं अथवा भावी संभावनाओं पर विचार करना, अथवा अपने या दूसरों के कर्त्तव्य अर्थात् धर्म के विषय में जागरूक होना आदि अव्यक्त अथवा परोक्ष व्यवहार भी।

विकास

मनोविज्ञान के स्वतन्त्र क्षेत्र के रूप में समाज-मनोविज्ञान का उदय बीसवीं शताब्दी के साथ ही हुआ। परन्तु अति प्राचीन समय से इसके क्षेत्र में दार्शनिकों, समाज-दर्शन-शास्त्रियों, मानव-विज्ञान-शास्त्रियों, विकासवादियों और समाजशास्त्रियों ने भी महत्त्व-पूर्ण समस्याएँ उठायी हैं, अध्ययन-विधियाँ सुझायी हैं, चिन्तन एवं अनुसंधान किये हैं, तथा प्रतिष्ठा प्राप्त निष्कर्ष प्राप्त किये हैं। इस प्रकार विकसित समाज-मनोविज्ञान अर्वाचीन काल में व्यक्तियों अथवा समूहों पर अन्य व्यक्तियों अथवा समूहों अथवा विविध उत्प्ररणाओं के प्रभावों आदि के विषय में सुनियंत्रित प्रयोगों पर, सामाजिक व्यवहार के विभिन्न संस्कृतियों और समाजों में विद्यमान रूपों की तुलनाओं पर, तथा स्थानीय राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के विषय में व्यावहारिक अनुप्रयोगों पर केन्द्रित हो गया है।

समाज मनोविज्ञान की समस्याओं में भी विकास तथा परिवर्तन होता रहा है। भिन्न-भिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न समस्याएँ प्रमुख रही हैं। समय-समय पर नयी-नयी समस्याएँ उठकर समाज-मनोविज्ञान के अध्ययन को विस्तृत करती रही हैं।

सामाजिक व्यवहार के सामान्य मनोवैज्ञानिक आधार

कदाचित् समाज-मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रथम प्रयास सामाजिक व्यवहार की सामान्य मनोवैज्ञानिक धारणाओं के आधार पर व्याख्या करने का रहा है। मानव-स्वभाव, आनुवंशिकता, मूल प्रवृत्तियाँ, प्रेरणाएँ, शिक्षा आदि सभी विषयों पर सामाजिक व्यवहार को आधारित देखने का प्रयत्न किया गया है। मानव-स्वभाव को सामाजिक व्यवस्था, प्रथातंत्र, शिक्षा अथवा वंशानुक्रम द्वारा उत्पन्न माना गया है। इसे अपरिवर्तनशील भी माना गया है और परिवर्त्तनशील भी। मूल मानव-स्वभाव के स्वरूप के विषय में विभिन्न धारणाएँ रही हैं। मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था की अकेली, दीन, कपटी, पाशविक, स्वार्थी तथा भूख, प्यास, काम, भय, प्रतिष्ठा, सुख प्राप्ति एवं दुख से बचने की कामना से प्रेरित होने की कल्पना भी की गयी है और शुद्ध हृदय, निष्कपट तथा निःस्वार्थी होने की भी। अनुकरण को, सुझाव-ग्रहणशीलता को और आविष्कार को भी सामाजिक व्यवहार के रहस्य की कुंजी समझा गया है। मूल प्रवृत्तियों की सूची बनाकर उन सब पर भी सामाजिक जीवन को आधारित समझा गया है। ऐसी एक सूची में १४ विशिष्ट और अविशिष्ट मूल प्रवृत्तियाँ बतायी गयी हैं। अविशिष्ट प्रवृत्तियाँ अनुकरण, सुझाव-ग्रहणशीलता, सहानुभूति और खेल हैं। विशिष्ट मूल प्रवृत्तियाँ निम्नांकित हैं—

पलायन	...	भोजन ढूँढ़ना
विकर्षण	...	रचनात्मकता
उत्सुकता	...	संग्रह
लड़ना	...	शरणागति
विनय	...	काम
आत्माग्रह	...	यूथवृत्ति
शिशुरक्षा	...	हँसना

सामाजिक व्यवहार के सामान्य मनोवैज्ञानिक आधारों को ससझने के लिए जन्तुओं में सामाजिकता के चिह्न देखने का प्रयत्न किया गया है। सरलतम और उच्चतर विकास-स्तरों के जीवों में किसी-न-किसी मात्रा में सामाजिक अंतःक्रियाएँ अवश्य पायी जाती हैं। व्यक्तियों का व्यवहार यूथ-परिस्थितियों पर निर्भर होता है। भौतिक वातावरण, व्यक्ति की देह-रचना, एवं शरीर वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ उनमें सामा-

जिक सम्बन्ध उत्पन्न कर देती हैं। समुदाय बन जाते हैं और समुदाय के व्यक्ति ऊँचे-नीचे स्तरों के अभिभावक तथा अभिभूत वर्गों में बँट जाते हैं। पक्षियों के संगीत में, प्रेक्ष्य शब्द-परिवर्तन में, तथा सिंहों, ऊदबिलावों एवं अन्य जीवों के विविध व्यवहार में, आविष्कार, संसूचन तथा सामाजिक बाननिर्माण के आदि रूप मिलते हैं। मनुष्य से नीचे के उच्चतम स्तनधारी जन्तुओं में विभिन्न स्थितियों में, विभिन्न शब्दों का उच्चारण पाया गया है। उनकी भाषा बाह्य तथा आन्तरिक उत्तेजनाओं के प्रति प्रतिक्रिया प्रतीत होती है। परन्तु उनकी भाषा में भूतकाल अथवा भविष्य की ओर कोई संकेत नहीं मिलता। अतः उनमें सामाजिक परम्पराओं के संग्रह की संभावना नहीं प्रतीत होती। इस प्रकार मानव-भाषा का, जन्तु-भाषा के विपरीत विलक्षण सामाजिक महत्त्व हो जाता है। भाषा व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों को प्रभावित करती है। वह समाज में प्रचलित संस्कृति के रुचि आदि भावात्मक अंशों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। कुछ विद्वान् किसी समाज की भाषा में विशेष प्रकार के शब्दों के अभाव को उस समाज में बौद्धिक योग्यता की कमी का परिचायक भी मानते हैं, परन्तु अन्य विद्वान् इसे केवल उस समाज की रुचियों की विलक्षणता का परिणाम समझते हैं। किसी भी समाज में भाषा दूसरों के व्यवहार के नियंत्रण में विचार तथा संसूचन का माध्यम तो है ही, साथ ही वह बहुत मात्रा में उस समाज के व्यक्तियों को संग्रथित करने और उन्हें दूसरे समाजों से अलग रखने का काम भी करती है।

सामाजिक व्यवहार मूल मानव-स्वभाव पर आधारित है कि नहीं, यह प्रश्न सामाजिक व्यवहार के सामान्य मनोवैज्ञानिक आधारों के विषय में सिद्धान्त स्थिर करने के लिए तो महत्त्वपूर्ण है ही, पर इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण है कि यदि मूल मानव-स्वभाव के कारण विशिष्ट प्रकार का सामाजिक व्यवहार अवश्यम्भावी हुआ तो सामाजिक जीवन की पद्धतियों में बड़े परिवर्तन करना और युद्ध आदि सामाजिक अभिशापों को दूर करना असम्भव हो जाता है। इसलिए समाज-मनोवैज्ञानिक यह निर्णय करने के बहुत इच्छुक हैं कि मानव-स्वभाव के कोई गुण वास्तव में नैसर्गिक, जन्मजात अथवा प्राकृतिक कहे भी जा सकते हैं कि नहीं। किसी-न-किसी रूप में मूल आधारभूत सामान्य मानव-इच्छाओं, प्रेरणाओं, आवश्यकताओं आदि की धारणाएँ बहुत प्रचलित हैं। इन धारणाओं की परीक्षा के लिए तीन कसौटियाँ प्रस्तावित हुई हैं। किसी गुण के मूल मानव-स्वभाव होने के लिए वह अविच्छिन्न रूप से उच्चतर जन्तुओं से मनुष्यों तक विद्यमान होना चाहिए। उनके शरीरों की जैव रासायनिक अथवा देहप्रकार्यात्मक रचना की उस गुण के अनुकूल बनावट होनी चाहिए। साथ ही उस गुण को विभिन्न संस्कृति वाले सभी मानव समाजों में सामान्य रूप से विद्यमान होना चाहिए।

इन तीन कसौटियों पर सामाजिक व्यवहार के मूल आधार रूप समझे जानेवाले मानव-गुणों को कसने का प्रयत्न किया गया है। जैसे, संतान की इच्छा जन्तुओं में होती है कि नहीं, कहा नहीं जा सकता। मनुष्यों में समाज की ओर से पड़ने वाले विधि रीति, अर्थ आदि के दबाव संतानोत्पत्ति की प्रेरणा देने का प्रयत्न करते रहते हैं। माता-पिता को संतान के कारण आर्थिक एवं व्यावहारिक कठिनाइयाँ सहनी पड़ती हैं, त्याग भी करना पड़ता है और फिर विशिष्ट अवसरों पर उसका विरोध भी सहना पड़ता है। इन बातों से संतानेच्छा के प्राकृतिक होने में संदेह होता है। परन्तु बच्चों के पालन-पोषण की तथा उनकी रक्षा की इच्छा मनुष्यों के साथ-साथ जन्तुओं में भी पायी जाती है, और सब व्यक्तियों में नहीं, तो कम-से-कम सब समाजों में तो होती ही है। परन्तु, कहीं बच्चों को गोद लेने की प्रथा और कहीं बाल-हत्या देखने में आती है। इससे प्रतीत होता है कि सामाजिक जीवन कम-से-कम इस बात में प्रचलित संस्कृति पर आधारित है।

आक्रामकता मनुष्य के अतिरिक्त बहुत प्रकार के जन्तुओं में होती है। दैहिक आधार आक्रामकता से सम्बद्ध उद्वेग, क्रोध का होता ही है। अनुकम्पी तंत्रिकातंत्र तथा अधिवृक्क-ग्रन्थियों की सक्रियता से बहुत-से जैव रासायनिक एवं दैहिक परिवर्तन हो जाते हैं, जिनसे जीव किसी भी संकट का सामना करने के लिए तैयार हो जाता है। यकृत् से ग्लाइकोजन निकलने लगती है, जिससे ऊर्जा की उत्पत्ति होती है। श्रांति से उत्पन्न मल शीघ्रता से शरीर के बाहर निकलने लगता है। शीघ्रता से रुधिर के थक्के बनने लगते हैं, जिससे घावों से बहुत हानि न हो। पाचनतंत्र से रुधिर, पेशियों की ओर बहकर उनकी सामर्थ्य को बढ़ाने लगता है। परन्तु यह सब परिवर्तन क्रोध में ही नहीं, भय तथा अन्य प्रबल उद्वेगों में भी होते हैं। अतः आक्रामकता की प्राकृतिक आवश्यकता सिद्ध नहीं होती। युद्ध-वृत्ति बहुत फैली हुई अवश्य है, परन्तु सार्वलौकिक नहीं कही जा सकती। अनेक समाजों की स्वाभाविक वृत्ति युद्ध के प्रतिकूल है। जहाँ युद्ध होता भी है, वहाँ युद्ध में प्रवृत्त होनेवालों का लक्ष्य युद्ध नहीं, अर्थ, सम्मान, न्याय, धर्म आदि किसी अन्य लक्ष्य को प्राप्त करना अथवा किसी कुण्ठा को मिटाना होता है। अतः युद्ध को स्वाभाविक लक्ष्य नहीं, साधन मात्र मानना पड़ेगा। व्यक्तियों के बीच आक्रामकता के विषय में भी यही कहा जा सकता है।

उपार्जनात्मक व्यवहार कीटों से लेकर उच्चतर जन्तुओं तक में होता है, परन्तु यह भी भोजन, काम, गृह आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनस्वरूप में ही होता है। नीलकण्ठों और काले कौवों में संग्रह का कारण यह नहीं प्रतीत होता। फिर भी उनमें संग्रह-व्यवहार चमकीले छोटे पदार्थों की ओर उत्सुकता एवं संग्रह-वृत्ति पर आधारित होता है। उपार्जन-व्यवहार का न तो कोई स्वतंत्र दैहिक आधार प्रतीत होता और न तो यह

व्यवहार सार्वलौकिक ही है। बहुत-सी जातियों में व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा ही नहीं मिलती। लेस्, एस्कीमो, कैंगांग, अरपेश आदि अनेक जातियों में इसके अभाव के विशेष अध्ययन हुए हैं। उपार्जन-व्यवहार जहाँ मिलता भी है, प्रायः भोजन, सुरक्षा, काम, प्रतिष्ठा, मनोरंजन आदि की अन्य वृत्तियों के अधीन हुआ करता है। मनोविश्लेषण-वादियों ने उपार्जन एवं संग्रह को दैहिक तथा सामाजिक कारणों से दमित शौचावरोध का उदात्तीकृत रूप कहा है। इस सिद्धान्त के पक्ष अथवा विपक्ष में अभी पर्याप्त प्रेक्षणात्मक तथ्य प्राप्त नहीं हैं। कुछ भी हो, अधिकांश समाज-मनोवैज्ञानिक उपार्जनात्मक व्यवहार को नैसर्गिक नहीं, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से ही उत्पन्न समझते हैं।

स्वयमाग्रह-वृत्ति प्रतिष्ठा-प्राप्ति वृत्ति को वैयक्तिक मनोविज्ञान नामक मनोविश्लेषणात्मक-संप्रदाय ने व्यवहार की प्रमुख प्रेरक तथा एकमात्र मूल प्रवृत्ति माना है। बन्दर तथा अन्य कई स्तनधारी जन्तु नर-नेतृत्व अर्थात् आधिपत्य के लिए, परस्पर लड़ते पाये गये हैं। परन्तु कुछ विद्वान् इस सत्ताप्राप्ति वृत्ति को भोजन-प्राप्ति तथा मादा पर विशेष अधिकार-प्राप्ति का साधन मात्र कहते हैं। उपर्युक्त वैयक्तिक मनोविज्ञान में इस वृत्ति का वास्तविक अथवा कल्पित शारीरिक हीनता की सम्पूर्ति की प्रवृत्ति के रूप में होना, इसके दैहिक आधार का प्रमाण माना गया है। स्वयमाग्रह-वृत्ति मनुष्यों में बहुत व्यापक है, परन्तु पूर्णतया सार्वलौकिक नहीं कही जा सकती। जूनी, होपी तथा अरपेश जातीय में इसके अभाव की ओर विशेष ध्यान आकर्षित किया गया है। इस वृत्ति को नैसर्गिक की अपेक्षा अर्जित होने के पक्षमें यह तर्क भी दिया गया है कि इसका आधार प्रतियोगितारमक व्यवस्था में सामाजिक अनुमोदन प्राप्त करने की इच्छा है। जिस सामाजिक व्यवस्था में स्वयमाग्रह तिरस्कार की दृष्टि ही देखा जाता है, वहाँ व्यक्ति स्वयमाग्रहात्मक व्यवहार नहीं करते। परन्तु यह तर्क एक ओर चक्रक है, क्योंकि इसमें व्यक्ति की स्वयमाग्रहप्रियता का आधार समाज के व्यक्तियों की स्वयमाग्रह-प्रियता को ही बताया जाता है। दूसरी ओर यह तर्क स्वयमाग्रह-वृत्ति को स्वाभाविक मानते हुए इसे सामाजिक अननुमोदन के भय से दमित ही मानता है।

आत्मरक्षा की प्रवृत्ति सब जन्तुओं में मिलती है। शेष सब मूल प्रवृत्तियों का, सभी जीवों में विधान, आत्मरक्षा की ओर लक्षित होने के कारण, आत्मरक्षा का दैहिक आधार माना जा सकता है। परन्तु इस वृत्ति की सार्वलौकिकता संदिग्ध है। विशेष परिस्थितियों में आत्मबलिदान तथा आत्महनन सामूहिक तथा वैयक्तिक दोनों स्तरों पर पाया जाता है।

भूख, प्यास, निद्रा, मलत्याग, क्रियात्मकता आदि शारीरिक वृत्तियाँ तथा कामवृत्ति मनुष्यों और जन्तुओं अर्थात् सभी जीवों में पायी जाती हैं और इनके आधार-स्वरूप

उपयुक्त दैहिक रचनाएँ भी होती हैं। कामवृत्ति के अतिरिक्त इन सबमें सम्पूर्ण सार्वलौकिकता भी है। कामवृत्ति का त्याग संभव पाया गया है और कदाचित् विशेष व्यक्तियों में इसका अभाव भी संभव है।

यूथवृत्ति मनुष्यों के अतिरिक्त जन्तुओं में भी है। परन्तु इसका दैहिक रचना में कोई आधार-ज्ञात नहीं। इसके पूर्णतया सार्वलौकिक होने में भी संदेह है। कुछ जातियों के लोग अकेले-अकेले अथवा छोटे-छोटे परिवारों में दूर-दूर रहते हैं। उदाहरणार्थ, सहारा में, मेडागास्कर में, इक्वाडोर में, ऐसी जातियाँ पायी जाती हैं। मनुष्य में समाज का त्याग तो संभव है ही। धर्म के क्षेत्र में ऐसे त्याग को विशेष महत्त्व प्राप्त है। प्रायः मनुष्यों में ही नहीं, यूथवृत्ति जन्तुओं में भी सीखने पर अर्थात् अनुभव पर आधारित पायी गयी हैं। जन्म से कुछ समय तक अकेले पाले गये मेमने, बन्दर और चिम्पाँज़ी, फिर कभी अपनी जाति में रहकर यूथ-व्यवहार पूरी तरह नहीं अपना पाते। साथ ही यूथ-व्यवहार कुछ व्यावहारिक लाभों पर भी आधारित होता है, जैसे साथ रहने से प्राप्य शारीरिक गरमाहट, परिणामस्वरूप कुछ रोगों से रक्षा, परिवार-निर्माण के लिए पति-पत्नियों के चुनाव की सुविधा, पारिवारिक जीवन का आनन्द विस्तृत रूप में लेने की संभावना आदि।

उत्सुकता कई जन्तुओं में परिवेश की गवेषणा के रूप में मिलती है। परिवेश की ओर गति की वृत्ति को कुछ मात्रा में उत्सुकता का दैहिक आधार भी कहा जा सकता है। परन्तु इस वृत्ति का स्वतंत्र मौलिक अस्तित्व मानने में कठिनाइयाँ हैं। उत्सुकता अपनी सामर्थ्यों के अभ्यास की आवश्यकता से परिवेश पर अपना आधिपत्य स्थापित करने और रखने की प्रवृत्ति से, काम, भूख आदि की संतुष्टि की सुविधाओं को उपलब्ध करने की आवश्यकता से, अथवा संभव हानियों से अपनी सुरक्षा की प्रवृत्ति से, व्युत्पन्न मानी जा सकती है।

पलायन जन्तुओं में मिलता ही है। संकट-काल में दैहिक सक्रियता को पलायन तथा आक्रामकता दोनों का संयुक्त दैहिक आधार माना जा सकता है। यह भी माना जा सकता है कि कुछ जीवों की दैहिक रचना आक्रामकता, और कुछ जन्तुओं की दैहिक रचना पलायन के लिए विशेषतया अनुकूल है। परन्तु पलायन, परिस्थितियों पर, सफलता की संभावना पर, और सांस्कृतिक परम्पराओं पर भी आधारित समझा जाता है।

सामाजिक व्यवहार को समझने में, दूसरों से दबने, उनका आधिपत्य स्वीकार करने अथवा उन्हें आत्म-समर्पण करने की वृत्ति की धारणा, विशेषतया महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। परन्तु इस धारणा की आलोचना में कहा गया है कि मूल प्रवृत्ति जीव को स्वयमाग्रह और अभिभव दो विरोधी दिशाओं में नहीं ले जा सकती। फिर, यह वृत्ति व्यावहारिक

लाभों पर आधारित भी समझी जा सकती है। अधिक बलशाली व्यक्तियों अथवा समूहों के डर से, उनसे रक्षा, आर्थिक लाभ, व्यावहारिक निर्देशन, प्रेम अथवा अनुमोदन की प्राप्ति के उद्देश्य से, या स्वयम् स्वतंत्र व्यावहारिक उत्तरदायित्व से बचने के लिए, स्वाभाविक प्रवृत्ति के बिना ही इस वृत्ति को अपनाया जा सकता है। अर्थात् यह वृत्ति मनुष्यों के मूल स्वभाव में न होकर अन्य मूलवृत्तियों की संतुष्टि में साधन मात्र हो सकती है।

सामान्य मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का सामाजिक निर्धारण

समाज-मनोवैज्ञानिकों ने सामाजिक व्यवहार के आधार-स्वरूप समझी जा सकने वाली, सामान्य मनोवैज्ञानिक वृत्तियों का विश्लेषण करने के अतिरिक्त, सामान्य मनोवैज्ञानिक वैयक्तिक समझी जाने वाली प्रक्रियाओं पर, सामाजिक प्रभावों और उनके अंदर सामाजिक अंशों की खोज भी की है। ऐसे प्रयास विशेषतया उद्वेग, प्रत्यक्ष और स्मृति के विषय में हुए हैं। उन्होंने दर्शाया है कि उद्वेग उत्तेजनाओं के भौतिक गुणों तथा व्यक्तियों के दैहिक परिवर्तनों पर ही नहीं, बहुत कुछ सामाजिक निर्धारकों पर आधारित होते हैं। विभिन्न समाजों में विभिन्न परिस्थितियाँ विभिन्न उद्वेग उत्पन्न करती हैं। उदाहरणार्थ, जुड़वें शिशुओं की उत्पत्ति आस्ट्रेलिया की मूर्नगिन जाति में और निगर डेल्टा के हब्शियों में इतनी निन्दनीय समझी जाती है कि दोनों या एक शिशु को मार डाला जाता है और माता को भी या तो मार दिया जाता है या समाज से निष्कासित कर दिया जाता है। इसके विपरीत कांगो की बनकुंडो जाति में जुड़वों की माता को विशेष आदर प्रदान होता है। ऐसे ही कई जातियों में किसी स्त्री का बाँझ होना उसके जीवन को असह्य बना देता है, परन्तु अन्य जातियों में इससे साधारण दुर्भाग्य की भावना भले ही हो, कोई विशे सामाजिक आपत्ति अथवा मानहानि नहीं होती। इसी प्रकार मृत्यु अधिकांश समाजों में शोकोत्पादक होती है, परन्तु कुछ साइबेरिया वासी, एस्किमो और फीजी निवासी समझते हैं कि मृत्यु के समय की शक्तियाँ मृत्यु के पश्चात् सदा व्यक्ति में रहती हैं और इसलिए वे बूढ़े होने के पूर्व मर जाना चाहते हैं, तथा पिता को मार डालना पुत्र का कर्त्तव्य समझते हैं। काम के विषय में भी अलग-अलग जातियों तथा संस्कृतियों में, अलग-अलग भावनाएँ हैं। उद्वेगों की अभिव्यक्ति की अनुमोदित मात्रा भी सब संस्कृतियों में समान नहीं है। पूर्वीय संस्कृतियों में प्रेम का प्रदर्शन सबके सामने न करने का नियम है। पाश्चात्य राष्ट्रों में नियम इसके विपरीत है। परम्परावादी चीनियों में क्रोध प्रदर्शन सर्वथा निन्द्य है। चीनियों तथा अमरीकनों में शोक की सार्वजनिक अत्यन्त अभिव्यक्ति प्रत्याशित होती है। अधिकांश अन्य समाजों में ऐसा नहीं है। सामान्यत: अंग्रेज़ उद्वेगों का उतना प्रदर्शन नहीं करते जितना अमरीकन करते हैं। कई उद्वेगों की अभिव्यक्ति

के ढंग भी अलग-अलग समाजों में अलग-अलग हैं। कुछ जातियों में अभिवादन में आँसू बहाना, क्रोध में बेहोश होना आदि विलक्षण उद्वेगाभिव्यक्तियों के उदाहरण मिलते हैं।

प्रत्यक्ष जैसा इन्द्रियों पर आधारित अनुभव भी अनेक प्रयोगों में सामाजिक तत्त्वों द्वारा प्रभावित एवं निर्धारित पाया गया है। व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की क्रियाओं को, उनके प्रति अपने मनोभावों, अपनी भावनाओं तथा अपनी मनोदिशाओं के अनुसार ही देखता है। प्रिय व्यक्तियों की त्रुटियाँ दीखती ही नहीं अथवा अन्य व्यक्तियों की त्रुटियों की अपेक्षा कम दीखती हैं। अपने मूल्यतंत्र के अनुकूल अथवा उससे मेल खाने वाले पदार्थ या शब्द, अन्य पदार्थों अथवा शब्दों की अपेक्षा , कम समय तथा अधिक सरलता से पहचाने जाते हैं। अन्य उपस्थित व्यक्तियों में परस्पर संसूचन एवं सुझाव-ग्रहण के प्रभाव से बिन्दुओं, गतियों, रेखाओं की लम्बाइयों जैसे तथ्यात्मक विषयों के प्रत्यक्ष भी एक अवास्तविक सामाजिक मान का अनुसरण करने लगते हैं। पूर्व सामाजिक अनुभव भी प्रत्यक्ष को निर्धारित करता है। किसी फुटबाल, सिगरेट या मकान का आकार हमें उतना ही लगता है जितना हम सब उसे पूर्व सामाजिक अनुभव से जानते हैं। अपनी जाति के व्यक्ति के मनोभाव भी व्यक्ति को अपने मनोभावों जैसे ही दीखते हैं, भले ही वे वास्तविक रूप में अपने मनोभाव के विपरीत ही हों। व्यक्ति, जितने बड़े समूहों के मनोभावों के प्रेक्षण करता है, उतना ही उसके प्रत्यक्षों पर, उसके अपने मनोभावों का यह प्रभाव अधिक मात्रा में पड़ता है। अस्पष्ट अथवा बह्वर्थक परिस्थितियों में तो यह प्रभाव विशेष रूप से देखने में आता है। प्रत्यक्ष पर संस्कृति का, विशेषतया उसके एक अंग भाषा का प्रभाव अनेक अध्ययनों से पाया जाता है। कुछ जातियों की भाषा में कालसूचक शब्द नहीं हैं और उनमें समय का विवेक भी नहीं पाया जाता। कुछ जातियों की भाषाओं में कई विशिष्ट रंगों के लिए एक ही नाम है। वे इन रंगों में भेद भी नहीं पहचानते। ट्रोब्रियांडर जाति में पिता से शिशु की समानता आदर्श, तथा किसी अन्य से समानता देखना अपराध समझा जाता है। इसके परिणामस्वरूप उन्हें किन्ही भाई-बहिन दोनों के अपने पिता के समान लगने पर भी उनमें आपस में समानता दिखाई नहीं देती। आधुनिक सभ्य समाजों की संस्कृति का परिणाम है कि स्त्रियाँ रंगों को पहचानने, उनमें भेद करन और उनके नाम बताने में पुरुषों से आगे रहती हैं। पुरुषों और स्त्रियों को अलग-अलग रंग देखने में अच्छे प्रतीत होते हैं, और पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक वास्तविक रूप से बता देती हैं कि देखा हुआ अमुक व्यक्ति, ठीक-ठीक कैसे कपड़े पहिने था। अलग-अलग बुद्धि, शिक्षा, व्यवसाय, धर्म, प्रदेश के व्यक्तियों का, एक ही दृश्य का प्रत्यक्ष अनुभव भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। प्रयोग द्वारा देखा गया है कि अधिक मूल्य की मुद्राओं, टिकटों आदि के प्रत्यक्ष में जितने बड़े ज्ञात मूल्य की कोई मुद्रा, टिकट आदि होती है उतना

ही बड़ा उसका आकार दीखता है। यह अधिकानुमान धनवानों की अपेक्षा निर्धनों के प्रत्यक्ष में अधिक मात्रा में होता है। समोआ जाति में मौलिकता अर्थात् प्रचलन से भिन्नता को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता और श्वेत रंग को विशेष महत्त्व दिया जाता है। मसीखण्ड परीक्षा में वे अप्रचलित अर्थात् मौलिक प्रतिक्रियाएँ कम करते हैं और उनकी अधिकांश प्रतिक्रियाएँ मसीखण्डों के काले अथवा रंगीन भागों के बजाय उनके श्वेत भागों पर आधारित होती हैं। समाज में प्रचलित पूर्वाग्रहों तथा विजातिधारणाओं से भी व्यक्तियों के प्रत्यक्षानुभव प्रभावित एवं निर्धारित होते हैं। एक प्रयोग में कई अमरीकन बच्चों को घर के चित्र में अनुपस्थित हब्शी स्त्री घरेलू सेवा-कार्य में लगी दिखाई दी। एक अन्य प्रयोग में अमरीकन छात्रों द्वारा किये गये कुछ महिलाओं के पसन्द, सौंदर्य और चरित्र-आयामों पर अंकन यह जानने पर गिर गये कि वे महिलाएँ यहूदी अथवा इटालियन थीं। परन्तु वे महिलाएँ आकांक्षा आयाम पर ऊँचे चढ़ गयीं। ऐसे ही, एक प्रयोग में, बुद्धि तथा मस्तिष्क के सम्बन्ध के बारे में प्रचलित विश्वास के कारण, वास्तव में नीचे माथे वाले प्रखर बुद्धि समझे जाने वाले व्यक्तियों के माथे भी प्रयोज्यों द्वारा ऊँचे ही आँके गये।

इसी प्रकार स्मरण भी सामाजिक निर्धारकों पर निर्भर पाया गया है। एक प्रयोग में स्त्रियों के पक्ष में लिखे गये वाक्य स्त्रियों को अधिक स्मरण रहे और स्त्रियों के विपक्ष में लिखे गये वाक्य पुरुषों को। किसी कहानी के स्मरण में केवल पुरुष प्रयोज्य ही कहानी के पुरुष के साथ तादात्म्य स्थापित करते पाये गये। एक अन्य प्रयोग में देखा गया है कि किसी वर्ग सम्प्रदाय, अथवा सिद्धान्त के विषय में वह तथ्य, तर्क आदि अधिक स्मरण रहते हैं, जो उस वर्ग आदि के प्रति उसके अपने मनोभावों के साथ सहमत होते हैं। उसकी व्यवहार-शैली की वे बातें सबसे अधिक स्पष्टता से स्मरण रहती हैं, जिनके समान अपना कोई व्यवहार होता है। यदि किसी जाति के आर्थिक अथवा सामाजिक जीवन में किसी विशेष जीव आदि का विशेष महत्त्व होता है तो उसकी विशेषताएँ जाति के लोगों को अवश्य स्मरण रहती हैं। स्मरण-सामग्री एक व्यक्ति से दूसरे, दूसरे व्यक्ति से तीसरे और इस प्रकार कई व्यक्तियों से होती हुई संसूचित होने में परिवर्तित होती पायी गयी है। सामग्री संक्षिप्त, सामान्य, अनिश्चित होती जाती है। नामों तथा तिथियों के विषय में अस्पष्टता एवं स्थानापन्नता आने लगती है। समय-संदर्भ एवं देश-संदर्भ परिवर्तित होते जाते हैं। यदि प्रत्यास्मरण पर जिरह अर्थात् प्रतिपृच्छा हो तो और भी अधिक परिवर्तन होता है। नाम भूल जाते हैं अथवा बदल जाते हैं। अमूर्त-वर्णन मूर्त हो जाते हैं। मूल सामग्री की शैली लुप्त हो जाती है। उसमें से कुछ सामग्री छूट भी जाती है। कुछ सामग्री, बतानेवाले और सुननेवाले दोनों की आदतों, रुचियों

तथा भावनाओं के अनुसार, बदल भी जाती है। नवीन व्याख्याओं तथा नवीन पुष्टिकरणों की भी सामग्री में प्रविष्टि हो जाती है। प्रत्यास्मरण-शैली भी विभिन्न समाजों में अलग-अलग होती है। किसी जाति के व्यक्ति अपने प्रत्यास्मरणों को बहुत स्पष्टता से तथा औद्वेगिक उत्तेजन के साथ इस ढंग से बतलाते हैं, जैसे सब कुछ उन्हें रटा हुआ हो, और ऐसा करने में बहुत-सी अनावश्यक महत्त्वहीन बातें भी बता जाते हैं। किसी जाति के व्यक्ति अपने प्रत्यास्मरण के अन्दर वस्तुओं, घटनाओं आदि को अव्यवस्थित ढंग से गिनाते चले जाते हैं। किसी अन्य जाति के व्यक्ति अपने प्रत्यास्मरण में छोटी-छोटी बातें छोड़कर उनके सामान्य अर्थों तथा सम्बन्धों का विवरण देते हैं।

व्यक्तिगत, वर्गगत तथा जातिगत अन्तर

समाज-मनोविज्ञान का एक तीसरा क्षेत्र व्यक्तियों तथा जातियों के अन्तरों का अध्ययन है। व्यक्तियों की विशेषताओं तथा उनके बीच व्यक्तिगत अन्तरों का आधार कुछ मात्रा में वंशानुक्रम तथा कुछ मात्रा में परिवेश का प्रभाव है। यह अभी विवाद-ग्रस्त प्रश्न है कि अर्जित गुण भी वंशानुक्रम से अगली पीढ़ियों में पहुँचते हैं कि नहीं, अर्थात् मानव-जीवन के प्राकृतिक स्तर में सुसंतति-शास्त्र के अनुप्रयोग द्वारा उत्कर्ष हो सकता है कि नहीं। बुद्धि अवश्य वंशानुक्रम पर निर्भर प्रतीत होती है, क्योंकि सयुग्मज जुड़वों की बुद्धि-लब्धि में बहुत समानता पायी जाती है। परन्तु कभी-कभी उनमें भी पर्याप्त अन्तर पाये गये हैं, जिससे प्रतीत होता है कि परिवेश का भी प्रभाव पड़ता है। विशेष-तया इससे यह पता चलता है कि बुद्धि-लब्धियों के व्यवसायानुसार अलग-अलग स्तर पाये जाते हैं, जो बहुत कुछ स्कूली शिक्षा की सुविधा तथा परिवार के आर्थिक स्तर के आधार पर बन जाते हैं। इससे बुद्धि के सामूहिक अंतर परिवेशजनित समझे गये हैं। परन्तु एक ही व्यवसाय के व्यक्तियों में भी पाये जाने वाले विस्तृत अंतरों के कारण बुद्धि के व्यक्तिगत अंतर वंशानुक्रम तथा परिवेश दोनों के प्रभावों के मेल से उत्पन्न माने गये हैं। नगरों की जनता तथा देहात की जनता में बुद्धि के अंतर का कारण नगरों के वाता-वरण की श्रेष्ठता को भी माना गया है और अधिक बुद्धि वालों का देहात से नगरों में आ बसना भी।

कुछ ध्यान सामाजिक व्यवहार के लिंग-भेद पर आधारित अंतरों की ओर दिया गया है। पुरुषों और स्त्रियों की शारीरिक रचना के अंतरों के अतिरिक्त उनके विकास की गतिमें अंतर, महिलाओं की द्रुत प्रौढ़ता, उनका प्रजनन कर्म, और उनका मासिक धर्म, यह सब पुरुषों और स्त्रियों के सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण अंतर उत्पन्न करते हैं। इन दैहिक कारणों से उत्पन्न अंतरों के अतिरिक्त पुरुषों और स्त्रियों के बहुत-से मनोवैज्ञानिक मापों

में भी महत्त्वपूर्ण अंतर ज्ञात हुए हैं। बालिकाएँ बालकों की अपेक्षा कम आयु पर बोलने लगती हैं, भाषा के अधिक शब्द जानती हैं, तथा जटिलतर वाक्यों का प्रयोग कर पाती हैं। यह भाषा-श्रेष्ठता जीवन भर बनी रहती है। हकलाना अपेक्षाकृत बालकों में बालिकाओं से अधिक पाया जाता है, संभवतः इसलिए कि बालिकाओं की अपेक्षा बालक, प्रायः ऐसी भाषा अधिक सीखते हैं जिसके उपयोग के विषय में उनके अंदर आन्तरिक संघर्ष हो सकता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में वर्ण-विवेक अधिक तथा वर्णान्धता कम पायी गयी है। पुरुष गति-योग्यताओं तथा यंत्रोपयोग में, देश-परीक्षणों, व्यूहों, रचनात्मक परीक्षणों, यांत्रिक रूझान-परीक्षणों आदि में, और संभवतः संख्या-कार्य-योग्यता में भी श्रेष्ठतर पाये गये हैं। बुद्धि में लगभग १४ वर्ष की आयु तक हीन रहकर बालक अब बालिकाओं के समान हो जाते हैं। निष्पत्ति, स्मरण तथा सामाजिक बुद्धि में बालिकाएँ बालकों की अपेक्षा श्रेष्ठतर निकली हैं। बालिकाओं को सौंदर्यात्मक, सामाजिक तथा धार्मिक मूल्यों में और पुरुषों को आर्थिक, राजनीतिक तथा सैद्धांतिक मूल्यों में श्रेष्ठतर पाया गया है। पुरुषों की सर्वोत्कृष्ट रुचियाँ पराक्रम और साहस के कार्यों में, बाहर के शारीरिक श्रम तथा यंत्रों और संदों अर्थात् औज़ारों में, विज्ञान, भौतिक घटनाओं और आविष्कारों में, तथा व्यापार और वाणिज्य में, तथा स्त्रियों की सर्वोत्कृष्ट रुचियाँ घरेलू कार्यों में, सुन्दर वस्तुओं में, सौंदर्य-विवेक के कामों में, आराम से अन्दर रह कर करनेवाले कामों में, और छोटों, निःसहायों एवं पीड़ितों की सेवा में पायी गयी हैं। पुरुषों में भी पुरुषत्व सबसे अधिक मात्रा में इन्जीनियरों और भवन-निर्माणकर्त्ताओं में और सबसे कम मात्रा में पुलिसमैनों, फायरमैनों, पत्रकारों, कलाकारों और पादरियों में पाया गया है। ऐसे ही स्त्रीत्व स्त्रियों में सर्वाधिक मात्रा में गृह-सेविकाओं में और सबसे कम मात्रा में स्कूलों और कॉलेजों की अध्यापिकाओं में पाया गया है। सलिंगरतिप्रिय पुरुषों के शारीरिक माप सामान्य पुरुषों से ही पाये गये हैं, जिससे अनुमान किया गया है कि सलिंगरतिप्रियता शरीर-विधान नहीं, परिवेशात्मक कारणों से उत्पन्न होती होगी। सलिंगरतिप्रिय व्यक्तियों में भी नीचे रहनेवाले व्यक्ति सामान्य से अधिक स्त्रीत्व-युक्त और ऊपर रहने वाले सामान्य से कुछ अधिक पुरुषत्व से युक्त पाये गये हैं। अपराध पुरुषों में स्त्रियों की अपेक्षा कहीं अधिक पाया गया है, संभवतः इसलिए कि अधिकांश अपराध आक्रामक होता है और आक्रामकता कुछ जैव विधान और समाज-प्रचलित अनुमतियों के अनुसार स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होती है। अधिकांश मानसिक विकार भी पुरुषों में अधिक पाये जाते हैं, संभवतः उनके अधिक व्यावसायिक उत्तरदायित्व और उनकी अधिक विकृतता के कारण। निष्पत्ति, खेल, व्यक्तित्व, क्षिप्ति आदि में पुरुषों और स्त्रियों में बहुत कम अंतर मिले हैं। सत्ता प्रायः पुरुषों के ही हाथ में रही है, स्त्रियों

के हाथ में नहीं। इसका प्रमुख कारण शारीरिक बल ही प्रतीत होता है। परन्तु पुरुषों और स्त्रियों में व्यवसायों का बँटवारा समाज में प्रचलित व्यवस्था तथा संस्कृति पर ही निर्भर प्रतीत होता है, क्योंकि कहीं-न-कहीं, और कभी-न-कभी सभी व्यवसाय सफलतापूर्वक पुरुषों के भी हाथ में रहे हैं और स्त्रियों के भी। यहाँ तक कि सामाजिक संबंधों में आक्रामकता को पुरुषों की स्वाभाविक विशेषता, और स्त्रियों की स्वाभाविक विशेषता दबने को माननेवाले परम्परागत मत के खण्डन करने वाले बहुत से तथ्य, सामाजिक जातियों के अध्ययन से एकत्रित हुए हैं। इनमें से बहुत से तथ्यों के आधार पर यौन सम्बन्धों में भी आक्रामकता स्त्रियों में पायी गयी है और दबना पुरुषों में पाया गया है। परिणामस्वरूप यह प्राकृतिक समझे जाने वाले स्वभावगुण भी बहुत मात्रा में सामाजिक संस्कृति द्वारा निर्धारित सिद्ध होते हैं। फिर भी, जन्तुओं पर किये गये अनेक प्रयोगों से पता चलता है कि देह में स्थित काम-ग्रन्थियाँ स्वभाव का निर्धारण करती हैं। नर काम-ग्रन्थियाँ नर जन्तुओं में से निकाल देने से उनमें स्वयमाग्रह, आक्रामकता एवं समाघात-वृत्ति का लोप हो जाता है। और यह ग्रन्थियाँ मादा जन्तुओं में लगा देने से इनसे सम्बन्धित यह गुण उन मादा जन्तुओं में भी आ जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि इन स्वभाव-गुणों का आधार सम्पूर्णतया सांस्कृतिक नहीं, कुछ अंश में दैहिक अवश्य है। कुछ विद्वानों ने दैहिक विधान में अंतरों के आधार पर यह मत प्रगट किया है कि स्त्रियाँ प्रतिभाशील हो ही नहीं सकतीं और यदि कोई स्त्री प्रतिभाशील निकलती हैं तो उसमें पुरुषत्व का अंश ही प्रधान होगा। परन्तु प्रायः समाज-मनोवैज्ञानिक इस सत्य को भी भ्रमपूर्ण समझते हैं। वे बताते हैं कि बहुत सी प्रतिभाशील स्त्रियाँ हुई हैं। यदि उनकी संख्या कम है तो इसी लिए कि इतिहास में स्त्रियों को अपने अंदर प्रतिभा को विकसित करने के अवसर ही कम मिले हैं। पर्याप्त अवसर, उपयुक्त शिक्षा तथा अनुकूल वातावरण का मिलना या न मिलना ही स्त्रियों में प्रतिभा की अभिव्यक्ति अथवा अनभिव्यक्ति का कारण होगा।

जातिगत अंतरों का प्रश्न भी उठा है। जाति एक वंशानुक्रम तथा समान शरीराकृति के जन-समूह को कहा जाता है। जातियों की त्वचावर्ण, शिरमाप आदि अनेक पहचानें प्रस्तावित हुई हैं। परन्तु प्रत्येक पहचान के अनुसार जातियों का भिन्न वर्गीकरण हो जाता है। और किसी एक पहचान को किसी दुसरी पहचान की अपेक्षा श्रेष्ठ मानने के पक्ष में कोई निश्चित प्रमाण नहीं हैं। कुछ समाज-मनोवैज्ञानिक इससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वास्तव में सम्पूर्ण मानव-जाति एक ही जाति है, अर्थात् जाति-धारणा ही निराधार है। जातिगत शारीरिक अंतरों में विश्वास करने वाले प्रायः इनसे मानसिक अंतर भी सम्बद्ध समझते हैं। परन्तु त्वचावर्ण आदि शारीरिक विशेषताओं का मान-

सिक गुणों से किसी प्रकार का मौलिक सम्बन्ध अभी तक सिद्ध नहीं हुआ है। सिर के आकार अथवा आकृति का भले ही मानसिक गुणों से कुछ सम्बन्ध हो। परन्तु न तो किसी एक जाति के सब व्यक्तियों की सिर की रचना किसी अन्य जाति के सब व्यक्तियों की सिर की रचना से बड़ी अथवा श्रेष्ठ कही जा सकती है, न कोई जाति सामूहिक रूप से सदा के लिए किसी अन्य जाति से संस्कृति अथवा योग्यता में श्रेष्ठ मानी जा सकती है। किसी जाति की योग्यता अथवा संस्कृति-स्तर इतिहास में उठता गिरता रहा है। एक जाति के अंदर विभिन्न वर्गों में भी योग्यता अथवा संस्कृति-स्तर विषय रहा है। एक कठिनाई यह है कि विभिन्न संस्कृतियों अथवा योग्यताओं में श्रेष्ठता-निर्णय के लिए कोई एक कसौटी भी नहीं है। कुछ समय तक मनोवैज्ञानिक मापन करने वालों द्वारा भी कुछ जातियों को कुछ अन्य जातियों से बुद्धि में श्रेष्ठ समझा जाता था। परन्तु अब अधिक विस्तृत अध्ययनों तथा प्राप्त प्रदत्तों की संशोधित विश्लेषण-पद्धतियों के परिणामस्वरूप यह मत प्रायः त्याज्य हो गया है, और योग्यताओं में जातिगत अंतर अवसरों एवं वातावरणों से उत्पन्न समझे जा रहे हैं। योग्यता के जातिगत अंतरों को व्यक्तित्व-गुणों के जातिगत अंतरों पर आधारित समझने का प्रयास भी किया गया है। परन्तु इसमें भी निश्चित सफलता नहीं प्राप्त हुई है। विभिन्न जातियों में विभिन्न प्रकार के इशारों का प्रयोग मिला है, परन्तु किसी जाति में प्रयुक्त इशारे उस जाति में पीढ़ी दर पीढ़ी अपरिवर्तित रहते नहीं पाये गये हैं। अतः उन्हें उस जाति की प्रकृतिक विशेषता नहीं, सामयिक संस्कृति से उत्पन्न ही मानना पड़ता है। मंद व्यवहार-गति चीनी आदि कुछ जातियों की उपापचय-आधारित प्राकृतिक विशेषता समझी गयी है। परन्तु उपापचय भी भोजन, जल-वायु, व्यवसाय आदि परिवेशात्मक परिस्थितियों से प्रभावित होता है। एक ही जाति के विभिन्न परिवेश में रहने वाले व्यक्तियों के उपापचय में अंतर भी होता है। साथ ही उपापचय का व्यवहार-गति से कोई निश्चित वैज्ञानिक सम्बन्ध सिद्ध नहीं हुआ है। व्यापारिक गति पालन तथा शिक्षा पर भी निर्भर होती है। हठ, सुझावग्रहणशीलता, तथा सच्चाई आदि व्यक्तित्व-गुणों में परीक्षणों द्वारा कोई महत्त्वपूर्ण जातिगत परिवेशनिरपेक्ष अंतर प्रगट नहीं हुए हैं। कठिनाई यह है कि व्यक्तित्व-गुणों के अधिकांश परीक्षण संस्कृतिबद्ध होते हैं। औद्वेगिक प्रौढ़ता जैसे, कुछ व्यक्तित्व-गुणों की धारणाएँ भी संस्कृति-बद्ध होती हैं। जातिगत अंतरों से सम्बद्ध एक व्यावहारिक प्रश्न जाति-मिश्रण के लाभालाभ के विषय में है। जाति-मिश्रण से उत्पन्न व्यक्तियों में दैहिक अननुपात की संभावना भी मानी गयी है और बल वृद्धि की संभावना भी। दोनों मान्यताओं की वास्तविकता अभी असिद्ध है। सामाजिक जीवन में मिश्रित जाति व्यक्ति विषमायोजित, सामाजिक सम्बन्धों में अभागे, तथा व्यवसाय में निम्न स्तर पर भी पाये गये हैं, और पूर्णतया स्वस्थ, सुसमायोजित एवं सफल भी। प्रायः

यही निष्कर्ष निकलता है कि इस प्रकार के व्यक्तियों के लक्षण समाज में उनके प्रति मनोभावों पर और उनके माता-पिता के व्यक्तिगत स्वभावों पर निर्भर रहेंगे ।

समाज-मनोवैज्ञानिकों ने राष्ट्रगत अंतरों की ओर विशेषतया अधिक ध्यान दिया है । विभिन्न राष्ट्रों की स्वाभाविक विशेषताओं को ज्ञात करने और समझने का प्रयत्न किया गया है । राष्ट्र-स्वभाव की धारणा में कुछ कठिनाइयाँ एवं आपत्तियाँ हैं । एक ही राष्ट्र के दो व्यक्तियों में अंतर बहुत हो सकते हैं, और दो राष्ट्रों के दो व्यक्तियों में कम । दो राष्ट्रों के दो व्यक्तियों में पाये जाने वाले अंतर, नगर के जीवन के प्रभाव, आर्थिक एवं औद्योगिक विकास-स्तर, शिक्षा-स्तर, धर्म आदि अनक निर्धारकों पर आधारित हो सकते हैं । किसी राष्ट्र का स्वभाव इतिहास में बदल भी सकता है । फिर भी तीन मुख्य प्रकार के राष्ट्र-स्वभावों की खोज होती रही है । एक प्रकार की खोजों में किसी राष्ट्र की सम्पूर्ण जटिल संस्कृति को निष्पक्षता एवं तथ्यात्मकता की दृष्टि से देख कर यह पहचानने का प्रयत्न किया गया है कि उस संस्कृति के ढाँचे ने उसके नयक्तियों को क्या रूप दिया है । राष्ट्र-स्वभाव के अंशों के रूप में व्यक्ति के माता-पिता तथा अधिकारियों के सम्बन्ध, अंतर्वैयक्तिक सम्बन्ध, उसकी बाल्यकालीन शिक्षा, उसकी आक्रामकता की शैलियाँ, उसके प्रबल उद्वेग, उसकी ध्यान की वृत्तियाँ, उसकी सफलता की कसौटियाँ, प्रमुख अध्ययन-विषय हैं । प्रायः सामान्य प्रेक्षण, मनोविश्लेषण, मनश्चिकित्सा-शास्त्र, अथवा व्यवहारवाद का सहारा लिया गया है । उदाहरण के लिए अमेरिकन राष्ट्र-स्वभाव का अध्ययन करने वालों ने उसकी मुख्य विशेषताएँ यह बतायी हैं—अन्यों द्वारा आरम्भ किये हुए युद्ध में, रुक-रुक कर लड़ने वाले प्रतिद्वन्द्वी के साथ, तथा न्यायोचित पक्षकी ओर रहकर, सबसे अच्छा लड़ना, सफलता की ओर प्रोत्साहित रहना, अपने बच्चे को सफलता प्राप्त करके दिखाने पर ही उसे स्नेह प्रदान करना, अधिकारियों के प्रति आदर का अभाव, स्त्रियों का, घर में माता के रूप में, शिक्षालयों में अध्यापिकाओं के रूप में, समाज के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखना, और एक प्रकार स्त्रीप्रधान पराहम् अर्थात् अंतरात्मा का विकास । ऐसे ही जापानियों का राष्ट्र-स्वभाव यह बताया गया है—अपने अंतवैंथक्तिक सम्बन्धों में अपने यथार्थ पद का ध्यान रखना, माता-पिता, बड़ों, महाराजा आदि के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन, अर्थात् ऋणों को चुकाना, शैशव में मल-मूत्र-त्याग की अति शीघ्र कठोर शिक्षा, इस पर आधारित प्रौढ़कालीन आक्रामकता तथा अस्वच्छता की ओर अत्यन्त भय तथा घृणा का भाव, स्वच्छता के लिए, प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक बात को उपयुक्त स्थान पर रखने के लिए, विधियों की प्रत्येक छोटी बात के नियंत्रण और छोटे-छोटे ब्योरों पर ध्यान केन्द्रित रखने के लिए, आंतरिक बाध्यता अनुभव करना । रूसी राष्ट्र-स्वभाव के अध्ययन में माता-पिता द्वारा, शिशु को कसे हुए कपड़े

पहनाना उनके क्रोधप्रधान व्यवहार का कारण कहा गया है। जर्मन राष्ट्र-स्वभाव की खोजों ने उसे संविभ्रमात्मक, संविभ्रमग्रस्त व्यक्तियों को नेता पद देने वाला, तथा बाल्य-काल में पिता के प्रति विश्वास, आदर तथा आज्ञा-पालन सिखलाने गये होने के कारण, सब जर्मनों को एक पारिवारिक सूत्र में संगठित करने वाले परम्परागत राष्ट्रपिता हिटलर के प्रति उन्हीं मनोभावों के लिए प्रस्तुत, बताया गया है।

राष्ट्र-स्वभावों की दूसरी प्रकार की खोज, किसी राष्ट्र के व्यक्तियों में विद्यमान विशेषताओं के विवरण पर केन्द्रित होती है। इसमें प्रायः उस राष्ट्र की सम्पूर्ण जनता का एक प्रतिनिधित्वयुक्त खंड लेकर, जनमत के अध्ययन की विधियों का, अर्थात् विशिष्ट मनोभावों अथवा मतों की आवृत्ति के विषय में निष्कर्ष सम्भव करने वाले परस्पर सम्बद्ध प्रश्नों का, उपयोग किया जाता है। वाक्य-पूर्ति-परीक्षणों, मसि-खंड परीक्षणों आदि प्रक्षेपक व्यक्तित्व-परीक्षा-विधियों से भी काम लिया गया है। मनश्चिकित्सा एवं मनोविश्लेषण में मिलने वाले नमूने पर गहन अन्तर्वार्ताएँ भी की गयी हैं। प्राप्त फलों के कुछ नमूने यह हैं। ईश्वर में विश्वास ९६ प्रतिशत ब्राज़ील निवासियों में, ६६ प्रतिशत फ्रांस निवासियों में पाया गया है। मृत्यु-दण्ड के पक्ष में ६८ प्रतिशत कैनडिया निवासी और २३ प्रतिशत नीदरलैण्ड-निवासी पाये गये हैं। पिता के अधिकार की निरापद स्वीकृति ५० प्रतिशत जर्मनों और ३० प्रतिशत अमरीकनों में पायी गयी है। घृणा जर्मनों में डरपोकों के प्रति, और अंग्रेजों में धमकाने वालों, गुण्डों और महिलाओं के प्रति पायी गयी है। अंग्रेजों की अपेक्षा जर्मनी में अपराध के लिए शारीरिक दण्ड की स्वीकृति, कठोरता एवं परस्परावद्धता की अधिक आवृत्ति मिली है। जर्मनों में तत्परता, पदचिन्ता, प्रत्याशानुसारता तथा अप्रत्याशित परिस्थितियों में अटपटेपन की अभिव्यक्ति भी देखने में आयी है।

राष्ट्र-स्वभाव के तीसरे प्रकार के अध्ययन में सम्पूर्ण राष्ट्र अथवा उसकी जटिल संस्कृति के किसी एक भाग अथवा अंश पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इस प्रकार की कुछ खोजों में किसी राष्ट्र का कोई एक ऐसा समुदाय अथवा नगर चुन लिया जाता है जिसे सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में माना जा सके। तब उसके निवासियों अथवा व्यक्तियों के जीवन के विभिन्न अंगों का अध्ययन किया जाता है। अर्थ-उपार्जन, घर बसाना, बच्चों को शिक्षा देना, अवकाश, खेल, कला, धर्म, सामूहिक कार्य-क्रम आदि ऐसे अध्ययन के मुख्य विषय होते हैं। कुछ खोजों में राष्ट्र के चलचित्रों, नाटकों आदि सांस्कृतिक रचनाओं में से अधिकारियों के प्रति आदर, पुरुष-स्त्री-सम्बन्ध पारिवारिक पृष्ठ-भूमि, वैयक्तिक एवं सामाजिक नीति, स्त्रियों का स्थान, आदि संस्कृति के किसी एक अंश का स्वरूपात्मक अथवा परिमाणात्मक सामग्री-विश्लेषण किया जाता है। उपयुक्त तीनों प्रकार की खोजों से निष्कर्ष लगभग एक से निकले हैं। परन्तु समाज-मनोवैज्ञानिकों

का ध्यान मुख्यतः इनकी विविध अनुसन्धान-विधियों के मूल्यांकन पर रहा है। प्रत्येक विधि में कुछ-कुछ कमी, दोष अथवा सीमाएँ हैं। अतः अब समाज-मनोवैज्ञानिक प्रायः इनके सम्मिलित उपयोग के पक्ष में होते जा रहे हैं।

संस्कृति तथा व्यक्तित्व

समाज-मनोविज्ञान का चौथा विषय है संस्कृति तथा व्यक्तित्व का सम्बन्ध। इसके अन्तर्गत व्यक्ति के सामाजीकरण की प्रक्रिया का अध्ययन होता है। कुछ समाज-मनोवैज्ञानिकों के अनुसार समाज-मनोविज्ञान सामाजिक समायोजन का ही अध्ययन है और इनमें से कुछ इसे सामाजिक समायोजन के एक अंग सामाजीकरण के क्षेत्र के अन्दर ही सीमित रखते हैं। उनके अनुसार समाज मनोविज्ञान उन प्रक्रियाओं का अध्ययन है जिनके द्वारा मानव प्राणी सामाजिक अनुभव से वह व्यवहार विशेषताएँ प्राप्त करता है जो उसे सामाजीकृत मानव बनाती हैं। वे इस बात का अनुरोध करते हैं कि समाज मनोविज्ञान में केवल अन्तर्वैयक्तिक समायोजन का अध्ययन किया जाय, समायोजन-विधियों के विकास के सामाजिक उद्गम के पहिचानने का प्रयत्न किया जाय, और मानवों के सामाजिक व्यवहार की शैली में परिवर्तन लाने की विधियाँ ज्ञात की जायँ।

व्यक्ति का व्यक्तित्व कुछ बातों में अन्य सब व्यक्तियों के समान होता है, कुछ बातों में कुछ व्यक्तियों के समान होता है, और बहुत ही कम बातों में किसी के समान नहीं होता। अतः मानव व्यक्तित्व के सामाजिक अंशों और निर्धारकों का महत्त्व समझना आवश्यक है। व्यतित्व के जैविक अर्थात् दैहिक आधार तो हैं ही। परन्तु इनमें भी कम से कम कुछ की उत्पत्ति व्यक्ति के जन्मपूर्व परिवेश से सम्भव है। जन्मोपरान्त, बाल्यकाल में प्रधानतया सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश से प्राप्त अनुभव तथा शिक्षा का, व्यक्तित्व के प्रौढ़ रूप के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ है। जीवन के प्रथम तीन वर्ष के अन्दर ही उसके व्यक्तित्व में इतना परिवर्तन हो जाता है कि शांत स्वभाव, अशांत गतिशीलता, मुस्काना-वृत्ति आदि व्यक्तित्व-गुणों में नवजात और तीन वर्ष तक के बच्चों में बहुत कम सहसम्बन्ध पाया गया है। कुछ प्रयोगों ने दर्शाया है कि परिस्थितियों में निमंत्रित परिवर्तनों द्वारा व्यक्तित्व के विशिष्ट गुणों को घटाया-बढ़ाया जा सकता है। व्यक्ति के बचपन में शीघ्र ही मा का दूध छुड़ाये जाने से उसमें जीवन के प्रति निराशावादी भाव, परिवेश से खिचने की वृत्ति, अरक्षा भाव आदि की अधिक संभावना हो जाती है। बच्चों के शिशुपालनगृहों में रखे जाने से, पर्याप्त भौतिक सुविधाओं और सावधानियों के रहते हुए भी, उनकी औद्वेगिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पर्याप्त पूर्ति के अभाव के कारण, उनमें प्रायः मानसिक एवं शारीरिक अपकर्ष, अवसाद प्राधान्य तथा व्यक्तित्व विकास में चिरस्थायी हानि के लक्षण मिलते हैं। कुछ जातियों में बचपन में ही दूसरों

पर कृपा रखने और उनको देते रहने का अभ्यास कराया जाता है। परिणामस्वरूप उन जातियों के प्रौढ़ व्यक्तियों में भी दयालुता का आधिक्य और प्रतियोगिता का अभाव देखने को मिलता है। परन्तु वास्तव में ऐसी परिस्थितियों में यह निश्चित रूप से कहना बहुत कठिन होता है कि इसका क्या कारण और परिणाम है। सम्भवतः वास्तविकता चक्रीय है। बाल-प्रशिक्षण के विभिन्न व्यावहारिक रूप व्यक्तित्व तथा संस्कृति के परिणाम भी होते हैं और जन्मदाता अर्थात् कारण भी। व्यक्तित्व तथा संस्कृति की इस अन्तःक्रिया के अध्ययन के लिए जीवन-चरित्रों को आधार बनाना अति उपयोगी पाया गया है। इसलिए समाज-मनोवैज्ञानिकों ने अनुरोध किया है कि जीवन-वृत्तान्तों को अधिक वैज्ञानिक ढंग से लिखा जाय। विशेषतया जीवन-चरित्र के नायक को उसकी जाति की संस्कृति के एक नमूने के रूप में देखना चाहिए। उसके कार्यों के पीछे सामाजिक महत्त्व-वाले देहाधारित उत्प्रेरकों की ओर, उनकी कार्य-प्रणाली की ओर, विशेष ध्यान देना चाहिए। संस्कृति को उस तक पहुँचाने में परिवार का मुख्य हाथ होना चाहिए। बचपन से प्रौढ़ता तक के अनुभवों में अखण्ड तारतम्य दर्शाना चाहिए। सामाजिक परिस्थितियों द्वारा नायक के व्यवहार का निर्धारण अध्ययन का मुख्य विषय होना चाहिए। जीवन-वृत्तान्त-घटनाओं की सूची मात्र न होकर किसी प्रत्यय-तंत्र अथवा सिद्धान्त का पोषक होना चाहिए। इन अनुरोधों की स्वीकार्यता के विषय में कुछ विवाद भी है।

व्यक्तित्व तथा संस्कृति के सम्बन्ध का अध्ययन करने में यह प्रतीत हुआ है कि संस्कृति का व्यक्तियों से अलग अन्य कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है और यह भी कि व्यक्ति संस्कृति के प्रभाव से ही बनता है। इस परस्पर तंत्रता के सम्बन्ध का स्वरूप कभी व्यक्तित्व-प्रकारों की धारणा और कभी पद और कार्य की धारणाओं के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। व्यक्तित्व-प्रकारों की धारणा पर आधारित सिद्धान्त अनुभवसिद्ध संस्कृति-वैषम्य तथा व्यक्ति-वैषम्य को परस्पर सम्बद्ध देखता है। स्वच्छंद तथा संयमित जीवन-पद्धतियों में, मनुष्यों के अंतर्मुखी तथा बहिर्मुखी व्यक्तियों में, मौखिक आशावादियों, मौखिक निराशावादियों, तथा गुदीय चरित्र वालों में, और परम्परानिर्देशित तथा बाह्यपरिवेश-निर्देशित समाजों में, प्रकारात्मक अंतर माने गये हैं। परन्तु इन प्रकारात्मक वर्गीकरणों की कड़ी आलोचना हुई है। किसी एक व्यक्ति अथवा किसी एक संस्कृति को निश्चित रूप से, पूर्णतया तथा केवल किसी एक प्रकार के अन्तर्गत रखने में आपत्ति हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक संस्कृति को विलक्षण कहा जा सकता है। अतः आज अधिकांश समाजमनोवैज्ञानिक प्रत्येक व्यक्ति को समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा संस्कृति से, अपनी आयु, अपने लिंग, अपने वर्ग आदि के अनुसार, एक पद तथा उस पद के अनुसार कार्यभार प्राप्त करता हुआ देखते हैं, और उसके मनोभावों एवं व्यवहारों को इस पद तथा

उसके कार्यभार द्वारा निर्धारित मानते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार कोई भी समाज एक पदतंत्र कहा जा सकता है। किसी पद के अनुसार कार्यभार मनोभावों, मूल्यों तथा व्यवहारों का वह सांस्कृतिक ढाँचा है, जो समाज की दृष्टि में इस पद पर आरूढ़ प्रत्येक व्यक्ति से प्रत्याशित तथा वांछित है, और इस कारण, परिस्थितियों को देखते हुए, उसके लिए उपयुक्त प्रतीत होता है। किसी पद से विभिन्न संस्कृतियों में विभिन्न कार्यभार सम्बद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ, किसी जाति में, बचपन में व्यक्ति से शारीरिक कौशल-प्राप्ति की आशा की जाती है परन्तु सामाजिक संयम की नहीं, और किसी जाति में जीवन के प्रथम पाठ सामाजिकता के ही होते हैं। ऐसे ही, किशोरों की अवस्था किसी संस्कृति में व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक जीवन में तूफान एवं संकट की अवस्था समझी जाती है। उन्हें अपनी स्वाधीनता के लिए संघर्ष करना पड़ता है। कोई निश्चित निर्देशदायक व्यवहार नियम नहीं होते। कम-से-कम समवयस्कों और बड़ों, दो वर्गों के द्वारा प्रतिपादित विभिन्न एवं बहुधा विरोधी सामाजिक व्यवहार-मानों को संतुष्ट करने की चिंता रहती है। वह निश्चय नहीं कर पाते कि बच्चों का सा व्यवहार करें कि बड़ों का सा। प्रवृत्ति उन्हें काम-संतुष्टि के योग्य कर देती है, परन्तु समाज उन्हें इसका अवसर नहीं देता। इसके विपरीत किसी संस्कृति में किशोरों के लिए न कोई तूफान होता है न संकट। आयु के आधार पर उन्हें विशिष्ट अधिकारों तथा सुविधाओं की प्राप्ति हो जाती है। समाज उन्हें तत्काल अथवा निश्चित अवधि के उपरान्त नवप्रौढ़ कामवृत्तियों की संतुष्टि के सामयिक अस्थिर अवसर देता रहता है। किसी अन्य संस्कृति में किशोरा-वस्था आने पर व्यक्तियों को परम्परा के अनुसार विशेष गृहों, संस्थाओं, परीक्षाओं, रीतियों, शृंगारों आदि अनेक परिस्थितियों को अपनाना पड़ता है, जो उनके लिए कठिन तपश्चर्या अथवा परीक्षा रूप सिद्ध होती है। इसी प्रकार स्त्रियों एवं पुरुषों के लैंगिक पदों, आर्थिक अथवा सामाजिक वर्गों के पदों, आदि के साथ विभिन्न समाजों अर्थात् संस्कृतियों में अलग-अलग कार्यभार सम्बद्ध हुआ करते हैं। साथ ही समाज के अंदर किसी व्यक्ति का पद, उसके बाह्य तथ्यात्मक स्थान पर भी निर्भर हो सकता है और उसके द्वारा अपने मन में किसी विशिष्ट वर्ग को मानाधार अर्थात् मानक मानकर उससे अपनी तुलना पर भी आधारित हो सकता है। जैसे भी हो, अर्वाचीन समाजमनोविज्ञान ने इन पदों और उनसे सम्बद्ध कार्यभारों को बहुत महत्त्व दिया है।

व्यक्ति पर अन्य व्यक्तियों तथा समूहों का प्रभाव

समाज-मनोविज्ञान की एक मूल समस्या सामाजिक अंतःक्रिया को समझना है। सामाजिक अंतःक्रिया के अंतर्गत कई विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाओं का अध्ययन किया

जाता है। सर्वप्रथम व्यक्ति के व्यवहार पर समूह अर्थात् अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति के प्रभाव की प्रक्रियाएँ हैं। भीड़ मनोवृत्ति ने बहुत समय से ध्यान आकर्षित किया है। आमने-सामने एकत्रित हुए संगठित एवं सहयोगशील अपेक्षाकृत स्थिर लघु समूहों के बहुत अध्ययन हुए हैं। पर्याप्त समय तक एक साथ न सही, परन्तु परस्पर संसूचनशील, प्रभावशील, एवं अंतःक्रियाशील व्यक्तियों को भी वास्तविक समूह मानकर इनके भी अध्ययन हुए हैं। इन सभी प्रकार के समूह प्राकृतिक अर्थात् स्वतः निर्मित भी हो सकते हैं और किसी प्रयोगकर्त्ता द्वारा कृत्रिम रूप से बनाये हुए भी। दोनों प्रकार के समूहों के अध्ययन का अपना-अपना महत्त्व स्वीकार किया गया है।

व्यक्ति पर परिवेश के अन्य व्यक्तियों का एक प्रभाव यह होता है कि वह उनके व्यवहार का स्पष्ट एवं तत्काल अनुकरण करने लगता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने अनुसरण को मूल प्राकृतिक प्रवृत्ति माना है। परन्तु अनेक मनोवैज्ञानिकों ने इसके विरुद्ध यह आपत्ति की है कि अनुकरणव्यवहार की कोई विशेष आकृति नहीं होती। साथ ही अनुकरण का स्वायत्त स्थान भी इसलिए नहीं माना गया है कि अनुकरण प्रायः किसी वांछित पदार्थ, सफलता, अथवा जीवन-शैली की प्राप्ति के लिए किया जाता है, और इसलिए विवेकाधारित प्रतीत होता है। अनुकरण से मिलती-जुलती सुझावग्रहण अर्थात् बाहर से उपस्थापित किसी विचार को बिना तर्क स्वीकार कर लेने की प्रक्रिया है। अन्य व्यक्तियों अथवा समूहों का किसी व्यक्ति के व्यवहार पर प्रभाव बहुधा प्रतिष्ठा-सुझावन के द्वारा होता है, अर्थात् व्यक्ति, जो कुछ कहा जाता है उसकी उपयुक्तता-अनुपयुक्तता समझे बिना, उस पर विश्वास करने लगता है या वही करने लगता है। जादू के खेल, सम्मोहन, प्रचार, जनमत, न्यायालयों में नायक प्रश्नों का उपयोग, साधारण अथवा प्रायौगिक जाग्रत सुझावन, किसी विशेष क्षेत्र के विशेषज्ञों की अन्य क्षेत्र-सम्बन्धी बातों का भी आदर बहुसंख्यकों का प्रभाव, प्रचलित निषेधों, शपथों तथा प्रायश्चित्तों के महत्त्व में विश्वास, भूत-प्रेत में विश्वास आदि सबका आधार प्रायः इस प्रकार के प्रतिष्ठा सुझावों का ग्रहण होता है। अधिकांश स्वयंसुझावन भी अन्य उद्गमों से प्राप्त विचारों को अपनानेवाले होते हैं।

भीड़-व्यवहार व्यक्ति के ऊपर अन्य व्यक्तियों अथवा समूहों के प्रभाव का वह रूप है, जिसके विषय में सबसे अधिक विवाद रहा है। एक मत यह है कि भीड़ का व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न विलक्षण स्वरूप होता है। उसके व्यवहार में अजेय शक्ति-भावना, अनुकरणरूपी छूत, बढ़ी हुई सुझाव ग्रहणशीलता तथा व्यावहारिक मनोविकृति सी आ जाती है। दूसरी ओर यह मत है कि भीड़ में होने पर व्यक्तियों में कोई विशेष वास्तविक प्रकारात्मक अंतर नहीं हो जाता। उनके व्यक्तिगत गुण ही कुछ अधिक मात्रा में,

कुछ अधिक सरलता से, व्यक्त होने लगते हैं। विरोधी मत वालों को जो विलक्षणता प्रतीत होती है, वह इसलिए कि भीड़ों में प्रायः जाते ही पुरुष हैं, वह भी कम आयु के, अधिक बहिर्मुखी एवं कम धार्मिक। एक मध्यम मत भी है। इसके अनुसार समूह में आने पर व्यक्ति में अधिक परिवर्तन होता है। भावुकता बढ़ जाती है, अंतर्निरोध घट जाते हैं। जो भी विचार प्रचलित हो जाता है, स्वीकार होने लगता है। बाह्य परिस्थिति अर्थात् सामाजिक क्षेत्र के प्रभाव से व्यक्ति के गुणों तथा व्यवहारों में अंतर होने लगता है। वह दूसरों को विशेषतया प्रभावित करने तथा उनसे प्रभावित होने लगता है। सम्पूर्ण समूह में व्यक्तियों से भिन्न कुछ अपना अलग स्वरूप उत्पन्न हो जाता है। परन्तु भीड़ में आने पर व्यक्तियों का अपना-अपना व्यक्तित्व स्वरक्षित रहता है। वे अपनी-अपनी पृष्ठभूमि, अपनी-अपनी जाति, वर्ग आदि की शैली, अपनी-अपनी परम्परा को लिये रहते हैं और प्रायः इनके विपरीत व्यवहार नहीं करते। भीड़ से किन-किन बातों में, किन-किन मात्राओं में, कौन-कौन व्यक्ति प्रभावित होते हैं, यह स्वयं उन व्यक्तियों की पूर्वोपस्थित विशेषताओं पर निर्भर होता है। उदाहरण के लिए, सुझावग्रहणशील, किंकर्त्तव्यविमूढ़, भविष्य के विषय में अनिश्चित, सामाजिक अथवा आर्थिक अरक्षा, संघर्ष अथवा युद्ध के विषय में चिंतित, व्यक्ति पर भीड़ों का प्रभाव अधिक पड़ता है। धार्मिक युद्ध, धार्मिक पुनर्जागरण, सामूहिक तीर्थ यात्राएँ, सामूहिक आत्मताड़न, भूत-प्रेत, भय, शुभ चिह्न-चिंता, फैशन आदि सामूहिकता-प्रधान प्रक्रियाएँ भी ऐसे ही व्यक्तियों में अधिक होती हैं।

कुछ समाज-मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्ति पर समूह के सरलीकरण रूपी प्रभाव को विशेष महत्त्व दिया है। सामाजिक परिस्थितियों में कष्ट सहने की शक्ति बढ़ जाती है। अधिक बल प्रकट होता है और श्रेष्ठ कार्यकर्त्ताओं को छोड़कर अन्य में कार्य की यथार्थता नहीं, परन्तु गति बढ़ जाती है। निर्णयों में मध्यवृत्ति आ जाती है, और समूहानुरूपता प्रबल हो जाती है। अन्य समाज-मनोवैज्ञानिकों ने इन लक्षणों को समूह की उपस्थिति का नहीं व्यक्तियों में प्रतियोगिता भावों की विद्यमानता का तथा समाज में प्रचलित एवं प्रतिपादित मूल्यों का परिणाम माना है। इस मान्यता के पक्ष में उन्होंने बताया है कि भिन्न मूल्यों को माननेवाली जातियों में सामाजिक सरलीकरण की मात्रा भी भिन्न होती है। जिन संस्कृतियों में सामाजिक सरलीकरण पाया जाता है उनके विपरीत संस्कृतियों में सरलीकरण अथवा वृद्धि के बजाय ह्रास भी देखने में आता है। विशिष्ट परिस्थितियों में, विशिष्ट व्यक्तियों के साथ, तथा किसी परिस्थिति के विशिष्ट प्रतिकूल अर्थ लिये जाने पर भी ऐसा ही होता है।

समूहों में व्यक्ति के अन्दर अनुसरण-वृत्ति भी देखी गयी है। सामूहिक मान बन

जाते हैं। इन मानों के अनुसार व्यक्तियों के राजनैतिक, आर्थिक, अंतर्जातीय, एवं अन्य सामाजिक मनोभावों में, यहाँ तक कि कार्यगति में भी परिवर्तन होते पाये गये हैं। इस समूहानुसरण की मात्रा में व्यक्तिगत अंतर भी होते हैं। इसके कई कारण होते हैं—व्यक्तियों की अपनी-अपनी विशेषताएँ समूह का विभिन्न व्यक्तियोंपर भिन्न-भिन्न मात्रा में दबाव डालना, अलग-अलग व्यक्तियों का समूह के दबाव को अलग-अलग महत्त्व देना, व्यक्तियों को समूह के दबाव का अलग-अलग मात्रा में ज्ञान होना, समूह की ओर व्यक्तियों का अलग-अलग मात्रा में झुकाव और लगाव आदि। अननुसरण तो कोई भी व्यक्ति करता है। वह भी किसी एकाध बात में और केवल कभी-कभी। कारण यह कि समूह के पास सत्ता भी होती है और प्रतिष्ठा भी। प्राय: व्यक्ति सर्वाधिक मात्रा में अपने ही समूह में प्रचलित रीतियों से परिचित होता है, और अननुसरण द्वारा समूह से प्राप्त सुविधाओं और अधिकारों से वंचित कर दिये जाने का अथवा किसी प्रकार दंडित होने का डर रहता है।

सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्ति अन्य व्यक्तियों का वरण भी करते हैं। कुछ समय से समाज मनोविज्ञान के अंतर्गत इन वरण-क्रियाओं पर केन्द्रित एक समाजमिति-शाखा का निर्माण और विकास हो रहा है। अंतर्वैयक्तिक वरणों के आधार पर समूह-लेखाचित्र बनाये जाते हैं। इनकी सहायता से प्रत्येक व्यक्ति को उपयुक्त समूह में, उपयुक्त स्थान पर पहुँचाकर परस्पर संघर्ष की भावनाएँ घटाने, मेल स्थापित करने, और साहस तथा आत्मविश्वास बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। इसके लिये मनो-नाट्य अर्थात् वैयक्तिक औद्वेगिक मनोभावों, समस्याओं और संघर्षों की अभिव्यक्ति का अवसर देनेवाले मुक्त अभिनय कराने की और व्यक्ति से उसके विरोधी पक्ष का अभिनय कराने की पद्धतियों का निर्माण एवं विकास किया गया है।

इसी प्रकार समाज-मनोविज्ञान की एक अन्य नवविकसित शाखा, समूह,-गति-विज्ञान है। इसमें समूह के विशिष्ट कार्यों अथवा उद्देश्यों से स्वतंत्र समूह-व्यवहार-नियम ज्ञात करने का प्रयत्न किया जाता है। उदाहरण के लिए, समूहों की उत्पादकता, समूहों के बीच मित्रता अथवा विरोध के निर्धारक, समूहक्रिया, समूहनेतृत्व, सामूहिक निर्णय, समूह के व्यक्तियों में अंत:क्रिया तथा समूह में लक्ष्य की ओर प्रगति, संसक्ति एवं संसूचन, समाजमिति प्रमुख विषय रहे हैं। प्रयोगों द्वारा देखा गया है कि सामूहिक विचार-विमर्श एवं निर्णय व्यक्ति के व्यवहार पर समूह के प्रभाव को और समूह से उसके लगाव को बढ़ाता है। समूह में लोकतांत्रिक विधियाँ अपनाने से समूह की उत्पादकता बढ़ती है और सुधार के प्रति कम प्रतिरोध होता है। समूह में अन्त:क्रियाओं के अध्ययन में अध्ययन-विधि के निर्माण पर ध्यान केन्द्रित रहा है। समाजमिति एक विधि है। एक अन्य विधि

को अन्तःक्रिया विश्लेषण कहा जाता है। इसमें व्यक्तियों के व्यवहार को बारह प्रकारों में वर्गीकृत किया जाता है—जैसे एकता-सूचक व्यवहार, तनाव-निस्तारसूचक व्यवहार, तनावसूचक व्यवहार, विरोधसूचक व्यवहार आदि। व्यक्तियों में अनुलोम अथवा विलोम मनोभाव की प्रधानता, अंतःक्रिया के ढाँचों की स्थिरता, व्यक्तियों द्वारा सामूहिक कार्यक्रमों में भाग लेने की मात्रा, आदि के विषय में विभिन्न समूहों की तुलना की जाती है। एक तीसरी विधि समूह के व्यक्तियों के अलग-अलग कार्यभारों पर ध्यान केन्द्रित रखते हुए उन्हें तीन प्रकारों में वर्गीकृत करती है: (१) नवीन विचार, काम अथवा सुलझाव सुझानेवाले प्राथमिक योगदाता, स्पष्टीकरण अथवा अतिरिक्त तथ्य चाहनेवाले परिज्ञानार्थी, आदि समूह के प्रयासों को समन्वित अथवा सरल बनानेवाले, (२) प्रोत्साहक, एकस्वरकारक, अनुगामी आदि समूह-निर्माता एवं रक्षक, तथा (३) आक्रामक, मानाभिलाषी, नट आदि व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्त्ति करनेवाले। समूह-संचलन के अध्ययनों में अधिकतम आत्मकेन्द्रित आवश्यकताओंवाले समूह-सभाओं से, उनमें किये गये निर्णयों से, निर्णयों पर पहुँचने की विधियों से, तथा सभापति द्वारा सभा-संचालन से न्यूनतम मात्रा में संतुष्ट, कम काम करनेवाले, तथा अधिक संघर्षशील पाये गये हैं। एकता अर्थात् व्यक्तियों में अपने समूह के प्रति आकर्षण, उन समूहों में अधिक पाया जाता है, जो महत्त्वपूर्ण व्यक्तिगत लक्ष्यों की प्राप्ति संभव करने में सहायता करते हैं, व्यक्तियों को आकर्षक प्रतीत होनेवाले कार्यक्रमों में लगते हैं, अथवा परस्पर वैयक्तिक संबन्ध द्वारा पूर्ण होनेवाली वैयक्तिक आवश्यकताओं की संतुष्टि में सहायता करते हैं। घरों का पास-पास होना अथवा एक-दूसरे की ओर मुँह किये होना भौगोलिक मात्र होते हुए भी अधिक मैत्रियाँ उत्पन्न करता है और मनोभावों में एकता लाता है। किसी समूह में संसूचन व्यक्तियों में समानता तथा एकता का परिणाम पाया गया है।

समूह व्यक्तियों को प्रायः अपने नेताओं द्वारा प्रभावित करते हैं। अतः समाज-मनोविज्ञान में नेताओं की सामान्य विशेषताओं को जान लेने का बहुत प्रयत्न हुआ है। परन्तु ऐसे व्यक्तित्व-गुण जान लेना संभव नहीं हुआ है, जो सभी नेताओं में होते हों अथवा समझे जाते हों। फिर भी, नेतृत्व के विभिन्न परिस्थितिगत व्यवहार के प्रेक्षणों, अंतर्वार्ताओं, पूर्वानुभवों आदि के आधार पर किये गये आँकनों में सहसम्बन्ध अनुलोम तथा उच्च ही पाये गये हैं, जिससे सामान्य नेतृत्व-गुण के अस्तित्व का संकेत मिलता है। कुछ व्यक्ति अनेक विभिन्न परिस्थितियों में नेता निकलते हैं, कुछ बहुत कम परिस्थितियों में, और कुछ केवल विशिष्ट परिस्थितियों में। विभिन्न प्रकार के नेताओं तथा सामाजिक संगठनों का व्यक्तियों के व्यवहार पर प्रभाव प्रयोग

का विषय बन गया है। एकाधिपत्यवादी नेताओं की अपेक्षा अहस्तक्षेपवादी नेता, और इनकी भी अपेक्षा लोकतांत्रिक नेता, अधिक प्रिय, सफल एवं श्रेष्ठ सिद्ध हुए हैं। कुछ समाज-मनोवैज्ञानिकों ने विलक्षण प्रतिभाशाली नेताओं पर ध्यान केन्द्रित किया है। एकमत प्रतिभाशाली व्यक्तियों को साधारण मध्यम व्यक्तियों से केवल गुण-मात्राओं में ही भिन्न और उनके असामान्य वितरण वक्र के ऊपरी सिरे पर स्थित मानता है। कुछ मनोवैज्ञानिक उन्हें मौलिक प्रकार से भिन्न, क्षिप्त अथवा विक्षिप्त मानते हैं। इन मनोवैज्ञानिकों को प्रतिभाशाली व्यक्तियों में मनोविकार, उद्वेगों को प्रबल बनाकर, सूक्ष्म विषयों की ओर प्रतिक्रियाशीलता बढ़ाकर, अति कष्ट तथा हीनताभावों के द्वारा क्षति-पूर्त्ति की प्रेरणाएँ जगाकर, तथा कल्पनामग्नता को प्रोत्साहन देकर, व्यक्ति को प्रतिभा की अभिव्यक्ति की ओर ले जाता प्रतीत होता है। मनोविश्लेषकों ने प्रतिभाशाली महात्माओं के व्यक्तिगत जीवन-चरित अथवा उनकी विशिष्ट रचनाओं के विश्लेषण द्वारा प्रतिभाशालिता को कभी मौलिक कला योग्यता पर, कभी एडिपस भावग्रंथि पर, कभी विशिष्ट अवचेतन शक्तियों के वश में हो जाने पर, कभी व्यावहारिक असफलता अथवा असंतुष्टि पर, और कभी दैहिक हीनता की क्षति-पूर्त्ति पर, आधारित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। परन्तु अन्य मनोवैज्ञानिक इस प्रकार की व्याख्याओं से असंतुष्ट रहे हैं और आपत्ति में यह प्रश्न करते रहे हैं कि प्रत्येक मनोरोगी, हीन, असफल, अथवा असंतुष्ट व्यक्ति प्रतिभाशाली क्यों नहीं सिद्ध होता। मनोवैज्ञानिक कुछ नेतृत्व की उत्पत्ति में नेता द्वारा जनता की आशाओं, निराशाओं, आकांक्षाओं एवं वृत्तियों की अभिव्यक्ति अथवा पूर्त्ति को, जनता में अनुगमन के लिए किसी को नेता रूप में स्वीकार करके उसे सम्बद्ध हो जाने की मानसिक आवश्यकताओं को, तथा इस प्रकार उस पर डाले गये कार्य भार एवं सम्बन्ध-भार को विशेष महत्त्व देते हैं।

समूहों के व्यक्तियों पर एक अन्य प्रकार के प्रभाव की ओर भी ध्यान आकर्षित हुआ है। कुछ समूह अपने सदस्यों ही नहीं, अन्य समूहों के सदस्यों के व्यवहारों एवं मनोभावों के लिए भी ढाँचों, मानों अथवा कसौटियों का काम देते हैं। इन्हें मानक-समूह कहा जा सकता है। यह वह समूह होते हैं, जिनके सदस्य होने की व्यक्तियों को आकांक्षा रहती है अथवा जिनकी तुलना में अधिकांश व्यक्ति अपनी या अपने समूहों की सफलता अथवा श्रेष्ठता का अनुमान किया करते हैं। यह प्राय: किसी-न-किसी प्रकार सफलता, प्रतिष्ठा, अथवा ख्यातिप्राप्त समह होते हैं। परन्तु यह समूह ऐसे भी हो सकते हैं जो अब कहीं न हों, कभी कहीं न रहे हों, अथवा वास्तव में माने हुए गुणों से सम्पन्न न हों, अर्थात् किसी भी अर्थ में काल्पनिक हों। कुछ विलोम मानक समूह भी होते हैं। यह वह समूह होते हैं, जिनसे व्यक्ति दूर रहना चाहते हैं, जिनकी करनी कथनी को विपरीत रखना चाहते हैं।

सामाजिक मनोभाव तथा जनमत

समाजिक मनोविज्ञान का एक क्षेत्र मनोभावों एवं जनमतों का अध्ययन है। अनेक विद्वानों ने मनोभावों के अध्ययन को समाज-मनोविज्ञान की एकमात्र मूल अथवा मुख्य समस्या माना है। इसके अन्तर्गत जनमत, प्रचार, समूहों में विरोध, आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता, धार्मिक विश्वास आदि विषय भी हैं। मनोभाव किसी मूल्य अथवा मूल्यवान् समझे जानेवाले विषय के प्रति मानसिक अथवा शारीरिक प्रतिक्रिया के लिए प्रस्तुत रहने की अवस्था को कहा जाता है। इसके जैव अर्थात् दैहिक आनुवंशिक आधारों के कुछ अध्ययन हुए हैं। परन्तु मनोभावों के, समान अनुभवों के सँचय से, उनके अन्य विषयों के अनुभवों से अलग वर्गीकरण से, विशिष्ट प्रभावोत्पादक अनुभवों से, माता-पिता, अध्यापकों, साथियों आदि के अनुकरण से, अथवा पारिवारिक सम्बन्धों के मानसिक प्रतिबिम्बों के अनुप्रयोग से, निर्माण की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

जनमतों के अध्ययन में स्थिर धारणाओं का सब से अधिक महत्त्व रहा है। यह व्यक्तियों, वर्गों,जातियों आदि किसी विषय के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रमाण बिना ही बनकर संगृहीत, स्थिर रहनेवाले और वर्तमान प्रत्यक्षानुभव से अप्रभावित, मानसिक चित्र होते हैं। इनमें कुछ सत्यांश होना भी आवश्यक है कि नहीं, विवाद का प्रश्न रहा है। इतना अवश्य है कि यह धारणाएँ प्रायः उतना प्रत्यक्षानुभव पर आधारित नहीं होतीं, जितनी किंवदन्तियों, उपन्यासों, चलचित्रों आदि पर। समय के साथ यह धारणाएँ, फीकी पड़ जाती हैं, और कभी-कभी स्पष्टतर भी हो जाती है। जबतक रहती हैं, यह व्यक्तियों के प्रत्यानुभव तथा स्मरण दोनों पर अपना प्रभाव डालती रहती हैं,और अंतर्जातीय सम्बन्धों के सुधार में प्रायः रुकावटें ही डालती रहती हैं।

समाज-मनोवैज्ञानिकों ने मनोभावों तथा जनमतों के मापन की विधियों के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया है। मनोभावों के मापन के लिए उनके अनेक आयाम प्रस्तावित किये गये हैं, जिनमें मुख्य पाँच हैं, —

(१) दिशा, अर्थात् पक्ष-विपक्ष,

(२) विस्तार, अर्थात् विषय को कितनी परिस्थितियों में अथवा उसके कितने अंगों को इस भाव से देखा जाता है,

(३) तीव्रता, जैसे कम विरोध एवं अधिक विरोध,

(४) संगति, अर्थात् किसी एक व्यक्ति अथवा वर्ग के स्वयं किसी बात के समर्थन अथवा विरोध करने पर उसमें अन्य व्यक्तियों अथवा वर्गों के वैसे ही मनोभाव पर अनापत्ति।

(५) साहस, अर्थात् अपने मनोभाव को सरलता एवं शीघ्रता से व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत रहना। किसी व्यक्ति के किसी विषय के प्रति मनोभावों के सापेक्ष मापन के लिए और उनमें उसकी अन्य व्यक्तियोंसे तुलना करने के लिए अनेक प्रकार के मनोभाव मापदंडों का और उनके निर्माण की विधियों का विकास किया गया है। इनमें मुख्य प्रागनुभव मापदंड, मनोभौतिकीय मापदण्ड, तथा मनोभाव-तीव्रता-मापदण्ड हैं। उपर्युक्त साँख्यिकीय विधियों से इन मापदण्डों में पर्याप्त विश्वतता लायी जासकती है। परन्तु उनमें पर्याप्त प्रामाण्यता निश्चित रूप से लाने की कोई विधि संभव नहीं प्रतीत होती, क्योंकि व्यक्ति अपने भावों के विषय में सच्ची-झूठी जो चाहे शाब्दिक प्रतिक्रिया कर सकता है। यही नहीं, झूठी क्रियात्मक प्रतिक्रिया भी संभव है।

जनमत के मापन की विधियों में से जनमत-संग्रह सबसे अधिक आकर्षक एवं विवादोत्तेजक रहा है। इसमें व्यक्तियों से एक ही प्रश्न पूछा जाता है और उसे 'हाँ' या 'नही' अथवा किसी वरणात्मक चिन्ह के रूप में उत्तर देना होता है। इससे व्यक्ति के मनोभाव की दिशा ज्ञात हो जाती है, परन्तु उसके अन्य आयामों पर कोई निष्कर्ष नहीं निकल पाता। यदि प्रस्तुत प्रश्न के उत्तरदाता अयथार्थ अथवा भिन्न-भिन्न उत्तर लगालें तो मापन विफल हो जाता है। उत्तरदाताओं के दूषित न्यादर्शन से, संदिग्ध उत्तर देने वालों की ओर पर्याप्त ध्यान न देने से, अथवा मनोभाव-परिवर्तन अथवा मनोभाव के अव्यक्त रह जाने की संभावनाओं को ध्यान में न रखने से भी इस प्रकार के जनमताँकन भ्रमजनक हो सकते है। जनमतानुसंधानकर्ता की अपनी मान्यताएँ, जनमत के विषय में उसकी प्रत्याशाएँ, अथवा प्रश्नित व्यक्तियों की जनमत के विषय में मान्यताएँ अथवा प्रत्याशाएँ भी उनकी प्रतिक्रियाओं को निर्धारित कर देती हैं और इस प्रकार उनकी स्वाभाविक वास्तविकताओं को ज्ञात करने में विघ्न डालती हैं।

मनोभाव एवं जनमत दोनों के मापन में उत्पन्न होनेवाली न्यादर्शन समस्याओं से बचने के लिए न्यादर्शन अंतर्वार्ता-सर्वेक्षण का विकास किया गया है। इसमें क्षेत्रीय न्यादर्शन किया जाता है, जिससे विशिष्ट पूर्वनिश्चित व्यक्तियों से ही अन्तर्वार्ता करना आवश्यक हो जाता है। सम्पूर्ण सर्वेक्षण-योजना के बनाने में, परस्पर सम्बन्धित, मुक्तोत्तर प्रश्नों की एक उपयुक्त क्रमबद्ध प्रश्नावली के निर्माण एवं पूर्व परीक्षण में, समालापकों के प्रशिक्षण एवं निरीक्षण में तथा प्राप्त प्रतिक्रियाओं के वर्गीकरण एवं विश्लेषण में विशेष ध्यान एवं परिश्रम से काम लिया जाता है। ऐसे सर्वेक्षण मनोभाव-साहस के मापन के लिए विशेषतया, उपयुक्त समझे जाते हैं। जन-मनोभाव-परिवर्तन की दिशा ज्ञात करने

के लिए नामिका-विधि का विकास हुआ है। इसमें एक बार बनायी सूची के अनुसार उन्हीं व्यक्तियों से बारम्बार थोड़े-थोड़े समय बाद समालाप किया जाता है। इससे परिवर्तनशील एवं स्थिरमत व्यक्तियों का पता भी चल जाता है और इस परिवर्तनशीलता अथवा स्थिरता के कारण भी ज्ञात हो जाते हैं। जब व्यक्ति से सीधा मनोभावों के विषय में पूछना उपयुक्त अथवा वांछित न हो, तब मसिखंड परीक्षण, चित्र कथा-परीक्षण आदि, प्रक्षेपक पद्धतियों के उपयोग द्वारा उसके मनोभावों का पता लगाया जा सकता है।

जनता के विचारों, मतों, मनोभावों आदि का नियंत्रण अथवा प्रसारण प्रचार कहलाता है। इसका अन्तिम उद्देश्य जनता के व्यवहारों का सुझावन द्वारा नियंत्रण होता है। परन्तु बहुधा यह उद्देश्य जनता को स्पष्ट नहीं किया जाता, गुप्त ही रखा जाता है। प्रचार की विशेषता सत्य के प्रति उदासीनता है। इसके विपरीत शिक्षण, सत्य पर केन्द्रित रहता है। फिर भी शिक्षण में चाहे-अनचाहे प्रचार का अंश आ ही जाता है। कुछ लेखक, इस प्रकार के अनायास प्रचार को मानते हुए, प्रचार की पहचान उसके प्रभाव अर्थात् परिणाम से करते हैं। परन्तु कुछ अन्य लेखकों का मत है कि मन्तव्य के बिना कोई संसूचन प्रचार नहीं कहला सकता। प्रचार के कुछ मनोवैज्ञानिक नियम गिनाये जाते हैं। सर्वप्रथम मन्तव्य-नियम है, कि प्रचार सप्रयास भी हो सकता है और अनजाने भी। एक प्रत्यक्षकरण नियम है कि प्रचारक अपनी प्रचार-सामग्री तथा उसकी परिस्थिति को अपनी पृष्ठभूमि की अपेक्षा विशेष रूप से ध्यानाकर्षक बनाता है। यह सहायक मनोभावों को उत्प्रेरित करके,प्रचार-सामग्री को बार-बार उपस्थापित करके, अथवा उसे साधारण जनता की समझ में आने योग्य सरल रूप देकर किया जाता है। एक अन्य नियम प्रचार-प्रकार का है। इसमें प्रचार के तीन प्रकार बताये जाते हैं। प्रथम, स्पष्ट प्रचार में उद्देश्य आरम्भ से जनता को पता होता है और प्रचारित बात मानने के लिए आग्रह किया जाता है। द्वितीय, स्थगित आग्रह-प्रचार में, कुछ समय तक सम्बन्धित एवं सहायक मनोभाव के उत्प्रेरक द्वारा उपयुक्त अनुकूल पृष्ठभूमि तैयार करके तब प्रचारित बात का स्पष्ट आग्रह किया जाता है। तृतीय, गुप्त प्रचार में प्रचार के द्वारा कभी भी अपना उद्देश्य स्पष्टतया व्यक्त नहीं किया जाता और उपस्थापित परिस्थितियों से स्वतः उत्पन्न होनेवाले सुझावनों पर ही आशा बाँधी जाती है। एक सम्बन्धित मनोभाव नियम भी है, कि प्रचारक वांछित मनःस्थिति स्थापित करने में सहायक होनेवाले सम्बन्धित मनोभावों को उत्प्रेरित करता है। प्रचलित अथवा कल्पित भय जागृत करके उससे प्रचारित बात द्वारा मुक्ति की आशा दिलाता है। श्रोताओं अथवा पाठकों को, सभ्यता, संस्कृति आदि में योग-दान की प्रशंसा करके उन्हें अपनी ओर झुका लेता है। उनको सुन्दर कविता, कहानी, संगीत आदि द्वारा अपनी तथा अपनी प्रचारित बात की

ओर आकृष्ट करता है। अलग-अलग रुचि, स्वभाव आदि के लोगों को अनुकूल करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रचार-सामग्री उपस्थापित करता है। एक वांछित समन्वय-नियम है, कि प्रचारक जनता में वांछित समन्वय उत्पन्न कर लेता है, जिससे वह उसके उद्देश्य के अनुकूल हो जाती है। एक मत के अनुसार इसके लिए किसी भी उद्वेग को उत्तेजित किया जा सकता है, परन्तु एक अन्य मत सम्बन्धित उद्वेग ही का उत्तेजन आवश्यक मानता है। एक छठा नियम अप्राक्कथन-क्षेत्र-नियम है, अर्थात् प्रचार का प्रभाव व्यक्त होने में समय लगता है, अनेक प्रतियोगी प्रचार भी चलते रहते हैं, और जनता के प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना जटिल स्वभाव होता है। अतः कहा नहीं जा सकता, प्रचार में सफलता कितनी होगी। इस अनिश्चितता को कम करने के लिए प्रतिष्ठा-सुझाव दिये जाते हैं, मानप्राप्त पदार्थों, चिन्हों, झंडों, नारों आदि का उपयोग किया जाता है। प्रचारित बात को सर्वसम्मत बताया जाता है। सातवाँ नियम प्रति-प्रचार-नियम है। प्रचारक विरोधियों अथवा प्रतिद्वन्द्वियों की आलोचना एवं उनके प्रचार के खंडन तथा विरोध द्वारा अवसर ढूँढ़कर उनके प्रतिकूल प्रचार करता है। एक अनुनय-नियम भी है। वह यह कि प्रचार किसी ख्याति अथवा पदप्राप्त व्यक्ति को किसी प्रकार के प्रलोभन अथवा प्रचार द्वारा प्रचारित बात का समर्थन करने के लिए मना लेते हैं।

सामाजिक मनोविकार

समाज-मनोविज्ञान में एक बढ़ता हुआ क्षेत्र सामाजिक जीवन के मनोविकारों का अध्ययन और उनके उपचार की विधियों का विकास है। सत्य अथवा पर्याप्त प्रमाणों की आवश्यकता की ओर से उदासीन होने के कारण प्रचार तथा स्थिर जाति-धारणाओं के निर्माण को सामाजिक जीवन के मनोविकार ही कहना चाहिए। स्थिर धारणाओं से मिलता-जुलता स्वरूप पूर्वाग्रहों का है। इनका अध्ययन समकालीन समाज-मनोविज्ञान की प्रमुखतम समस्याओं में से एक है। पूर्वाग्रह पदार्थों, व्यक्तियों, समूहों, वर्गों, जातियों आदि के प्रति वास्तविक प्रत्यक्ष अनुभव के पूर्व ही बन गये अनुकूल अथवा प्रतिकूल निर्णय अथवा मनोभाव को कहा जाता है। परन्तु समाज-मनोवैज्ञानिकों ने विशेष ध्यान अन्य जातियों, अन्य धर्मों, अथवा अन्य देशों के व्यक्तियों के प्रतिकूल विद्यमान पूर्वाग्रहों की ओर दिया है।

एक विचार के अनुसार उपर्युक्त पूर्वाग्रह प्राकृतिक अंतरों एवं विरोधों पर आधारित होते हैं और इसलिए सदा रहेंगे भी। एक प्रकृति वादी सिद्धान्त पूर्वाग्रहों की उत्पत्ति, सजातीयता-बोध अर्थात् शरीर की बनावट तथा आकृति में समान व्यक्तियों से एकता-भाव एवं असमान व्यक्तियों से घृणा द्वारा मानता है। परन्तु न शारीरिक अन्तर

सर्वव्यापक होते हैं, न परस्पर परिचय होने के उपरान्त उनका इतना बोध होता है। एक अन्य प्रकृतिवादी सिद्धान्त असमान जाति से घृणा को एक प्रकार की आत्मरति कहता है, परन्तु यह नहीं बता पाता कि किस प्रकार की असमानताएँ अन्य जातियों को घृणा के पात्र बना देती हैं। अन्तर्जातीय विरोध को स्वयं मूल प्रवृत्ति भी माना गया है। परन्तु यह बच्चों में नहीं होता, और प्रायः बड़ों द्वारा अन्य जातियों के साथ मेल-जोल के निषेध तथा विरोध से ही उत्पन्न और विकसित होता है। अंतर्जातीय विरोध को स्वाभाविक सांस्कृतिक अंतरों पर आधारित भी समझा गया है। परन्तु इन अन्तरों से उत्सुकता, कौतूहल तथा रुचि होनी चाहिए, विरोध क्यों हो समझ में नहीं आता। एक ही संस्कृति में पलने और रहने पर भी विभिन्न जातियों में विरोध देखा जाता है। फिर, दो विभिन्न सांस्कृतिक जातियों के अति शिक्षित वैज्ञानिकों में स्पष्ट विरोध के बजाय प्रायः कम ही विरोध देखने में आता है। दूसरी ओर, किसी की अपनी ही जाति में असमानताओं की कमी नहीं होती। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि स्वजाति-बोध, सभ्य जातियों में ही देखने में आता है, असभ्य जातियों में नहीं। असभ्य जातियों में भी बाहर से आनेवालों के प्रति विरोध होता है। परन्तु वह अपरिचितों के भय पर आधारित होता है, असमानों से घृणा पर नहीं। यह भी प्रश्न उठता है कि यदि असमान जातियों के प्रति विरोध स्वाभाविक होता है, तो किसी जाति में एक अन्य जाति के विषय में अधिक तथा दूसरी अन्य जाति के विषय में कम पूर्वाग्रह क्यों होता है। एक सिद्धान्त के अनुसार पूर्वाग्रह का आधार स्वाभाविक आक्रामकता है। मनोविश्लेषणवादी इसे एक विशिष्ट रूप में प्रतिपादित करते हैं। उनका कथन है कि किसी भी संस्कृति के अवरोधक वातावरण में पलना स्वभाव से ही व्यक्ति में आक्रामकता जाग्रत करता है। किसी अन्य जाति के व्यक्ति, अपनी विषमता के कारण, इस आक्रामकता के सरलता से पहचाने और पकड़े जानेवाले शिकार होते हैं। कभी-कभी पहले यह आक्रामकता उस जाति पर प्रक्षेपित होकर फिर स्वरक्षात्मक आक्रामकता का रूप लेती है। परन्तु इस सिद्धान्त में स्वभावतः आक्रामकता मान ली जाती है, उसका कोई आधार नहीं बताया जाता। आक्रामकता की स्वाभाविकता ही तो संदिग्ध है। कम-से-कम कुछ जातियाँ स्वभाव से अनाक्रामक प्रतीत हुई हैं।

अतः एक विचारधारा पूर्वाग्रह को स्वाभाविक नहीं, अर्जित मानती है। इस विचारधारा के दो रूप हैं, वैयक्तिक अनुभव सिद्धान्त तथा संसूचन-सिद्धान्त। पहले सिद्धान्त के अनुसार किसी जाति के प्रति पूर्वाग्रह उसके वैयक्तिक अनभव से उत्पन्न होते हैं। परन्तु कुछ लोगों में ऐसी जातियों के प्रति कठोर पूर्वाग्रह होते हैं, जिनका उन्हें कोई व्यक्तिगत अनुभव नहीं होता, अथवा-जिनका वास्तव में अस्तित्व ही नहीं होता। बहुधा

अन्य जातियों के विषय में वास्तविक अनुभव कुछ और होते हैं और उनके विषय में मन में स्थिर हो गयी पूर्वाग्रही धारणाएँ कुछ और होती हैं। ऐसा लगता है कि यह धारणाएँ पूर्व स्थित पूर्वाग्रहों के पक्ष को सबल बनाने के लिए पीछे से बन जाती हैं। इस प्रकार अन्य जातियों के माने हुए गुण उनके विषय में पूर्वाग्रहों के कारण नहीं, परिणाम प्रतीत होते है। संसूचन-सिद्धान्त के अनुसार पूर्वाग्रह-संसूचन द्वारा अर्थात् प्रचलित पूर्वाग्रहों से सम्पर्क द्वारा उत्पन्न हुआ करते हैं। बचपन के ग्रहणशील काल में परिवार तथा विद्यालय में प्रचलित पूर्वाग्रह व्यक्ति के मन में घर कर लेते हैं। बहुत-से पूर्वाग्रह उपन्यासों, चलचित्रों, समाचार-पत्रों, नाटकों, पाठ्य-पुस्तकों आदि सामूहिक माध्यमों द्वारा आते हैं। कभी-कभी पूर्वाग्रह परिवेश स्थित आश्रयों के सहारे भी आ जाते हैं। निम्नस्तरीय परिस्थितियाँ, अल्पसंख्यकता, अन्य जातियों से सम्पर्काभाव, समाज द्वारा विशेषतया कठोर व्यवहार का पात्र होना ऐसी परिवेशस्थित परिस्थितियाँ हैं, जो प्राय: पूर्वाग्रहों को आश्रय देती हैं।

पूर्वाग्रह कुछ अर्थों की सिद्धि के साधन का काम भी देते हैं। प्रभुत्वशाली जातियाँ, आश्रित तथा निर्बल जातियों को वंचित करके स्वयं धन-संचय करने में, आलोचना, विरोध एवं विद्रोह से बचने के लिए, अपने पक्ष को पूर्वाग्रहों द्वारा सुरक्षित रखने एवं पुष्ट करने का प्रयत्न करती हैं। उन्हें उस धन की प्राप्ति अथवा उसे सँभालने के अयोग्य मानती, कहती और प्रचारित करती हैं, या यह मानती और मानने को कहती हैं कि इस आर्थिक शोषण से उनका हित ही होगा। पूर्वाग्रह अपनी सब कमियों, कठिनाइयों तथा विपत्तियों के लिए अपना उत्तरदायित्व अथवा दोष दूसरों पर टाल देने का काम भी देते हैं। आर्थिक संकट, राजनैतिक उलझन, युद्ध में हार, सामाजिक अव्यवस्था, सभी का दोष पूर्वाग्रहों के सहारे दूसरों के सर मढ़ा जा सकता है। दूसरों के प्रति पूर्वाग्रह वैपरीत्य भाव द्वारा अपने में उच्चताभाव, आत्म-विश्वास तथा अपने महत्त्व की भावना भी उत्पन्न करते हैं। फिर, श्रेष्ठ माने जानेवाले स्तरों के पुरुषों को निम्न अथवा निर्बल जातियों एवं वर्गों की स्त्रियों पर अधिकार जमाना सरल रहा है। इस प्रकार भी पूर्वाग्रह उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

परन्तु इन सब लाभों के लिए पूर्वाग्रह का उपयोग कोई करता है कि नहीं यह उसके व्यक्तित्व पर निर्भर रहेगा। अत: पूर्वाग्रहों के विकास में व्यक्तिगतत्व का हाथ महत्त्व-पूर्ण अनुसंधान का विषय रहा है। इनसे पता चलता है कि अनेक पूर्वाग्रह प्राय: एक साथ पाये जाते हैं। किसी समाज में एक वर्ग के प्रति पूर्वाग्रह उत्पन्न हो जाने पर वही पूर्वाग्रह अन्य वर्गों के प्रति भी बहुत सुगमता से फैल जाता है। पूर्वाग्रह-विशिष्ट स्वभाव के व्यक्तियों में ही अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। झूठी देश अथवा राष्ट्रभक्ति कुछ

सांस्कृतिक मूल्यों के अन्धानुराग पर आधारित होती है और अल्प संख्यकों तथा अन्य राष्ट्रों अथवा जातियों का तिरस्कार उत्पन्न करती है। पूर्वाग्रही व्यक्ति प्रायः परम्परावादी, अनुसरणवादी, लोकवादी, माता-पिता की जीवन-शैली से चिपटे हुए, माता-पिता की पूजा करनेवाले परन्तु अवचेतना में उनके प्रति प्रबल विरोध भी दबाये हुए पाये गये हैं। उनका स्वभाव बलाधारित एकाधिकारवादी, अलोकतांत्रिक, आदेशवादी, बर्बरतावादी, सहानुभूतिहीन होता है। वे संसार को भयंकर एवं अहितकर तथा मनुष्यों को स्वभाव से बुरा समझते हैं। उनमें अरक्षा-भाव एवं स्वपद-बोध की प्रधानता होती है। वे नीति में निषेधों को विशेष महत्त्व देते हैं और अपने दोषों और दुर्भाग्यों के लिए दूसरों को उत्तरदायी ठहराया करते हैं। वे ऊपर से शान्त, आत्मविश्वासपूर्ण, एवं सुसमायोजित परन्तु अन्दर ही अन्दर अशान्त रहते हैं। उनके आत्म-प्रत्यय अस्पष्ट होते हैं। उनमें वास्तविकताओं के प्रति पर्याप्त अनुकूलन नहीं होता। उनके अंदर अन्तरात्मा पर्याप्त मात्रा में विकसित एवं स्थिर नहीं होती। उन्हें संतोषजनक अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित करने में भी कठिनाई होती है।

उपर्युक्त सब प्राप्त फलों को ध्यान में रखते हुए समाज-मनोवैज्ञानिक पूर्वाग्रह को बहुआयामक कहने लगे हैं। पूर्वाग्रह की उत्पत्ति के कम से कम छः आयामों अर्थात् स्तरों पर छः प्रकार के कारण बताये गये हैं:—(१) उत्तेजना का काम देनेवाले जातियों के वास्तविक गुण, (२) उनके व्यक्ति को प्रतीत होनेवाले वास्तविक अथवा अवास्तविक गुण, (३) व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व की रचना तथा गति, (४) व्यक्ति की अपनी बाह्य परिस्थितियाँ, (५) व्यक्ति की अपनी संस्कृति का प्रभाव, (६) ऐतिहासिक निर्धारण। पूर्वाग्रह के इन सब प्रकार के निर्धारणों को अलग-अलग नहीं, एक दूसरे पर आश्रित समझने का आग्रह भी किया गया है।

पूर्वाग्रहों से उत्पन्न भेद-भावों के परिणामों की ओर भी ध्यान दिया गया है। भेद-भाव के शिकार व्यक्तियों का भाषा-विकास पिछड़ जाता है। उनमें सामान्य से अधिक स्वजाति-बोध उत्पन्न हो जाता है। आत्मरक्षा की चिन्ता, असाधारण स्पष्ट एवं प्रतीकात्मक प्रयास, सामान्य सामाजिक पदों से वंचित होने के कारण आत्मघृणा, निश्चेष्ट दबना, विदूषकीय व्यवहार, आक्रामक प्रतिवाद, विक्षिप्त तथा साधारण व्यक्तित्व-विच्छेद अन्य प्रेक्ष्य परिणाम हैं।

पूर्वाग्रहों को कम करने की संभावनाओं का प्रश्न अनुप्रायोगिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके अनेक साधन प्रस्तावित हुए हैं। पूर्वाग्रह के परिवेशस्थित सहारों को तोड़ा जा सकता है। शिक्षा द्वारा, राजनियमों द्वारा, विधान के अन्तर्गत उपयुक्त घोषणाओं द्वारा पूर्वाग्रहों को दूर करने का प्रयत्न किया जा सकता है। कुछ साहसी व्यक्ति

पूर्वाग्रहयुक्त परम्पराओं को तोड़ने में पहल करके इस दिशा में विशेष योग दे सकते हैं। समाज-वैज्ञानिक विविध जातियों के विषय में प्रचलित पूर्वाग्रहों की असत्यता के ज्ञान का प्रसार कर सकते हैं। चलचित्र, रेडियो, नाटक, साहित्य आदि सामूहिक माध्यमों द्वारा पूर्वाग्रही मनोभावों का परिवर्तन तथा पूर्वाग्रहमुक्त मनोभावों का प्रचार भी किया जा सकता है। विभिन्न वर्गों में सम्पर्क बढ़ाना बहुत उपयोगी पाया गया है, विशेषतया जब वह समान पद, समान लक्ष्यों, तथा समान समस्याओंवाले व्यक्तियों के बीच हो। परिवारों तथा विद्यालयों में दी जानेवाली शिक्षा यदि निरन्तर असहिष्णुता छोड़कर मैत्री-भाव रखना सिखाये तो पूर्वाग्रह छुड़ाये जा सकते हैं। कुछ प्रथाओं तथा लोकाचारों में भी भेदभावों को प्रोत्साहन देनेवाले अंश होते हैं। अतः इनमें परिवर्तन करना भी उपयोगी होगा। अल्पसंख्यकों को अलग रखना अथवा उनसे अन्य प्रकार के भेद-भाव रखना भी छोड़ने योग्य है। व्यक्तियों में वैयक्तिक सुरक्षा-भाव, अपने तथा दूसरों के प्रति स्वीकृत भाव, तथा वास्तविकताओं के प्रति समायोजन बढ़ाने से उन्हें अपना पद बनाये रखने के लिए दूसरों के प्रति पूर्वाग्रहों की आवश्यकता नहीं रहेगी। इसमें सामान्य मानसिक स्वास्थ्य बनाये रखने के सभी साधन सहायक हो सकते हैं। आवश्यकता पड़ने पर मनोचिकित्सा भी की जा सकती है। यदि परिवेश की ओर से उपयुक्त सहयोग मिल सके, अथवा परिवेश में उपयुक्त परिवर्तन किये जा सकें, तो पूर्वाग्रही को पूर्वाग्रहों से मुक्त करने के लिए उसी के विशिष्ट स्वभाव का उपयोग किया जा सकता है। उसकी अनुसरणवादिता को सब को स्वीकृति देने का अनुरोध करनेवाले रिवाजों से काम पड़े, उसकी सत्ता-अनुगामिता को भेदभाव की निन्दा करनेवाले नेता मिल जायें, उसकी अनुमोदनाकांक्षा को अपने समाज में पूर्वाग्रहमुक्त भावों के प्रचलन का सामना करना पड़े, तो समस्या बहुत कुछ सुलझ सकती है।

समाज-मनोवैज्ञानिकों ने दो अन्य सामाजिक मनोविकारों का अध्ययन किया है: मानसिक असामान्यता तथा अपराध। परन्तु इन दोनों विषयों के अध्ययन मनोविज्ञान की दो स्वतंत्र शाखाओं के रूप में विकसित हो चुके हैं। अतः इनका वर्णन इस पुस्तक के स्वतन्त्र रूप से अन्य अध्यायों में किया गया है।

राजनैतिक व्यवहार तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

समकालीन समाज-मनोविज्ञान की एक और प्रमुख समस्या है, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर राजनैतिक व्यवहार का अध्ययन। आज के अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों की बढ़ती हुई भयंकरता और शांति के आदर्शों की आकर्षकता के कारण समाज-मनोवैज्ञानिक युद्धों की समस्या का मनोवैज्ञानिक विवेचन अपना कर्त्तव्य समझते हैं। यह इसलिए भी कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में मानसिक तत्त्व ही मुख्य निर्धारक होते हैं।

संयुक्त राष्ट्र-संघ ने भी स्वीकार किया है कि युद्ध मनुष्यों के मनों में आरम्भ होते हैं और मनुष्यों के मनों में ही शान्ति के रक्षा-साधनों का निर्माण होना चाहिए। युद्ध के आर्थिक समझे जानेवाले कारण भी, स्वयं नहीं, व्यक्तियों के व्यक्तिगत स्वभाव एवं पूर्व विकास पर आधारित स्थिति आभासों, संतुष्टि-असंतुष्टि भावनाओं, तथा शान्तिप्रिय, आक्रामक आदि प्रतिक्रियाओं द्वारा ही कार्यशील होते हैं। अतः यह आग्रह किया गया है कि राजनैतिक निर्णय मनोवैज्ञानिकों द्वारा स्थापित एवं स्वीकृत तथ्यों के आधार पर, मनोवैज्ञानिक निर्देशन के अनुसार, किये जाने चाहिए। मनोवैज्ञानिकों के अनुसन्धानों से एक निष्कर्ष यह निकला है कि जातियों, राष्ट्रों आदि के बीच कोई जन्मजात मानसिक अंतर सिद्ध नहीं होते। अतः उनमें भेदभाव के लिए कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। क्योंकि विषमायोजित व्यक्तियों के राजनैतिक नेता अथवा अधिकारी हो जाने से समाज की अत्यन्त हानि होने की, और विशेषतया अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बिगाड़ आने की सम्भावना है, इसलिए यह भी सुझाव है कि किसी व्यक्ति को राजनैतिक नेता अथवा अधिकारी अथवा राज्य प्रतिनिधि का पद देने से पहले उसे किसी अन्तर्राष्ट्रीय मनोवैज्ञानिक संस्था द्वारा उपयुक्त परीक्षा के उपरान्त सुसमायोजित घोषित होना अनिवार्य हो जाना चाहिए। क्योंकि जाति-धारणाएँ बहुधा प्रामाणित सत्यों पर आधारित न होते हुए भी अन्तर्जातीय भावों एवं सम्बन्धों को प्रभावित करती रहती हैं, इसलिए राष्ट्र-स्वभावों का वैज्ञानिक अध्ययन अन्तर्जातीय सम्बन्धों को वास्तविकताओं पर आधारित रखने में सहायक हो सकता है। यह अध्ययन, यदि राष्ट्रों की परस्पर विषमताओं ही नहीं, उनकी परस्पर समताओं की ओर भी पर्याप्त ध्यान दे, तो विश्व-शान्ति की स्थापना में बहुत योग दे सकता है। अंतर्राष्ट्रीय मतभेदों को दूर करने के लिए यह समझना महत्त्वपूर्ण है कि किसी राष्ट्र-प्रतिनिधि के अनुभव एवं दृष्टिकोण किस प्रकार उसकी अपने राष्ट्र की सदस्यता, संस्कृति आदि द्वारा निर्धारित हुए हैं। घटनाएँ बहुत कुछ प्रत्याशाओं से प्रभावित प्रयासों की प्रबलता अथवा शिथिलता द्वारा निर्धारित होती हैं। अतः विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए, युद्ध की सम्भावनाओं की बात कम और शान्ति की संभावनाओं की बात अधिक होनी चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय संसूचन में भाषा का मनोवैज्ञानिक प्रभाव समझने से, आक्रामक मनोभावों का स्वरूप और उनके परिवर्तन की विधियाँ जानने से, सामूहिक निर्णय एवं सामूहिक कार्य के नियम तथा उनके सुधारने के संभव ढंग ज्ञात होने से, भी अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में वांछित प्रगति हो सकती है। समाज-मनोवैज्ञानिकों के पास सभी अंतर्राष्ट्रीय तथा अन्य सामाजिक समस्याओं के विशिष्ट सुलझाव तैयार न हों, परन्तु उनके पास ऐसी मनोवैज्ञानिक विधियाँ अवश्य हैं, और बढ़ती जा रही हैं, जिनके द्वारा वे उन सभी समस्याओं के सुलझाव ढूँढ़कर निकाल सकते हैं।

९

बाल-मनोविज्ञान

बाल-मनोविज्ञान के विकास के पीछे दो मुख्य प्रेरणाएँ रही हैं। प्रथम प्रेरणा इस बात की बढ़ती हुई समझ से मिली है कि मनुष्यों में गुणों, अवगुणों, योग्यताओं, प्रवृत्तियों, आवेगों, चरित्रगुणों तथा स्वभावगुणों सबकी नींव बचपन में ही पड़ती है, और उनकी व्यक्तिगत समानताएँ एवं असमानताएँ बाल्यकाल के अनुभवों द्वारा ही निर्धारित होती हैं। द्वितीय प्रेरणा जीवन के इस व्यावहारिक सत्य से प्राप्त हुई है कि शिक्षा-प्रसार, सामाजिक सुधार, और राजनैतिक प्रगति को बालक-बालिकाओं अर्थात् भावी जनता के स्वभाव के यथार्थ ज्ञान एवं कुशल निर्देशन पर आधारित करके ही सफल बनाया जा सकता है।

समस्याएँ

बाल-मनोविज्ञान का उदय मुख्यतः शिक्षा के क्षेत्र में हुआ। शिक्षक तथा शिक्षाकार्य के अधिकारी यह जान लेना चाहते थे कि बच्चों में शैक्षिक संप्राप्ति कहाँ तक उनकी नैसर्गिक योग्यताओं-अयोग्यताओं पर निर्भर होती है और कहाँ तक शिक्षा प्रयास पर। बच्चों की भाषा-योग्यता तथा विचार-योग्यता उनकी शिक्षा की मूल आधारशिलाएँ मानी जाती थीं। शिक्षा-प्रयास का उद्देश्य यह समझा जाता था कि बच्चे को दी हुई शिक्षा उसे याद रहे। अतः बाल-मनोविज्ञान में सर्वप्रथम प्रकृति-शिक्षण अर्थात् वंशानुक्रम-वातावरण विषयक विवाद, बाल-भाषा एवं बाल-विचार, तथा स्मृति-नियम-प्रधान विषय रहे। शीघ्र ही बाल्यकाल में विकासशीलता ने तथा अनेक क्रमिक अवस्थाओं ने ध्यान आकर्षित किया और इस विकास का आरम्भ जन्म से भी पूर्व गर्भधारण से ही स्वीकृत होने लगा। फलतः बाल्यकाल का जन्मपूर्व काल, शैशव, पूर्व बाल्य, उत्तर बाल्य, तथा कैशोर्य में विभाजन हो गया और इनमें से प्रत्येक काल की एवं प्रत्येक काल के अन्दर भी आय की वृद्धि के साथ-साथ पायी जानेवाली मनोविकास की विशिष्टताओं की खोज होने लगी। साथ ही भाषा और विचार ही नहीं, बच्चों में खेल, औद्वेगिक जीवन, सामाजिकता, बौद्धिक योग्यता, व्यक्तित्व आदि के क्रमिक विकास का अध्ययन होने लगा। धीरे-धीरे दैहिक विकास तथा क्रिया-विकास का मनोवैज्ञानिक महत्त्व देखकर इन्हें भी बाल-मनोविज्ञान

की विषय-सूची के आवश्यक अंग मान लिया गया। इन सभी क्षेत्रों में विकासमान ज्ञात करना मनोविज्ञान की इस शाखा का एक प्रमुख कार्य हो गया। बाल-मनोविज्ञान साहित्य विकास सारणियों से भर गया।

इस प्रकार विकास केन्द्रित हो जाने से बाल-मनोविज्ञान का प्रमुख कार्य यह हो गया है कि बालक-बालिकाओं के मनोवैज्ञानिक मापों, कार्यों, तथा अनुभवों को और उनकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं एवं निष्पत्तियों को कालक्रम से संयोजित किया जाये, जिससे उत्तरावस्थाओं को पूर्वावस्थाओं के आधार पर समझा जा सके। ऐसा करने में सम्पूर्ण विकास-काल को विशिष्ट अवधियों में विभाजित कर लिया जाता है और यह समझा जाता है कि प्रत्येक अवधि की विकास अथवा व्यवहार की दृष्टि से कुछ अपनी सामान्य विशेषता है। किन्तु बाल-मनोवैज्ञानिक इस ओर भी सजग रहते हैं कि किसी भी अवधि में बच्चों में बहुत व्यक्तिगत अन्तर होते हैं, अतः कोई निरपेक्ष आयुमान स्थापित नहीं किये जा सकते।

प्रायः विकास-काल का अवधियों में विभाजन शारीरिक परिवर्तनों और उनके व्यावहारिक परिणामों पर आधारित होता है। जन्मपूर्वकाल गर्भधारण से ढाई तीन सौ दिनों का माना जाता है और इसके अन्दर प्रथम दो सप्ताह तक डिम्बकाल, दो सप्ताह की जन्मपूर्व आयु से दस सप्ताह की जन्मपूर्व आयु तक भ्रूण-काल और दस सप्ताह की जन्मपूर्व आयु से जन्म तक गर्भ-काल कहा जाता है। जन्म समय की जन्मपूर्व आयु का मध्यक २८० दिन पाया गया है। जन्मोपरांत प्रथम दो सप्ताह तक व्यक्ति को नवजात कहा जाता है और कभी एक और कभी दो वर्ष की आयु तक का काल शैशव कहा जाता है। तदुपरान्त ६ वर्ष तक पूर्वबाल्य माना गया है। ६ से १० वर्ष की आयु तक उत्तरबाल्य अथवा मध्यबाल्य कहा गया है, तदनुसार १० से १३ वर्ष तक यौवनपूर्व अथवा उत्तरबाल्य काल माना जाता है। यौवनारम्भ की मध्यक आयु बालकों में १४ वर्ष तथा बालिकाओं में १२ वर्ष मानी गयी है। १३ से १५ वर्ष तक पूर्व कैशोर्य और १५ से २० तक उत्तर-कैशोर्य माना जाता है।

बाल-मनोविज्ञान से कुछ मिलता-जुलता विषय बालविकास भी है। परन्तु इन दोनों में अन्तर है। बालविकास में बाल-चिकित्सकों, दंतविशेषज्ञों, तथा देहकेन्द्रित मानव-वैज्ञानिकों के अनेक अनुसंधान एवं सिद्धान्त भी समाविष्ट होते हैं। बाल-मनोविज्ञान केवल मनोवैज्ञानिक महत्त्व के बाल्याध्ययनों तक सीमित रहता है।

बाल-मनोविज्ञान विकास के किस काल का अध्ययन है इसके विषय में भी विकास देखा जा सकता है। बहुत समय तक बाल-मनोविज्ञान और बालविकास का विषय दैहिक एवं मानसिक अपरिपक्वता का सम्पूर्ण काल रहा। अब भी बहुत-से विद्वान् इसी परम्परा पर चलते हैं। परन्तु कुछ अन्य विद्वानों ने किशोरावस्था को इनके क्षेत्र से बाहर मानना

आरम्भ कर दिया है, और किशोर-विकास तथा किशोर-मनोविज्ञान को स्वतंत्र क्षेत्र के रूप में स्वीकार किया है। इसके विपरीत यह भी समझा गया है कि व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास में जीवन पर्यन्त एक ही नियम, दिशा आदि की अभिव्यक्ति की आशा की जा सकती है। अतः बाल-मनोविज्ञान एवं बालविकास के अध्ययन ने विस्तृत होकर विकास मनोविज्ञान का रूप भी ले लिया है। इसके अंदर जन्तु-स्तर से मानवस्तर तक का विकास, प्रौढ़ मन, तथा वृद्धावस्था की मानसिक प्रक्रियाओं का भी विषय रूप में समावेश हो गया है। जिनकी मुख्य रुचि विकास के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के निर्माण में है, वे कदाचित् विषय के इस विस्तार के पक्ष में रहेंगे। बाल्यकाल की विशिष्टताओं में व्यवहारिक एवं अनुप्रायोगिक रुचि वाले विद्वान् कदाचित् अब भी बालमनोविज्ञान एवं बाल-विकास को उत्तरकालों के अध्ययन से स्वतंत्र रखना चाहेंगे। कुछ समय पूर्व भी किसी-किसी विद्वान् ने एक अन्य दृष्टिकोण से बाल-मनोविज्ञान और विकास-मनोविज्ञान में अन्तर माना है। उनके अनुसार बालमनोविज्ञान का विषय यह है कि बालक किसी विशिष्ट परिस्थिति में कैसा व्यवहार करता है। इसके विपरीत विकास-मनोविज्ञान का विषय बालक के व्यक्तित्व के परिवर्तनों का पूर्वानुमान करना और इस परिवर्तन के कारणों को पहचानना है।

पिछले कुछ समय से बालमनोविज्ञान में कुछ अन्य विषय अनुसंधान में प्रमुख हो गये हैं। ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं तथा शिक्षाग्रहण अर्थात् सीखने की प्रक्रियाओं की अन्य विकास-क्षेत्रों की अपेक्षा कुछ अधिक खोजें हुई है। मनोविश्लेषण तथा मन में गत्यात्मक ऊर्जाओं के अन्य अध्ययनों से प्रभावित होकर बालमनोवैज्ञानिक भी बाल-उत्प्रेरण तंत्र के अन्वेषण में लगे हैं। बच्चों के आक्रामकता आदि समस्याजनक व्यवहार तथा उनकी काम-प्रवृत्ति, स्नेहक्षुधा सक्रियात्मकता, चिंताओं, तादात्म्यों तथा उनके पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों, उनमें प्रतियोगिता भावों एवं सहयोग भावों, उनके मूल्यों एवं आदर्शों, तथा उनके आत्म-प्रत्ययों का विशेषतया अध्ययन किया जा रहा है। उनकी सामाजिक अंतः-क्रियाओं के मापनार्थ विधियों के निर्माण तथा विकास के लिए बालमनोविज्ञान का एक सम्पूर्ण एवं स्वतंत्र क्षेत्र बन गया है, जिसे समाजमिति कहा जाता है। मनोविश्लेषण ने पूर्वतम अनुभवों के प्रभाव को बाल-व्यक्तित्व का मूल निर्धारक माना है। अतः जन्मक्रम, भाई-बहिनों की उपस्थिति अथवा अभाव, भाई-बहिनों में आयु के अन्तर, परिवार का आकार, माता-पिता के भाव तथा व्यक्तित्व, माता-पिता की शिक्षा, मातृ-वियोग, वातावरण परिवर्तन, आदि का बाल-व्यक्तित्व पर प्रभाव बालमनोविज्ञान के महत्त्वपूर्ण विषय बन गये हैं। कुछ मनोविश्लेषकों ने शिशु-मन को आघात तथा परिवेशीय अपमान के अनुभवों, जन्मजात प्रवृत्तियों तथा शिशुपालन-पद्धतियों द्वारा विषेषतया निर्धारित माना है। ऐसा ही विश्वास मनोविश्लेषणवादी विचारों एवं शिक्षाग्रहण-सिद्धान्तों को

मिश्रित रूप में मानने वालों का है। फलतः बाल-व्यवहार एवं व्यक्तित्व पर शिशुपालन पद्धतियों के प्रभावों का बहुत अध्ययन हुआ है। बालापराधियों के अध्ययन में भी उनके पूर्व इतिहास का ज्ञान प्राप्त करना अति महत्त्वपूर्ण समझा गया है। शैशव में वंचन, कुण्ठा अथवा उपेक्षा की अपेक्षा आवश्यकता-पूर्ति तथा स्नेहमय स्निग्ध सम्बन्ध श्रेष्ठतर पाये गये हैं। परन्तु अभी शिशुपालन-पद्धतियों का कालांतरीय व्यक्तित्व एवं व्यवहार से सम्बन्ध-सांख्यिकीय अनुसंधानों द्वारा असिद्ध ही रहा है। इसलिए कुछ विद्वान् व्यक्तित्वनिर्माण में वैधानिक निर्धारकों तथा सम्पूर्ण सांस्कृतिक संदर्भ को और उत्तरकालीन अनुभवोंको शिशुपालन की अपेक्षा अधिक प्रबल मानते हैं। यह सम्पूर्ण विषय अभी अति विवादग्रस्त है और कहा नहीं जा सकता कालांतर में किधर को झुकेगा। शिशुपालन-पद्धतियों के महत्त्व को अनेक विद्वानों ने अस्वीकार किया है। कुछ ने इसे स्वीकार करते हुए भी इसके कारण मनोविश्लेषणवादियों की मान्यताओं के विपरीत बताये हैं। उनका कथन है कि शैशवीय अनुभव सर्वप्रथम आते हैं, अव्यक्त एवं अप्रतीकात्मक रहते हैं, पुनरावर्तित होते रहते हैं और विस्मृतिरोधयुक्त होते हैं। जीवन में पूर्वतम बनी हुई आदतों में असाधारण अनवरत्व होता है। पूर्वतम अनुभव व्यक्ति की प्रत्यक्षानुभव योग्यताओं को परिवर्तित रूप देते हैं और उनके द्वारा उत्तरकालीन व्यवहार को प्रभावित करते हैं। कदाचित् विकास के कुछ निर्धारक कालों की विशेषता यह होती है कि उनमें जीवन की स्थायी व्यवहारशैलियों का निर्माण हुआ करता है और निश्चय ही शैशव ऐसा काल प्रतीत होता है। परि-वेशात्मक व्यवहार निर्धारकों में, शिशुपालन-पद्धतियों के अतिरिक्त, परिवार के सामाजिक एवं आर्थिक स्तर, भोजन-कार्यक्रम, घर में उपलब्ध स्नेह तथा लाड़ की मात्रा, घर में पुस्तकों की संख्या तथा विद्यालय में संतुष्टि एवं कुण्ठा के अनुपात के प्रभावों पर अनेक बाल-मनोवैज्ञानिकों का ध्यान केन्द्रित हुआ है।

दृष्टिकोण

इन सब समस्याओं के अध्ययन में मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण तथा मनोविश्लेषण-विरोधी दृष्टिकोणों में संघर्ष एवं वाद-विवाद चलता रहा है। प्रधानता मनोविश्लेषण-वादी और मनोविश्लेषण से सहमत अथवा प्रभावित अध्ययनों की ही रही है। इन सबमें वर्तमान मनोवस्था को समझने के लिए इतिहास को उपयोग करने वाले उत्पत्तिमूलक दृष्टिकोण विद्यमान रहते हैं। मनोगति पर तथा मानसिक जीवन के जैवी आधारों पर बल दिया जाता है। बालशिक्षण तथा बालकल्याणकार्य में मनश्चिकित्सात्मक साधनों, विधियों तथा धारणाओं को आवश्यक समझा जाता है। चरित्र-प्रकारों के विकास की प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। व्यक्तित्व एवं परिवेश के बीच के जटिल अंतः-

सम्बन्धों और व्यापारों के विश्लेषण की विधियों के निर्माण का प्रयत्न किया जाता है और इनमें व्यक्तित्व की सृजनात्मकता एवं उद्देश्यपूर्णता पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

मनोविश्लेषणात्मक बाल-अध्ययनों में पूर्वतम बाल्य की घटनाओं की स्मृतियों और स्वप्नों की व्याख्या को विशेष महत्त्व दिया जाता है। परन्तु इसमें अनेक आपत्तियाँ होती हैं। स्मृतियों की विश्वासयोग्यता में संदेह किया जा सकता है। कभी भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सभी तद्विषयक स्मृतियाँ चेतनबोध में आ गयी हैं। स्मृतियों को चेतना में लाने की विधियों का ही उन स्मृतियों पर सुझावात्मक प्रभाव पड़ने की आशंका रहती है और कष्ट तथा कष्ट से उत्पन्न मानसिक एवं शारीरिक निर्बलता की अवस्था में इसकी संभावना बढ़ जाती है। फिर, यह भी सम्भव है कि तद्विषयक सभी पूर्व अनुभव स्मृति में सुरक्षित न रहे हों अर्थात् कुछ महत्त्वपूर्ण अनुभव विस्मृत हो चुके हों। मनोविश्लेषण में स्मृति व्याख्या के उपयोग में प्रामाण्यता को सुरक्षित रखने के लिए नियंत्रणों की आवश्यकता की ओर पर्याप्त ध्यान भी नहीं रखा जाता। मनोविश्लेषण के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त मानव के यथार्थ न्यादर्श के अनुभव पर आधारित भी नहीं हैं। मनोविश्लेषकों का अनुभव मनोविश्लेषणात्मक उपचारशालाओं में पहुँचने वाले मानसिक कष्ट से पीड़ित व्यक्तियों तक सीमित है। सामान्य व्यक्तियों से वैज्ञानिक विधिपूर्वक तुलना के अभाव में, इस अनुभव को विशेष प्रकार से मनोपचारार्थियों की मनोवृत्तियों का परिचायक भी नहीं माना जा सकता।

मनोविश्लेषण की आकर्षकता से बचे हुए बालमनोवैज्ञानिकों का दृष्टिकोण प्रायः प्रेक्षणात्मक होता है। वे स्वाभाविक बालव्यवहार के वैज्ञानिक प्रेक्षण एवं विवरणका प्रयत्न करते हैं। वे मनोविज्ञान में बढ़ती हुई प्रयोग-वृत्ति से भी अलग रहने का प्रयास करते हैं और बाल-व्यवहार की स्वतः उत्पन्न होने वाली अनियंत्रित परिस्थितियों पर ध्यान केन्द्रित रखते हैं। कुछ समय से इस विधि के विकास की ओर विशेष प्रगति हुई है। विभिन्न संस्कृतियों एवं जीवन-परिस्थितियों में मनोविकास नियमों के परिणामों के मापन तथा बाल-व्यवहार के सामाजिक परिवेश के अर्थपूर्ण मनोवैज्ञानिक वर्णन की पद्धतियाँ बनी हैं। प्रेक्षकों को अपना कार्य आरम्भ करने से पहले इन पद्धतियों की विशेष शिक्षा दी जाती है जिससे उनके प्रेक्षणों में सामग्री की तथ्यात्मकता, पूर्णता और एकाकारता हो। प्रेक्षणों को थोड़े-थोड़े समय की अनेक आधारमूत इकाइयों में विभाजित कर लिया जाता है। प्रत्येक इकाई को एक घटना मानकर उसका भी विभिन्न अंगों, विभागों एवं चरणों में विश्लेषण किया जाता है। अब प्रत्येक घटना का इस विश्लेषण के आधार पर लगभग डेढ़ दो-सौ शीर्षकों के अंतर्गत वर्णन किया जाता है। इसके उपरान्त इन प्रदत्तों से सांख्यिकीय विधियों द्वारा परिवेशांगों तथा व्यवहारांगों के बीच सम्बन्ध ज्ञात किये जाते हैं।

बाल-मनोविज्ञान में प्रचलित तीसरा प्रमुख दृष्टिकोण शिक्षाग्रहणवाद कहलाता है। इसका उपर्युक्त परिवेशकेन्द्रित दृष्टिकोण से, प्रबल वाद-विवाद चल रहा है। शिक्षा-ग्रहणवादी दृष्टिकोण सैद्धान्तिक एवं प्रायौगिक है और भावी व्यवहार के पूर्वानुमान में काम आने वाले सिद्धान्त ज्ञात करने को महत्त्व देता है। यह पूर्वानुमान जीव के मापित परिवर्त्यों के आधार पर किये जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, इस दृष्टिकोण से किये गये एक अन्वेषण में शैशव और पूर्वबाल्य के आक्रामक तथा परतंत्र व्यवहार का माता के व्यवहार से सम्बन्ध निश्चित करने का प्रयत्न किया गया है। माताओं के व्यवहार के विषय प्रदत्त अंतर्वार्ताओं से एकत्रित किये गये हैं। अंतर्वार्ता-विधि के अन्तर्गत क्रम से आठ प्रक्रियाएँ की गयी हैं :

(१) अन्तर्वार्ताओं के लिए माताओं का चुनाव, (२) अन्तर्वार्ता-योजना का निर्माण, (३) जटिल अन्तर्वार्ता-प्रक्रिया, (४) ध्वन्यंकित्र से अंतर्वार्ता को लिपिबद्ध करना, (५) सामग्री का शीर्षकानुसार वर्गीकरण, (६) दण्डवृत्ति, बालिशकुण्ठा, आदि की मात्रा के निर्णय के लिए आंकन-दण्डों का आयोजन, (७) आंकन-प्रक्रिया, (८) विभिन्न आंकन-दण्डों से प्राप्त आंकनफलों का संकलन। बच्चों के विषय में प्रदत्त एकत्रित करने का काम स्वतंत्ररूप से काम करने वाले एक भिन्न अन्वेषक-समूह को सौंपा गया था। उस समूह ने बाल-व्यवहार-विषयक प्रदत्त प्रेक्षण, आंकन, एवं बच्चों के गुड़ियाँ के खेल देखने, से प्राप्त किये। फलस्वरूप इस अध्ययन में बालपालन में माता की ओर से दण्ड-वृत्ति, गुड़िया के खेल में प्रदर्शित बाल-आक्रामकता से सहसम्बन्ध, शून्य से महत्त्वपूर्ण मात्रा में अधिक अर्थात् .२० और .५० के बीच पाया गया। जब बच्चों के आक्रामक वचनों का अनुमोदन अथवा अननुमोदन किया जाता था, तब उनके आक्रामक व्यवहार मात्रा प्रत्याशानुसार घट-बढ़ जाती थी। इस प्रकार के अध्ययनफलों से बालोपचारिक निदान के लिये आधार के रूप में काम देने की आशा की जाती है। कुछ शिक्षाग्रहणवादी बालमनोवैज्ञानिक अपने सिद्धान्त का मनोविश्लेषणवाद के साथ और कुछ मनोविश्लेषण-वादी बालमनोवैज्ञानिक अपने सिद्धान्त का शिक्षाग्रहणवाद के साथ सम्मिश्रण करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे सम्मिश्रण को व्यवहार-सामाजिक-शिक्षाग्रहण-सिद्धान्त भी कहा गया है और नवफ्रायडवाद भी। इसमें बालक को सम्पूर्ण स्वायत्त व्यक्तित्व के रूप में भी देखा जा रहा है और सामाजिक स्थिति एवं परिवेश के अंदर अंत:क्रियाशील एवं विकास-शील रूप में भी। इसके कुछ प्रमुख प्रत्यय विकास, व्यक्तित्व, सम्पूर्ण स्थिति, बहुशास्त्रीय अनुसंधान, शास्त्र-व्यवहार, आदान-प्रदान तथा व्यवहार सिद्धान्त हैं। बाल मनोविकृतियों को सामान्यता की अति मात्र समझा जा रहा है। इस प्रकार बाल मनोविज्ञान को सामान्य मनोविज्ञान के एक भाग मात्र का रूप दिया जा रहा है।

विधियाँ

बालमनोविज्ञान ने आरम्भिक काल से अबतक अनेक विधियों का उपयोग किया है। इनमें विशेषतया उल्लेखनीय यह हैं—शिशुचरित, व्यवहार प्रेक्षण, व्यवहार प्रश्नावली, मनोपरीक्षण, मनोनिदान, मनोचिकित्सा, अभागे बच्चों का अध्ययन तथा प्रयोग। बालमनोपचार में मनोविश्लेषण का प्रमुख स्थान रहा है। मनोविश्लेषण का एक विशिष्ट सिद्धान्त यह रहा है कि प्रत्येक बच्चे के विकास में एक एडिपस काल अवश्य आता है, जिसमें उसे विपरीत लिंग के जनक के प्रति कामभावों का अनुभव होता है। आज बहुत से बाल-मनोवैज्ञानिक मनोविश्लेषण के ऐसे सिद्धान्तों से असहमत हैं। फिर भी इतना सर्वस्वीकृत-सा है कि बाल्यकाल के मातापिता के प्रतिभाव व्यक्ति के प्रौढ़ प्रेम जीवन पर गहरा प्रभाव डालते हैं। मनोविश्लेषण से उत्पन्न मानसिक संघर्ष, भाव-प्रतिस्ठापन और भावस्थिरण आदि की धारणाएँ बालमनोविज्ञान के क्षेत्र में उपयोगी ही सिद्ध हुई हैं। प्रयोगविधि का उपयोग बालमनोविज्ञान में घटती-बढ़ती मात्राओं में हुआ है। बालमनोविज्ञान के क्षेत्र में किये गये प्रयोगों में प्रयोगात्मकता अर्थात् परिस्थिति नियंत्रण की प्रवृत्ति कभी इतनी कम रही है कि प्राकृतिक परिस्थितियों में से ऐसी स्थितियों को चुन भर लिया गया है, जिनसे अनुभव अथवा व्यवहार के परिवर्तनों का मापन अथवा अनुमान हो सके। कभी-कभी प्रयोग परिस्थितियों का प्रायः सम्पूर्णतया सर्जनात्मक नियंत्रण भी हुआ है।

उपर्युक्त किसी भी दृष्टिकोण अथवा विधि से किये हुए विकासाध्ययन या दीर्घदृष्ट्यात्मक रहे हैं या काटदृष्ट्यात्मक। दीर्घदृष्ट्यात्मक अध्ययनों में कुछ उपयुक्त व्यक्तियों को चुनकर दीर्घ काल तक उनकी विकासावस्थाओं का प्रेक्षण तथा विश्लेषण किया जाता है। काटदृष्ट्यात्मक अध्ययनों में अलग-अलग आयु-स्तरों अर्थात् विकास स्तरों से अलग-अलग व्यक्तिसमूह लेकर उन सब समूहों से प्राप्त फलों के क्रमिक विकास द्वारा विकास का सम्पूर्ण चित्र खींचा जाता है। विकास के प्रथम अध्ययन दीर्घदृष्ट्यात्मक ही थे, परन्तु इनमें बहुत दीर्घ काल में बहुत कम व्यक्तियों के विकास का अध्ययन हो पाता था और यह संभावना रहती थी कि स्यात् अन्य अथवा सामान्य व्यक्तियों का विकास भिन्न प्रकार का होता हो। इसलिए कम समय में बहुत से व्यक्तियों के अध्ययन के आधार पर सामान्य मनुष्य-जाति के विकास का स्वरूप विश्वस्त ढंग से जान पाने के लिए ही काटदृष्ट्यात्मक पद्धति का अन्वेषण हुआ। इसमें यह कठिनाई अवश्य है कि एक ही आयु अर्थात् विकास-स्तर के बच्चों में व्यक्तिगत विकास-भेद के कारण बहुत विषमता होती है। अतः प्रत्येक काल के विषय में किसी एक निश्चित अध्ययनफल पर पहुँचने के लिए उसके विकास-माध्यम का सहारा लेना पड़ता है। यह माध्यम व्यावहारिक अनुप्रयोग में आयु

के अनुसार विकासमानो का काम देते हैं। इनके आधार पर कई प्रकार के विकासों का परस्पर सहसम्बन्ध भी ज्ञात किया जा सकता है। फिर भी प्रत्येक आयुस्तर का न्यादर्श भिन्न होने के कारण प्राप्त विकास-चित्र संदिग्ध हो जाता है। फिर, काटदृष्ट्यात्मक पद्धति विभिन्न अवसरों पर प्राप्य विकास-फलों पर ध्यान केन्द्रित करती है। ऐसा करने में विकास-प्रक्रिया की उपेक्षा की आशंका रहती है। यह भी है कि कुछ विशेष प्रकार के बाल-मनोविकास तथ्य यथार्थतया दीर्घदृष्ट्यात्मक पद्धति से ही प्राप्त हो सकते हैं। जैसे, माता-पिता तथा संतान की एवं भाई-बहिनों की एक ही आयुपर तुलना इसी पद्धति से संभव है। साथ ही दीर्घदृष्ट्यात्मक पद्धति से ही यह देखना संभव है कि व्यक्ति के शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक, औद्वेगिक किसी एक अंग का विकास इनमें से अन्य अंगों से अपने संदर्भ में किस प्रकार प्रभावित होता है। बाल-मनोविज्ञान में सम्पूर्णोन्मुखी अध्ययन इसी पद्धति से हो सकते हैं। अतः कुछ समय से फिर से कुछ बालमनोवैज्ञानिकों का यह विचार होने लगा है कि कदाचित् बालमनोविज्ञान के अध्ययनों में दीर्घदृष्ट्यात्मक अध्ययन ही सफल एवं आपत्तिरहित होंगे। दीर्घदृष्ट्यात्मक अध्ययनों में भी दो प्रकार के अध्ययनों में भेद किया गया है। एक ओर भूतलक्षी अध्ययन हैं, जो प्राक्कल्पनाएँ सुझाने तथा संभव प्राक्कल्पनाओं को घटाने एवं स्पष्टतर करने के लिए उपयुक्त होते हैं, और नवविकसित गुणों को समझने के लिए विशेषतया लाभदायक होते हैं। अधिकांश दीर्घदृष्ट्यात्मक अध्ययन भविष्यलक्षी रहे हैं। भूतलक्षी अध्ययन का अभी पर्याप्त प्रयोग नहीं किया गया है।

आरम्भ में बालमनोविज्ञान के अधिकांश अध्ययन वयस्कों से प्रश्नावलियों द्वारा प्राप्त उनके बाल्यकाल की स्मृतियों पर आधारित होते हैं। परन्तु धीरे-धीरे बालमनोविज्ञान के प्रदत्त स्वयं बच्चों से मापन, कृतिविश्लेषण, प्रेक्षण, आंकन, अंतर्वार्ता, प्रयोग आदि द्वारा ही प्राप्त होने लगे हैं। विकास के विविध शारीरिक और मानसिक अंगों के परस्पर सम्बन्धों पर विशेष ध्यान दिया गया है। कुछ बालमनोवैज्ञानिकों ने सर्वसाधारण में प्रचलित बाल्य-ज्ञान की कमियों को देखते हुए परीक्षण-विधि के उपयोग द्वारा संख्यात्मक मापन को प्रधानता दी है। अन्य बालमनोवैज्ञानिकों ने इस मापनात्मक अनुसंधान की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए मनश्चिकित्सात्मक विधि को अपनाकर बच्चों के आंतरिक जगत् को मुख्य विषय बनाया है।

बालमनोविकास के दो मुख्य सामान्य निर्धारक माने गये हैं:—अंतर्वृद्धि तथा पोषण, अंतर्वृद्धि विकास का वह अंग है जो मानव जाति की, आंतरिक विशेषता है और जिसका व्यक्तियों में धीरे-धीरे विस्फुटन होता है। विकास के अनेक क्रम तथा साँचे नैसर्गिक होते हैं। शनैः-शनैः इनकी अभिव्यक्ति को ही अंतर्वृद्धि कहा जाता है। अर्थात् आयु की वृद्धि के साथ कुछ प्रगत्यात्मक परिवर्तनों का होना देह और तंत्रिकातंत्र की रचना के कारण

अवश्यम्भावी है। उनकी उत्पत्ति परिवेश से नहीं स्वयं व्यक्ति के अंदर से ही होती है। परिवेश उनकी अभिव्यक्ति में सहायता मात्र करता है। पोषण के अंतर्गत व्यक्ति पर परिवेश के सम्पर्क से आये हुए सभी गुणों की उत्पत्ति है। यह भोजन से भी होता है, अनिवार्य प्राकृतिक एवं सामाजिक अनुभवों से भी, सरल जटिल आयोजित अनुभवों से भी और सूक्ष्म सामाजिक एवं औद्वेगिक सम्बन्धों से भी। विकास अंत:वृद्धि तथा पोषण की संयुक्त अंत:क्रियाशील प्रक्रियाओं का अंतिम फल समझा जाता है। इन दोनों की अंत:क्रियाशीलता विभिन्न विकास-क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न मात्राओं में स्पष्टतया व्यक्त होती है।

विकास का प्रमुख लक्षण कालक्रमानुसार वृद्धि है। परन्तु त्रुटि, कल्पनामग्नता आदि कुछ गुणों के घटाव को भी विकास का लक्षण कहा जा सकता है। अधिकांश क्षेत्रों में विकास-क्रम समान और इस अर्थ में अपरिवर्त्य एवं स्थिर पाया गया है। जैसे, बालक पहले बैठने लगता है, फिर खड़ा होने लगता है, तब चलने लगता है और इस सबके उपरान्त ही दौड़ने योग्य होता है। ऐसे ही, वह शब्दों को समझने पहले लगता है, बोलने पीछे।

विकास का वेग प्रत्येक आयु में एक-सा नहीं होता। प्रत्येक बच्चे की अपनी-अपनी अलग-अलग विकासगति होती है। सामान्यत: विकासगति नवजात में तीव्रतम होती है। इसके उपरान्त प्राय: यह गति घटती ही जाती है। बालक को बाह्य तथा आंतरिक उत्तेजनाओं द्वारा अनुप्रेरित सक्रियतातंत्र कहा गया है। यह सक्रियता सक्रिय भी हो सकती है और निष्क्रिय भी। इसकी यह क्रियात्मकता स्वयं इसी को थोड़ा बहुत परिवर्तित भी कर सकती है। इसी को सीखना कहा जाता है। समय बीतने पर बहुत से व्यवहार यंत्रवत् होने लगते हैं और बहुत से जटिलतम एवं कठिनतर व्यवहार सम्भव हो जाते हैं। इनमें प्राय: प्रतीकोपयोगवृत्ति प्रकट होती है। प्रतीक-संसूचन के माध्यमों का, प्रतिक्रिया-प्रेरण के लिए उत्तेजनाओं का, व्यवहार के लिए निर्देशों का, अर्थसंचय के आश्रयों का अथवा समस्या सुलझावन के लिए तत्त्वों का काम देते हैं। कुछ विद्वान् प्रतीकोपयोग का इतना अधिक महत्त्व मानते हैं कि वे इसे बालमनोविज्ञान में प्रमुख विषय का स्थान देते हैं।

जन्मपूर्वकाल

बच्चे के विकास के जन्मपूर्व काल को प्राय: तीन अवधियों में विभाजित किया जाता है। प्रथम दो सप्ताह तक डिम्बकाल होता है, अगले एक मास तक भ्रूण काल और उसके पश्चात् गर्भकाल। प्रथम शारीरिक गति भ्रूण काल के आरम्भ में ही देखी जा सकी है। पहले हृदय-कोशिकाओं में धड़कन होने लगती है, उसके बाद बाह्य विद्युदुत्तेजन से पेशी-क्रिया सम्भव हो जाती है। लगभग डेढ़ मास की जन्मपूर्व आयु पर तंत्रिकीय नियंत्रण में

और दो मास की आयु पर ऐन्द्रिय उत्तेजन की प्रतिक्रिया के रूप में गतियाँ होने लगती हैं। ढाई मास की आयु के लगभग प्रतिवर्त प्रकट होने लगते हैं और तभी स्वचालित अर्थात् अंतर्चालित उँगलियाँ भी आरम्भ हो जाती हैं। ज्ञानेन्द्रियों में सर्वप्रथम स्पर्शेन्द्रिय त्वचा जाग्रत होती है। त्वचा के किसी बिन्दु के कोमल स्पर्शोत्तेजन होने से कोई अंग उसकी ओर गतिशील हो जाता है और तीव्र स्पर्शोत्तेजन से उससे परे हटने लगता है। देह ताप की अपेक्षा न्यून अथवा अधिक ताप के उत्तेजन से ही प्रतिक्रिया होती है। इससे तापबोध का अनुमान किया जा सकता है। परन्तु जन्म से पूर्व पीड़ा के अनुभव की योग्यता होने की सम्भावना कम समझी जाती है। गतिसंवेदना यें चार मास में ही सुविकसित हो जाती हैं। भूख-प्यास आदि आंत्र संवेदनाओं का अस्तित्व निश्चित नहीं है। उल्बद्रव में कोई परिवर्तन न होने के कारण स्वाद एवं घ्राण योग्यता का पता नहीं लगाया जा सकता। श्रवण-योग्यता अवश्य जन्म से पूर्व होती है, क्योंकि माता के पेट के बाहर किये गये तीव्र शब्दों की गर्भ में प्रतिक्रिया होने के लक्षण मिलते हैं, और श्रवणेन्द्रिय का द्रव निकलने पर तत्काल श्रवण होने लगता है। दृष्टिसंवेदना जन्म से दो मास पूर्व संभव हो जाती है, क्योंकि गर्भ में प्रकाश और अँधेरे में भेद युक्त प्रतिक्रियाएँ देखी गयी हैं। प्रायः यह विश्वास किया जाता है कि बच्चे में एक सामान्य बोध शक्ति में से ही धीरे-धीरे विभिन्न विशिष्ट संवेदना योग्यताएँ विकसित होती हैं। बुद्धि-जन्म से पूर्व इस अर्थ में तो मिलती है कि नैसर्गिक तंत्रिकातंत्र द्वारा कुछ समायोजनात्मक प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं। परन्तु अनुभव के अभाव में शिक्षाग्रहण योग्यता के रूप में बुद्धि के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिल सकता। स्पष्ट है सीखना या अभ्यनुबंधन इस जन्मपूर्व-काल में नहीं होता। परन्तु सीखने के लिये आवश्यक पेशीय तंत्रिकायंत्र विकसित हो जाता है।

नवजात :

नवजातकाल नवप्राप्त स्वतंत्र अस्तित्व का काल है। स्वाभाविक प्रतीत होता है कि इसमें जन्म-प्रक्रियाओं के प्रभावों से सँभलना और मूल दैहिक प्रकार्यों के अनुप्राणन एवं अभ्यास द्वारा बाह्य जगत् से समायोजन स्थापित करना ही प्रधान रहे। मनोविश्लेषकों ने इस काल को मासिक आघात-काल कहा है, परन्तु यह मत बहुस्वीकृत नहीं हुआ है। नवजात संवेदनाशील होता है और बाह्य प्रकाश, शब्द, गंध, ताप, स्पर्श, पीड़ा, आंतरिक गति एवं आंत्र-उत्तेजनाओं के प्रति क्रिया करता पाया गया है। उसे उत्तेजनाओं की तीव्रता एवं अवधि में परिवर्तनों का बोध भी होता प्रतीत होता है। उसमें सम्पूर्ण दैहिक तथा विशिष्टांगिक दो प्रकार की क्रियाशीलतायें देखी गयी हैं। सम्पूर्ण दैहिक क्रियाए प्रायः आंतरिक उत्तेजनाओं के प्रति होती पायी गयी है। बाह्य उत्तेजनाएँ केवल ऐसी क्रियाओं

की उत्पत्ति की मात्रा को थोड़ा-सा बढ़ाती अथवा घटाती हैं। विशिष्टांगिक क्रियाओं में कुछ प्रतिवर्ती होती हैं, कुछ आधारभूत दैहिक प्रकार्यों के अंगरूप होती हैं। नवजात में बुद्धि का होना अभी तक स्वीकार नहीं हुआ। परन्तु क्रियात्मकता की मात्रा का उत्तर-कालीन बुद्धि से कुछ संबंध सम्भव माना गया है। सीखने की योग्यता का इतना प्रमाण अवश्य मिला है कि नवजात में अभ्यनुबन्धित प्रक्रियाएँ स्थापित करने में कुछ सफलता प्राप्त हुई है। जहाँ तक उद्वेगों की बात है, नवजात में केवल उत्तेजितावस्थायें पहचानी जा सकी हैं। सुखी भाव तथा दुखी भाव के भेद का कुछ संकेत भी प्रतीत हुआ है। विश्वास किया जाता है कि इन सब बातों में नवजात बच्चों में व्यक्तिगत अंतर अवश्य होंगे, परन्तु इनके प्रमाण अभी कम ही प्राप्त हैं। सक्रियता तथा दुग्धपान में व्यक्तिगत अंतर स्पष्ट दिखे हैं।

शैशव तीव्रवृद्धि, कायिक प्रकार्यों के स्थिरण एवं नियंत्रण, तथा संवेदना एवं प्रति-क्रिया में विस्तार, यथार्थता और विशिष्टता की प्रगति का काल है। शारीरिक वृद्धि की गति कुछ घटने लगती है, परन्तु अब भी तीव्र कही जा सकती है। बालिका की शारी-रिक वृद्धि गति बालकों की अपेक्षा कुछ कम हो जाती है। बाह्य परिस्थितियों के प्रति क्रिया-त्मक समायोजन अब प्रतिवर्ती अथवा निरैच्छिक ही नहीं रहती। क्रियाओं का मस्ति-ष्कीय नियंत्रण आरम्भ हो जाता है। क्रियाएँ इच्छा से अपनायी अथवा छोड़ी जाने लगती हैं। परिवेश के व्यक्तियों के निर्देशन से अथवा उसके बिना भी, शिश का कुछ निश्चित समयानुसार दैनिक कार्यक्रम बन जाता है। प्रथम वर्ष के अंत तक मलमूत्र-त्याग पर नियं-त्रण हो जाता है। मुख्य प्रकार की संवेदनाओं के तंत्र एवं प्रकार्य भी शशव के अंत तक प्रौढ़ता को प्राप्त हो जाते हैं। केवल संवेदनात्मक अनुभवों में सम्पन्नता, विवेक तथा मूल्यांकन का समय तथा शिक्षा के साथ आना अभी रह जाता है। शैशव में अनेक क्रिया-क्षमताएँ प्रकट होती हैं। सर उठाना, बैठना, खड़े होना, चलना, पकड़ना, हस्तवरण इनमें मुख्य हैं।

बोलने लगने से शिशु को अपने परिवेश को समझने और यथासंभव नियंत्रण में रखने का साधन मिलता है। आरम्भ में तो वह अर्थहीन प्रतीत होने वाले शब्दों का ही उच्चारण करता रहता है। परन्तु लगभग छः मास की आयु में इन्हीं शब्दों से सुख अथवा पहचान की अभिव्यक्ति होने लगती है। वर्ष पूरा होने तक वह प्रचलित भाषा का एक शब्द तो बोल ही लेता है। लगभग छः मास और बीतने पर उसके शब्द-ज्ञान में तीव्र गति से वृद्धि होने लगती है। यह प्रगति अंतर्वृद्धियाधारित समझी गयी है, क्योंकि परिवेशजनित उत्ते-जनों के घटने बढ़ने से इसमें कोई अंतर पड़ता प्रतीत नहीं होता। इस काल की भाषा की सार्थकता को शिशु की बुद्धि की पहचान मानने का प्रस्ताव भी किया गया है।

सीखना तो शैशव में होता ही है। ध्यान देने की बात यह समझी गयी है कि इस प्रक्रिया में पहले निष्प्रभ रहने वाली उत्तेजनाएँ अब प्रतिक्रिया उत्पन्न करने लगती हैं, अर्थात् अब औद्वेगिक अनुभव होने लगते हैं। प्रथम वर्ष में सर्वप्रथम क्रोध, फिर जुगुप्सा, फिर भय का प्राकट्य होता है। इनके पश्चात् वर्ष के अंत तक उल्लास और स्नेह का उदय होता है। दूसरे वर्ष से क्रम में बड़ों और छोटों से स्नेह में अंतर, ईर्ष्या और अंत में आनन्द की उत्पत्ति होती है। शैशव में ही औद्वेगिक उत्तेजनाओं के प्रति आगे बढ़ने, पीछे हटने और आक्रमण करने, तीनों प्रकार की प्रतिक्रियाएँ आरम्भ हो जाती हैं। प्रत्यय-विकास भी होने लगता है। छः मास के बच्चों में देश की धारणा मिली है। प्रथम वर्ष के पूरा होने से पहले ही स्मृति के अस्तित्व का प्रमाण स्थगितप्रतिक्रिया-प्रयोग-विधि से मिला है। शिशुओं की बुद्धि का अनुमान उनके सामान्य विकास की गति से तथा परीक्षणाधारित विकासमानों के आधार पर संभव माना जाता है। परन्तु इनसे प्राप्त बुद्ध्यानुमान कालांतर में प्राप्त बुद्धि-परीक्षण-फलों से मेल खाते नहीं पाये गये हैं।

सामाजिक विकास एक मास की आयु में ही बड़ों की उपस्थिति की चेतना से आरम्भ होता है। द्वितीय मास में, बड़ों के देखने के उत्तर में, मुस्कान प्रकट होती है और शिशु माँ को पहचानने लगता है। परन्तु अपरिचित व्यक्ति के प्रति नकारात्मक प्रतिक्रियाएँ छः मास के बाद ही होती हैं। किसी अन्य शिशु की ओर शिशु का ध्यान प्रथम वर्ष के अंत में ही जाता पाया गया है। तब भी मुख्यतः रुचि खिलौनों में होती है। दूसरे वर्ष में धीरे-धीरे खिलौने दूसरों के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने के साधनमात्र रह जाते हैं।

घनिष्ठतम सम्बन्ध माँ-बच्चे का होता है। अतः कुछ समय से इस सम्बन्ध की ओर बालमनोवैज्ञानिकों ने विशेष ध्यान दिया है। आरम्भ में संभव है माँ से शिशु को केवल शारीरिक आवश्यकताओं की संतुष्टि ही होती हो। परन्तु शीघ्र ही माँ का ध्यान अपनी ओर रखना स्वयं स्वायत्त उत्प्रेरण बन जाता है। माँ का सामीप्य और ध्यान प्राप्त करने पर शिशु सुख प्रकट करता है और माँ से दूर हो जाने से दुःखी हो जाता है। मातृ-वियोग एवं माँ द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति से वंचन के प्रभावों का विशेषतः अध्ययन हुआ है। इनके फलस्वरूप, मृत्यु-दर-वृद्धि, विकासाल्पता, उग्र औद्वेगिक विकार और सामान्यतः स्थायी हानि होने के प्रमाण मिले हैं। यही नहीं, सामाजिक विकास, शिशुपालन ग्रहों में उपचारिका रूपी अनेक उपमाताओं के स्थान पर एक मातावत् स्त्री उपलब्ध होने से ही अधिक होता है।

पूर्वबाल्य में सक्रियता की तीव्रता एवं विस्तृतता बढ़ती है, सीखना वेग से आगे बढ़ता है और भाषा एवं सामाजिक विकास के क्षेत्रों में विशेष प्रगति होती है। सामान्यतः स्वास्थ्य अच्छा रहता है। अंतर्वृद्धि द्वारा क्रियात्मकता की विभिन्नता और मात्रा दोनों बढ़ती हैं।

यह काल खेल का काल बन जाता है। इस आयु के बच्चे बड़ी लगन से और बल लगाकर खेलते हैं। इससे और भी अंतर्वृद्धि होती है। चढ़ने, कूदने, फेंकने और तीन पहियों वाली ट्राइसाइकिल आदि चलाने की योग्यता उत्पन्न होती है। आयु के चौथे वर्ष तक शब्दों का उच्चारण सुनने वालों की समझ में स्पष्ट आने लगता है। परिवेश के विस्तार से शब्द-ज्ञान बहुत बढ़ता है। वाक्यों की लम्बाई बढ़ती है। उनकी रचना जटिलतर हो जाती है। उनमें संज्ञाओं का अनुपात घट जाता है। अब भाषा का उपयोग आवश्यकताओं, उद्वेगों और अन्य वर्तमान अनुभवों को व्यक्त करने में ही नहीं, संचित ज्ञान की सूचना देन और प्राप्त करने में भी होने लगता है। कदाचित् बोलने की क्रिया के उत्तेजित तथा पुरस्कृत होने के अवसरों में अंतरों के कारण, भाषायोग्यता में बालिकाएँ बालकों से श्रेष्ठतर पायी गयी हैं, इकलौते बच्चे अन्य बच्चों से श्रेष्ठतर पाये गये हैं, और जोड़े बच्चे, निम्नतर के बच्चे तथा बालगृहों में पलने वाले बच्चे अन्य बच्चों की अपेक्षा पिछड़े रहते देखे गये हैं।

पूर्वबाल्य में होने वाली भाषायोग्यता-वृद्धि बुद्धिमापन को अधिक सरल एवं विश्वास-योग्य बना देती है। परन्तु तीन वर्ष की आयु में प्राप्त बुद्धि-परीक्षणों का छः वर्ष की आयु में प्राप्त अंकों से सहसम्बन्ध तीन वर्ष वाले अंकों के चार वर्ष की आयु में प्राप्त अंकों से सह-सम्बन्ध की अपेक्षा कम पाया गया है। उसके उपरान्त आठ, दस तथा बारह वर्ष की आयु में भी यह सहसम्बन्ध घटता ही जाता है। इससे कुछ बालमनोवैज्ञानिकों को यह निष्कर्ष सूझा है कि सापेक्ष मानसिक योग्यता पूर्वमतानुसार स्थिर नहीं, वरन् परिवर्तनशील होती है। सीखने की गति पूर्वबाल्य में तीव्र हो जाती है। प्रत्यय निर्माण, तर्क और समस्या सुलझाने की योग्यताएँ बढ़ती हैं, सामान्यीकरण पूर्व की अपेक्षा अधिक जटिल होने लगते हैं। पूर्व-बाल्य के अंत तक बच्चा ज्ञान, योग्यता तथा कौशल का प्रभावोत्पादक भंडार संचित कर लेता है।

पूर्वबाल्य में, माताओं पर अति परतंत्र बच्चों को छोड़कर लगभग सभी बच्चों के सामाजिक सम्पर्क निरंतर बढ़ते रहते हैं, घर के बाहर अन्य बच्चों से भी और बड़ों से भी। सामाजिक परिस्थितियों में भाग लेने की इन बच्चों में छः शैलियाँ अथवा मात्राएँ पहचानी गयी हैं—कुछ न करना, अकेले ही क्रियाशील रहना, दूसरों को देखते मात्र रहना, उनके जैसी क्रियाएँ परन्तु उनके निर्देशन के बिना ही करना, उनसे सम्बद्ध होना तथा उनके साथ सहयोगस्तर पर रहना। सामाजिक परिस्थितियों में भाग लेने की मात्रा कुछ-कुछ बुद्धि के साथ और उससे बहुत अधिक मात्रा में आयु के साथ बढ़ती हुई पायी गयी है। इसके साथ ही सामाजिक व्यवहार का स्तर ऊँचा उठता है, उसकी विशिष्टता बढ़ती है, साथियों की संख्या बढ़ती है, विशिष्ट बच्चों के साथ मित्रता की प्रगाढ़ता बढ़ती है, सहानु-

भूति तथा आक्रामकता की अभिव्यक्तियाँ अधिक होती हैं, और सामाजिक वरणों एवं पूर्वाग्रहों का विकास होता है। अब बच्चा भिन्न जातियों, धर्मों और राष्ट्रों के व्यक्तियों में भेद करने लगता है, और उसमें अपने वातावरण में प्रचलित भावों के अनुसार उनके प्रति अनुकूल अथवा प्रतिकूल मनोभाव बन जाते हैं। उद्वेगों में भी नवीन भेद प्रकट होते हैं। लज्जा, ईर्ष्या, चिंता, निराशा, आशा एवं पितृस्नेह का उदय हो जाता है। परन्तु साथ ही उद्वेगों एवं भावों की अभिव्यक्ति पर व्यक्ति का नियंत्रण भी बढ़ जाता है। आत्म-नियंत्रण कुछ सामाजिक परिस्थितियों की आवश्यकताओं से उत्पन्न होता है और कुछ माता-पिता और उनके मूल्यों के साथ तादात्म्य से। बाह्य नियंत्रणों का अनुसरण भी होता है और स्वयं सूझा हुआ आत्म-नियंत्रण भी प्रकट होने लगता है।

उत्तर बाल्य

प्रायः बच्चे उत्तर बाल्य के आरंभ में विद्यालय जाने लगते हैं। उत्तर बाल्य तब से यौवनारम्भ के शारीरिक चिह्नों के प्राकट्य तक माना जाता है। इस सम्पूर्ण काल की प्रमुख विशेषता सामाजिक परिवेश का परिवार, सम्बन्धी-वर्ग और पड़ोस के बाहर विस्तार और अध्यापकों, सहपाठियों, मित्रों, पढ़ाई के कामों और विद्यालय के कार्यक्रमों के प्रति नवीन समायोजनों का स्थापन है। मनोविश्लेषणवादियों ने इसे अव्यक्तता काल अर्थात् कामदमन का काल कहा है। नवीन रुचियों का उदय वास्तव में आंतरिक कामप्रेरणाओं का शोधन अथवा उनके विरुद्ध प्रतिक्रियानिर्माण समझा गया है। अव्यक्तता काल को अहम् के, बाह्य जगत् के समक्ष, बलवान् बनने का काल भी कहा गया है। अब बच्चा जगत् को सर्वक्षम नहीं समझता, और उसके समक्ष अपने को लाचार अथवा दबने को बाध्य नहीं मानता। क्षेत्रवादियों ने भी उत्तरबाल्य को सापेक्ष स्थिरता का काल कहा है। इसे समाजीकरण का काल भी माना गया है। इसी में बच्चा अधिकारियों की आज्ञा का पालन, प्रतियोगितात्मकता, एवं सहयोग सीखता है और बहिष्कार, उत्साहभंग तथा समूहभावना का अर्थ समझने लगता है। अब वह रचनात्मक कार्यों द्वारा मान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इनमें सफलता से, उसमें उद्योग और प्राप्ति के भाव, एवं सर्जन में असफल रहने पर अपर्याप्तता एवं हीनता के भाव उत्पन्न हो जाया करते हैं।

उत्तरबाल्य में विकास के बौद्धिक, सामाजिक, औद्वेगिक आदि विविध अंगों के वर्णन एवं मापन के और उन पर परिवेश के विभिन्न अंगों के प्रभाव के अध्ययन के बहुत प्रयास हुए हैं और अनेक तथ्यों का संग्रह हुआ है। मान-तथ्य ज्ञात करने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। साथ में यह भी स्वीकार किया गया है कि सब व्यक्तियों का विकासक्रम अथवा विकासचित्र एक-सा नहीं होता। विकास के प्रत्येक अंग की अपनी स्वतंत्र गति होती है और वह भी व्यक्ति के साथ बदलती रहती है।

उत्तर बाल्य से बच्चों की शारीरिक आकृति अन्य बच्चों और बड़ों में और स्वयं उनमें भी, मानसिक प्रभाव, मूल्यांकन, एवं प्रतिक्रिया उत्पन्न करने लगती है। उनमें बल, कौशल, सहनशक्ति और प्रतिक्रियागति की वृद्धि होती है। परन्तु उनके विद्यालय में पहुँचने से उनका बौद्धिक सामर्थ्यों का महत्त्व और उपयोग सर्वोपरि हो जाता है। स्मरण, आयोजन, समान्यीकरण, अमूर्तधारणा-निर्माण, तर्क, परिवेश, मानव-जाति एवं सम्पूर्ण जगत् का बोध तथा सामूहिक बौद्धिक कार्य की क्षमता का पर्याप्त प्रमाण मिलने लगता है। ज्ञानवृद्धि तो विद्यालयकाल में होना स्वाभाविक ही है। तर्क करने में और समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करने में अब स्वयमात्मक भाव छूटने लगते हैं और तथ्यात्मकता अपनायी जाने लगती है। कार्यकारण-विचार की योग्यता बढ़ती जाती है। इस काल में बुद्धि के परीक्षणोपयुक्त लक्षण वस्तुओं से सरल क्रियाएँ कर पाना, प्रत्यक्षात्मक भेद, अमूर्त तर्क, उपमात्मक विचार, शब्दज्ञान, स्मृति, समझ, अर्थग्रहण और वाक्य-पूर्ति हैं। मानसिक आयु वर्षक्रमात्मक आयु के साथ बढ़ती हुई पायी जाती है। परन्तु इस वृद्धि की गति नौ दस वर्ष की आयु तक बढ़ती है और फिर घटने लगती है। उत्तरबाल्य के अंत तक बुद्धि-लब्धि स्थिर हो जाती है और कालांतर में प्राप्य बुद्धि-परीक्षण फलों से पर्याप्त मेल खाने लगती है। इस काल की बौद्धिक प्रगति निष्पत्ति-प्रेरणा, स्वाधीनता, आक्रामकता, आत्मप्रेरण, समस्यासुलझावन-वृत्ति, प्रत्याशा, प्रतियोगी भाव आदि व्यक्तित्व गुणों पर निर्भर पायी गयी है।

विद्यालय में आने पर बच्चे को अनेक समायु बच्चों से सम्पर्क का अवसर मिलता है। अतः उसके मन में मैत्री के सम्बन्धों का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। वह माता-पिता अथवा परिवार के नियंत्रण एवं रक्षण पर निर्भर रहता हुआ भी संग के लिए उन पर निर्भर नहीं रहता। उसके मित्र और साथी उसे संग भी प्रदान करते हैं और नवीन व्यवहार-शैलियाँ, रुचियाँ, भाववृत्तियाँ एवं मूल्यधारणाएँ भी। इस काल के आरम्भ में बालसमूह स्वजात एवं अनौपचारिक होते हैं। उनके कोई बहुत नियम नहीं होते और समूहों की सदस्यता अति परिवर्तनशील होती है। धीरे-धीरे समूह विशिष्ट रूप ले लेते हैं। औपचारिक सदस्यता अनिवार्य हो जाती है। समागम विधियाँ बन जाती हैं। उत्तरबाल्य के आरम्भ में बालसमूहों में बालक-बालिकाएँ आपस में पूरी तरह मिलती-जुलती हैं। परन्तु धीरे-धीरे आयु बढ़ने के साथ-साथ बालकों-बालिकाओं के अलग-अलग समूह बनने लगते हैं। बाल-मनोवैज्ञानिक कुछ समय तक यह अनुमान करते थे कि इस आयुस्तर पर बालकों और बालिकाओं में स्वाभाविक विरोध-भाव होते हैं। परन्तु अब कई बालमनोवैज्ञानिक इस लिंगीय पृथक्करण का कारण उनमें रुचियों और कार्यों का बढ़ता हुआ अंतर ही समझते हैं। वास्तव में उत्तरबाल्यावस्था के बच्चे का झुकाव सलिंग ही नहीं, अपने मुहल्ले, अपनी

कक्षा, समान आयु, समान लम्बाई, समान भार, समान बुद्धि और समान सामाजिक प्रौढ़ता वाले बच्चों की ओर भी देखा गया है। परस्पर मित्रों में विशेषतया आकर्षक, आक्रामक एवं नेताई गुण पाये गये हैं। परन्तु इस आयुकाल में मित्रता अस्थायी होती है। मिलने के अवसर घटने पर, झगड़ा हो जाने पर अथवा रुचियाँ बदल जाने पर मित्रता झट समाप्त भी हो जाती है। विद्यालयों के वच्चों में लोकप्रियता एवं नेतृत्व अथवा सामाजिक पद के अन्य लक्षणों का समाजमिति द्वारा बहुत अध्ययन हुआ है। इनमें लोकप्रियता को प्रायः नेतृत्व, उत्साह, हँसमुखता और मैत्री-भावों से सहसम्बन्धित पाया गया है। लोकप्रिय बालक खेलकूद में कुशल, साहसी तथा नेतृत्वगुण-प्रवीण प्रतीत होने वाले होते हैं। लोकप्रिय बालिकाएँ विनीत एवं स्वाग्रह-रहित होती हैं। प्रायः इस आयु काल के बच्चे उन समायु बच्चों को ही प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं जो लिंगानुसार उपयुक्त व्यवहार एवं कर्म करते हैं। बच्चों की बच्चों ही में लोकप्रियता उनके परिवारों के सामाजिक स्तर पर भी निर्भर होती है। निम्नस्तर के बच्चे अन्य बच्चों में अपेक्षाकृत कम लोकप्रिय होते हैं, उनके कम मित्र होते हैं, और वे असुन्दर, आक्रामक, अशिष्ट, दुःखी एवं अन्यायी समझे जाते हैं।

इसी अवस्था में बालकों-बालिकाओं की रुचियों में भेद हो जाता है। बालकों का खेल सक्रिय, बालोपयोगी, प्रतियोगितात्मक तथा कौशल-प्रदर्शक, और बालिकाओं का खेल शांत तथा मंदगति हो जाता है। आठ नौ वर्ष तक बालक-बालिकाएँ चमत्कारों, अलौकिक जीवों, प्राकृतिक घटनाओं और विदेशों की कहानियाँ पसंद करती हैं। परन्तु इसके उपरान्त बालकों को साहस, समन्वेषण, रहस्य आदि की कहानियों और महान् पुरुषों के जीवन-चरित्रों में और बालिकाओं को प्रेम-कथाओं और घरेलू विषयों में अधिक रुचि होने लगती है। मूल्यकरण और मनोभाव अब सामान्य रूप से प्रौढ़ व्यक्तियों के मानदंडों के अनुरूप होते जाते हैं। नैतिक निर्णयों में आदेशवाद का अंश घटने लगता है। लगभग सात वर्ष की आयु में बच्चा सोचने लगता है कि बुरा काम करते समय पकड़े जाने की संभावना है, अर्थात् कर्म के परिणाम का ध्यान आने लगता है। लगभग नौ वर्ष की आयु में कर्मों की आलोचना कर्त्ता के मन्तव्यों के आधार पर होने लगती है। ऐसे ग्यारह-बारह वर्ष की आयु में सहयोग, दूसरों के आदर, समूह की आवश्यकता, और इच्छाओं, न्याय आदि का ध्यान आने लगता है। जहाँ बड़ों का कड़ा नियंत्रण होता है, वहाँ बच्चों का व्यवहार अब भी बड़ों के आदेशानुसार चलता है। परन्तु जहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ बड़ों से अधिक मित्रों का और समानायु-समुदाय का अनुकरण होने लगता है। इस आयुकाल से विचार और व्यवहार में अंतर भी प्रकट होने लगता है। प्रतियोगिता एवं प्रतिद्वन्द्विता के भाव तीव्र हो जाते हैं। स्वार्थ भी सिर उठाने लगता है। परार्थ-पथ पर चलने के लिए

पुरस्कारों का प्रलोभन भी विशेष सफल नहीं होता। परन्तु जिन बच्चों का अपने माता-पिता के साथ स्नेहपूर्ण सम्पर्क चलता रहता है, उनमें अब भी सचाई, नैतिक उत्साह, मैत्री, भक्ति और उत्तरदायित्व भावना की प्रधानता रहती है। तिरस्कृत बच्चों में अपेक्षाकृत अरक्षितता-भाव, अस्थिरता, माता-पिता एवं अन्य अधिकारियों के प्रति रोष और सामाजिक नियमों के प्रति विद्रोह के लक्षण मिले हैं। सामाजिक स्तरानुसार भी व्यवहार में अंतर पाया गया है। मध्यस्तर के बच्चे भावी पुरस्कार की आशा में तात्कालिक संतुष्टि को स्थगित करना सीख लेते हैं और विरोधभावों को दबा भी लेते हैं। परन्तु निम्नस्तरीय बच्चे वर्तमान प्रेरणावश तात्कालिक संतुष्टि ही चाहा करते हैं। उनका आक्रामक वृत्तियों की व्यवहारिक अभिव्यक्ति की ओर कुछ अधिक झुकाव होता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने अंतर्व्यक्तिगत एवं नैतिक व्यवहार पर मानसिक वातावरण के प्रभाव की ओर विशेष ध्यान दिया है। बढ़ती हुई आयु के साथ बच्चे बड़ों के अंतर्जातीय पूर्वाग्रह और तनाव भी अपना लेते हैं। कुछ बच्चे असहिष्णु होते हैं। वे आक्रामकभावपूर्ण तथा प्रचलित सामाजिक कार्यवितरणों एवं मूल्यकरणों के अनुकरण में संकीर्ण एवं कठोर पाये गये हैं। वे दूसरों को संदेह तथा उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। उन्हें यह डर रहता है कि उनके साथ अन्याय होगा, उनसे लोग अनुचित लाभ उठा लेंगे, या उनको किसी प्रकार वंचित कर देंगे। ऐसे बच्चों को माता-पिता की ओर से आदेशपूर्ण नियंत्रण, कर्कशता दण्ड और अस्नेह ही मिला होता है।

किशोरावस्था

किशोरावस्था के विषय में अनेक धारणाएँ हैं। इसे अंतर्बृद्धि द्वारा प्रजनन-योग्यता-प्राप्ति अर्थात् यौवनारम्भ का काल समझा गया है। बाल्य एवं प्रौढ़ता के बीच का संक्रमण काल भी कहा गया है। विकास में मानसिक उपद्रव का, विशिष्ट प्रकार की समायोजन-समस्याओं का, नवीन मोड़ों का, और व्यक्तित्व के मौलिक पुनर्गठन का, संकटपूर्ण एवं निर्धारक काल भी माना गया है। मनोविश्लेषणवादियों एवं अनेक अन्य विद्वानों का मत है कि यौवनारम्भ से किशोर के अव्यक्त मन की शान्ति एकाएक भंग हो जाती है। एक नवीन प्रबल उपद्रवकारी प्रवृत्ति का उदय होता है। इससे अनेक चिंताएँ उत्पन्न होती हैं। इन चिंताओं के नियंत्रण के लिए कई स्वरक्षातंत्रों का उपयोग होने लगता है, और व्यक्ति को अपनी कामेच्छाओं को किसी उपयुक्त काम-विषय पर लक्षित करने की आवश्यकता पड़ती है। इसी से इस काल में तनाव की ओर भटकने के लक्षण मिलते हैं। बालक-बालिकाओं में अलगाव व्यक्त होने लगता है। कदाचित् काम की ललकार से बचने के लिए ही डायरी लिखने, अत्यधिक पढ़ने और दार्शनिक तर्क करने की वृत्ति बढ़ती

है। थोड़े-थोड़े समय के लिए एक-एक करके अनेक समायु व्यक्तियों से अनुराग देखने में आता है। इसे भी एडिपी चित्तवृत्तियों के विरुद्ध स्वरक्षा-तंत्र माना गया है। इस मनोविश्लेषणात्मक मत के विपरीत यह संस्कृतिवादी मत है कि किशोरावस्था जीवनदेश के संवेग, भौगोलिक, सामाजिक, एवं भविष्यकालिक विस्तार के अनुभव का काल है। इसके तीव्र वेग के कारण व्यक्ति के कर्म में बाल्य एवं प्रौढ़ता की परस्पर व्याप्ति व्यक्त होती है। जीवनदेश का गतिशील, विविधतापूर्ण संस्कृति में विस्तार उसे अनेक ऐसी अस्पष्ट, बहुतार्थक, एवं विरोधपूर्ण परिस्थितियों में डाल देता है, जिनको सँभालना अभी उसे नहीं आता। उससे कभी बालवत् और कभी प्रौढ़वत् व्यवहार की आशा की जाती है। परिणामस्वरूप किशोरों में मूल्य-संघर्ष, औद्वेगिक तनाव, अतिभावुकता, संकोच तथा आक्रामकता आदि लक्षण प्रकट होते हैं। मनोविश्लेषणवादी किशोरकाल को अवश्यम्भावी एवं सार्वलौकिक मानते हैं, परन्तु संस्कृतिवादी विकास में इसे आवश्यक नहीं, परिस्थितियों पर निर्भर मानते हैं। इनके मतानुसार, यदि किसी परिवार में बच्चों को आरम्भ से ही धीरे-धीरे प्रौढ़ अनुभवों के और विस्तृत परिवेश के सम्पर्क के अवसर प्रदान किये जाते हैं, तो उन्हें किशोर-काल से निकलने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती और वे सीधे प्रौढ़ावस्था में प्रवेश कर लेते हैं। परन्तु अधिकांश बालमनोवैज्ञानिक उपरोक्त दोनों मतों के बीच रहते हुए वैयक्तिक अंतर्वृद्धि और सांस्कृतिक परिस्थितियों दोनों को प्रेक्ष्य किशोर-वृत्तियों और समस्याओं के संयुक्त निर्धारक समझते हैं और उपद्रव, तनाव तथा संकट को सर्वथा आवश्यक न कहते हुए प्रायः वास्तविक मानते हैं।

अनुसंधानफल उक्त उपद्रव के पक्ष में भी मिलते हैं और विपक्ष में भी। किशोरों की चिंताओं, विद्यालयों की कक्षाओं में उद्वेगों के आवेशों, मसिखण्ड-परीक्षण पर दीर्घदृष्ट्यात्मक प्रदत्तों, एवं प्रश्नावली-विधि से प्राप्त मस्तिष्कीय लक्षण-सम्बन्धी तथ्यों के अध्ययनों में औद्वेगिक उपद्रव की कोई विशेष वृद्धि नहीं प्रतीत हुई है। मनोविकारों तथा आत्महत्याओं की आवृत्ति किशोरावस्था के साथ बढ़ती अवश्य है, परन्तु किशोरावस्था के उपरान्त भी बढ़ती चली जाती है। दाँतों से नखों को काटते रहना पूर्व अध्ययनों में किशोरों में बहुत पाया गया था, परन्तु बाद के अध्ययनों में इतना अधिक प्रचलित नहीं निकला है। कामेच्छाओं की वृद्धि और सामाजिक परिवेश का विस्तार दोनों धीरे-धीरे होने वाली क्रियाएँ सिद्ध हुई हैं। फिर भी किशोरों में छोटों अथवा बड़ों की अपेक्षा अधिक अंतर्मुखत्व, प्रक्षेपक-परीक्षण-सामग्री के समक्ष अधिक अशांति, 'भय', 'दुःख', 'चिन्ता' आदि शब्दोत्तेजनाओं पर अधिक प्रतिक्रिया काल तथा संकटभावना के अन्य प्रमाण मिले हैं। यह सुझाव भी दिया गया है कि किशोरों में दृष्टिगोचर संकटभावना वास्तव में प्रौढ़ों अर्थात् माता-पिताओं, अध्यापकों, अध्यापिकाओं, अनुसंधायकों तथा लेखकों की अपनी

संकट-भावना का प्रतिबिम्ब अथवा प्रक्षेप मात्र है। किशोरावस्था में शारीरिक वृद्धि का महत्त्वपूर्ण सामाजिक महत्त्व है। किशोरों में इसके विषय में पर्याप्त ज्ञान के अभाव और इसके तथा अपनी संस्कृति में प्रचलित आदर्शों के वैपरीत्य से किशोरों में समायोजन समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। इस सबसे बेडौलपन तथा व्यावहारिक उपद्रव पूर्वकाल के अध्ययनों में तो प्रतीत हुआ था, परन्तु उत्तरकाल के अध्ययनों में नहीं पाया गया है। संभव है अध्ययनकर्त्ताओं द्वारा प्रयुक्त कसौटियाँ बदली हों, न्यादर्शन-यथार्थता में अन्तर हुआ हो अथवा वास्तविकताओं में समय के साथ परिवर्तन हुए हों।

बुद्धिपरीक्षणों के द्वारा किशोरावस्था में बुद्धि अर्थात् शिक्षा-ग्रहण-योग्यता के विकास की गति धीमी पड़ती प्रतीत हुई है और प्रायः यह प्रतीत होता है कि २० वर्ष की आयु के लगभग यह विकास समाप्त हो जाता है। परन्तु कुछ अध्ययनों में यह विकास ३० और ५० वर्ष की आयु तक भी देखा गया है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने किशोरावस्था में विशेष स्थान सामाजिक विकास को और परस्पर अंतर्व्यक्तिगत सम्बन्धों के विकास को दिया है। विलिंगीय व्यक्तियों में मित्रता का पाश्चात्य किशोर-जीवन में विशेष प्रचलन है, परन्तु भारतीय किशोरजीवन में प्रायः ऐसा नहीं है। फिर भी, लगभग सब संस्कृतियों में, किशोर-जीवन मित्रता-केन्द्रित अवश्य है। मित्रता कदाचित् बड़ों के प्रभाव के कारण प्रायः अपने ही आर्थिक, जातीय, धार्मिक अथवा बौद्धिक वर्गवालों के साथ हुआ करती है। इन सामाजिक सम्बन्धों के अतिरिक्त किशोरों की रुचियाँ मुख्यतः मंदगति-जीवन में, तथा संसार का विस्तृत बोध प्राप्त करने में हुआ करती हैं। उनमें अमूर्त विषयों पर विचार एवं वादविवाद की योग्यता बढ़ गयी होती है। परिणाम-स्वरूप उनकी सत्य, धर्म, उत्तर-दायित्व, नीति, श्रेष्ठता आदि की धारणाओं में परिवर्तन हो जाते हैं। और कम से कम कथनी में और कुछ-कुछ करनी में किशोर अधिक उदार और सहिष्णु हो जाते हैं। उनके नैतिक निर्णय निरपेक्ष मानदंडों पर नही, व्यावहारिक चातुर्य, बौद्धिक विश्लेषण एवं भावात्मक प्रतीतियों पर अधिक मात्रा में आधारित होते हैं।

कुछ समय से किशोरावस्था में व्यावसायिक विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। यह मत बढ़ता जा रहा है कि किशोर के लिए अपना व्यवसाय चुनना केवल अपने व्यक्तिगत गुणों और विशिष्ट व्यवसायों की आवश्यकताओं का मेल बैठाना ही नहीं है। व्यक्ति की अपनी आवश्यकताएँ भी होती हैं, और व्यक्ति विभिन्न व्यवसायों को विभिन्न मात्रा में अपनी आवश्यकताओं के पूरा करने में अर्थात् संतुष्टि प्रदान करने में समर्थ समझता है। इस मत के अनुसार किशोर का व्यावसायिक विकास इस बात में है कि वह कल्पना की दृष्टि से अपने को विभिन्न व्यवसायों में पड़कर उनके कर्म करता हुआ देख सके और

इस प्रकार उसके मूल्यांकन के आधार पर अपने में व्यवसाय-चयन और व्यावसायिक व्यवहार का विकास करे।

बाल-मनोविज्ञान का अध्ययन कालानुसार ही नहीं, विकासांगानुसार भी किया जाता है। शारीरिक विकास, क्रिया-सामर्थ्य-विकास, भाषा-विकास, बुद्धि-विकास, औद्वेगिक विकास, सामाजिक विकास, खेल-विकास, काम-विकास, नैतिक विकास, व्यक्तित्व-विकास आदि अनेक विकासांगों का अलग-अलग अध्ययन किया जाता है। यहाँ पर प्रमुख चार विकासांगों के विषय में थोड़ा सा परिचय दिया जाता है।

क्रिया सामर्थ्य विकास

क्रियासामर्थ्य विकास के जिन अंगों का अध्ययन किया गया है, उनमें मुख्य नवीन क्रिया-सामर्थ्यों का उदय, विशिष्ट क्रियाओं की सामर्थ्य में वृद्धि, और क्रियाओं में शरीर के विभिन्न अवयवों का सफलतर समन्वय है। अधिकांश अध्ययन विकास के आयुमानों को स्थिर करने के प्रयत्न में हुए हैं। जन्मपूर्व काल में कोई स्वचालित क्रिया नहीं पायी गयी है, केवल पेशियों की अंतर्वृद्धि के साथ-साथ धीरे-धीरे प्रतिवर्तों का उदय होता है। एक मान्यता यह रही है कि जन्म के उपरान्त पहले सर्वांगी क्रियाएँ होती हैं, फिर उनमें से विशिष्टांगी क्रियाओं का विकास होता है। परन्तु नवजात में दोनों प्रकार की क्रियाएँ पायी जाने से इस मान्यता पर आपत्ति हुई है। शैशव हाथों से ग्रहण करने, फेंकने, मारने आदि की क्रियाओं और चलने की क्रियाओं के विकास पर केन्द्रित प्रतीत हुआ है। पूर्वबाल्य में कौशल का विकास होता है, और अनेक कौशलों के विषय में आयु के अनुसार मध्यक निष्पत्ति अंक ज्ञात किये गये हैं। उत्तरबाल्य में अनुभव की वृद्धि के साथ इन सब में कुशलता बढ़ती है। किशोरावस्था में इस विकास में आयु के साथ-साथ लिंग, लम्बाई और भार महत्त्वपूर्ण निर्धारक हो जाते हैं, और प्रत्येक के लिए अलग-अलग मानक ज्ञात करने का प्रयत्न हुआ है। इसके अतिरिक्त जाति, बुद्धि, अभ्यास एवं शिक्षा का क्रियासामर्थ्य-विकास पर प्रभाव भी अनुसंधान का विषय रहा है। कुछ अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकलता प्रतीत होता है कि किसी बच्चे की क्रियासामर्थ्य में श्रेष्ठता की मात्रा शैशव में, या संभव है पूर्वबाल्य तक, समस्त उत्तरकाल के लिए निश्चित हो जाती है, और विद्यालयों में किये जा सकनेवाले प्रयासों से उसमें कोई विशेष अंतर हो जाने की आशा नहीं है।

औद्वेगिक विकास

नवजात शिशुओं में तीव्र, कष्टदायी एवं दीर्घकालिक उत्तेजनाएँ स्पष्ट तीव्र उत्तेजन उत्पन्न करती हैं, परन्तु इस प्रक्रिया में न तो मानसिक अवस्था में, न उत्तेजकों में और न अभिव्यक्तियों में विशिष्टता होती है। शैशव के अंत में आत्मप्रत्यय और भेदात्मक बोध

के विकास के साथ औद्वेगिक अवस्थाएँ, भय, क्रोध आदि के विशिष्ट रूप लेने लगती हैं। व्यवहारवादियों ने भय, क्रोध और प्रेम तीन उद्वेगों को मौलिक रूप में भिन्न माना था, परन्तु अनेक प्रायोगिक तथ्य इस मत के विपक्ष में समझे जाते हैं। मनो-विश्लेषणवादियों द्वारा वर्णित अहम्-विकास में आशंका की प्रधानता भी अविशिष्ट उद्वेगों की अवस्था में ही संभव मानी जाती है। आयु के साथ उद्वेगों में विशिष्टता ही नहीं आती, उद्वेगोत्तेजक भी बदलते जाते हैं। बच्चा नई-नई उत्तेजनाओं के प्रति औद्वेगिक प्रतिक्रियाएँ करने लगता है। यह परिवर्तन कुछ परिवार अथवा प्रचलित संस्कृति के प्रभाव से होते हैं, कुछ उत्तरोत्तर अंतर्वृद्धि से और कुछ जीवन के व्यक्तिगत व्यावहारिक अनुभवों से। कुण्ठा के प्रति सहनशीलता बढ़ जाती है और प्रबल औद्वेगिक प्रतिक्रियाएँ घट जाती हैं। आत्मा-लोचना बढ़ने से चिंताभाव भी बढ़ जाते हैं, बोधक्षेत्र बढ़ने से उद्वेग-क्षेत्र का विस्तार भी बढ़ता है। निकटवर्ती ही नहीं, दूरवर्ती उत्तेजनाएँ भी, और मूर्त ही नहीं, अमूर्त उत्तेजनाएँ भी, उद्वेग उत्तेजित करने लगती हैं। ज्ञान और अनुभव बढ़ने से और परि-स्थितियों का सामना करने की योग्यता बढ़ने से बहुत-सी उत्तेजनाएँ अब कोई उद्वेग उत्पन्न नहीं करतीं।

विकास के साथ उद्वेगों की अभिव्यक्ति भी अविशिष्टता से विशिष्टता की ओर बढ़ती है अविशिष्टता में निस्सहायता भी। विशिष्टता आने से अभिव्यक्ति सबल हो जाती है, प्रचलित सांस्कृतिक प्रभाव उसे अनुमोदित रूप दे देते हैं। साथ ही संस्कृति बच्चों को उद्वेगों की अभिव्यक्ति का नियंत्रण भी सिखाती है। इस नियंत्रण से उद्वेग दीर्घकालिक भी हो जाते हैं। भय, चिन्ता, क्रोध और स्नेह में होने वाले विकासात्मक परिवर्तनों पर विशेष ध्यान दिया गया है। कुछ समय से बालोत्प्रेरणों को समझने के अनेक प्रयत्न हो रहे हैं।

बौद्धिक विकास

बौद्धिक विकास में कालानुसार बौद्धिक क्षमताएँ बदलती रहती हैं। प्रत्येक क्षमता के विकास की अपनी अलग गति होती है और वह भी आयु के साथ परिवर्तित होती रहती है। प्रत्येक बच्चे के बौद्धिक विकास के चित्र में अपनी व्यक्तिगत विचित्रता तो होती ही है। बुद्धिपरीक्षा से प्राप्त मानकों के आधार पर शैशव में अति तीव्रगति-विकास और फिर बढ़ती हुई गति से किशोरावस्था के अंत तक वेग की कमी की धारणा बनती है। जीवन के आरम्भ में बौद्धिक विकास दैहिक, ऐन्द्रिय और क्रियासामर्थ्य विकास के साथ घुला-मिला होता है। फिर धीरे-धीरे चैतन्य की वृद्धि होती है। अर्थपूर्ण भाषा, मुखाकृति और इशारों का उदय होता है। अमूर्त विचार और प्रतीकोपयोग का आरम्भ होता है। अब बुद्धिपरीक्षण फल उत्तर कालीनबुद्धिपरीक्षण फलों से महत्त्वपूर्ण मात्रा में सहसम्बद्ध होने

लगते हैं। पूर्वबाल्य में बौद्धिक योग्यताएँ विशेषतया सामाजिक एवं भाषा-विकास में प्रयुक्त होने लगती हैं। अवधान का विस्तार बढ़ता है। जटिल लक्ष्योन्मुख कामों में ध्यान जमने लगता है। इसके उपरान्त बच्चा विद्यालय में प्रवेश पाता है और वहाँ प्रायः उसकी बौद्धिक योग्यताओं का समगति से विकास होता रहता है। विभिन्न बौद्धिक योग्यताएँ स्वतंत्र रूप से अपनी-अपनी अलग-अलग गति से विकसित होने लगती हैं।

बच्चों की बुद्धि की स्थिरता के भी अनेक अध्ययन किये गये हैं। उनके बौद्धिक जीवन के अनेक अंगों का अलग-अलग अध्ययन भी हुआ है। विशेषतः बच्चों की देश-धारणाएँ, काल-धारणाएँ, पदार्थ-धारणाएँ, संख्या-धारणाएँ, सम्बन्धों की धारणाएँ और इनमें भी कार्य-कारण-सम्बन्ध की धारणाएँ उल्लेखनीय अनुसंधान-विषय रहे हैं। बाल-अनुभव एवं बाल-व्यवहार में क्रम-संयोजन, संचयन तथा समन्वय पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। बच्चों में प्रत्यक्ष, भाषा, प्रत्यय-निर्माण और योग्यता-परिवर्तन का भी अध्ययन हुआ है।

सामाजिक विकास

सामाजिक विकास का दो अंगों में भेद किया गया है और दोनों अंगों के अध्ययन हुए हैं। एक ओर बच्चा अनेक सम्भव मानव-व्यवहार-शैलियों में से किसी एक व्यवहार-शैली को अपना कर उसकी संकुचित सीमाओं में बँध जाता है। इस प्रक्रिया को प्रायः समाजीकरण कहा गया है। स्वाभाविक है कि इस प्रक्रिया में वह अपने समाज, अपने वातावरण, अपने परिवार, अपने साथियों, अपने पड़ोसियों, अपने अध्यापकों आदि से प्रभावित हो। दूसरी ओर बच्चे का सामाजिक संसार फैलता जाता है। वह नये-नये व्यक्तियों और वर्गों को अपनाता रहता है, रुचियोग्य, संगयोग्य, सेवा-योग्य मानता रहता है। सामाजिक विकास के अध्ययनों के कुछ प्रमुख विषय बच्चों में मैत्री-व्यवहार, आक्रामकता, भाषा, प्रतियोगिता, नेतृत्व, खेल, सामूहिक व्यवहार, नैतिक निर्णय तथा सामूहिक पूर्वाग्रह रहे हैं। कुछ समय से इस विषय में सिद्धान्त स्थिर करने का प्रयत्न भी हुआ है कि सामाजिक विकास कैसे हो जाता है। इसको मूलप्रवृत्त्याधारित नहीं, शिक्षाग्रहणाधारित होना स्पष्ट समझा गया है। परन्तु व्यक्तिगत सीखने के नियम इसे समझने के लिए पर्याप्त नहीं समझे गये हैं। अतः सामाजिक सीखना स्वतंत्र महत्त्व-पूर्ण अनुसंधान-विषय बन गया है। प्रायः इसके अध्ययन में सामाजिक विकास के किसी अंग को प्रायौगिक परिवर्त्य के रूप में चुन लिया जाता है। जैसे, बच्चे का समाजमितिक परीक्षणफल, उसका नैतिक निर्णय परीक्षणांक, उसकी मैत्रीमात्रा का अंकन या किसी मनो-भाव-परीक्षण पर उसका अंक ले लिया जाय। अब इस परिवर्त्य पर परिवेश के किसी

शिक्षादायक अंग का, जैसे किसी चलचित्र प्रदर्शन का, किसी यात्रा का, मित्रों का अथवा किसी विशिष्ट प्रकार के वातावरण का प्रभाव देखने का प्रयत्न किया जाता है ।

सामाजिक विकास का एक मुख्य माध्यम अनुकरण है। इसके विषय में प्रमुख सिद्धान्त यह है कि बच्चे अवचेतन अनुकरण द्वारा अपने माता-पिता, अन्य समीप के व्यक्तियों, अपने लिए किसी प्रकार महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों, शक्तिशाली समझे जानेवाले व्यक्तियों तथा पुरस्कृत करने वाले व्यक्तियों के गुणों और व्यवहार के ढंगों को बिना सिखाये अपना लेते हैं। बच्चों का माता-पिता या अन्य किसी व्यक्ति से तादात्म्य स्थापन इसी प्रक्रिया पर आधारित समझा गया है। एक अन्य माध्यम समायु-समूह तथा कक्षा-समूह आदि लघु समूहों में बच्चों की परस्पर अंतःक्रिया है । इससे उनकी सामाजिक ग्राह्यता का क्षेत्र बढ़ता है, उनकी सहानुभूतियाँ विस्तृत होती हैं, और वे दूसरों के लिए स्वार्थ का कुछ त्याग करने लगते हैं। इसी से वे अपने समाज के प्रचलनों और मनो-भावों को सीखते हैं। बच्चे अपने अध्यापक अथवा नेता द्वारा प्रदर्शित मनोभावों को व्यवहार में लाते हैं और इसमें अध्यापक अथवा नेता द्वारा निर्मित लोकतांत्रिक, आदेश-वादी अथवा स्वतंत्रतापोषक वातावरण द्वारा प्रभावित होते हैं । बच्चों के काम-व्यवहार और सीखने पर सामूहिक परिस्थितियों के प्रभाव देखने के लिए अनेक प्रयोग हुए हैं । बच्चे अकेले की अपेक्षा समूह में, संभवतः प्रतिष्ठाप्राप्ति प्रेरणा अथवा प्रतियोगिता-भाव के कारण, अधिक परिश्रम करते और अधिक गति से और अधिक कौशल से भी काम करते पाये गये हैं। परन्तु सामूहिक परिस्थिति में किये हुए काम में अकेले किये हुए काम की अपेक्षा त्रुटियाँ अधिक पायी गयी हैं । उत्पादकता ही नहीं, समूह द्वारा बच्चों के आत्म-प्रत्यय और उनके आत्मसंतोष के निर्धारण पर भी ध्यान दिया गया है । समूह का बच्चे के सामाजिक मनोभावों पर प्रभाव इस बात पर निर्भर देखा गया है कि समूह इसे कहाँ तक स्वीकार्य, प्रिय, एवं आनन्ददायक प्रतीत होता है। एक तीसरा माध्यम अपने परिवार, समुदाय, जाति, समाज, धर्म, समूह, राष्ट्र आदि की संस्कृति एवं जीवन शैली का ग्रहण है। शिष्टता के नियम, गार्हस्थ्यनिर्माण, आक्रमण-शैली, व्यय एवं संचय-सम्बन्धी आदतें, अवकाशोपयोग आदि भी बच्चा इसी के द्वारा सीखता है ।

बच्चों में अंतर्जातीय पूर्वाग्रहों के विकास के बहुत अध्ययन हुए हैं। इनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि ऐसे पूर्वाग्रह लगभग ५ वर्ष की आयु तक बनने लग जाते हैं और प्रायः १४ वर्ष की आयु तक पक जाते हैं । फिर भी इनको अन्य जातियों के विषय में ज्ञान की वृद्धि द्वारा, और इनके संग रहने, काम करने और खेलने के अवसरों के निर्माण और उपयोग द्वारा कम किया जा सकता है । ऐसी ही समस्या अपने समाज के प्रति भक्ति-भाव के विकास की है । एक सिद्धान्त यह रहा है कि बच्चे की भक्ति का क्षेत्र लघु समूहों

से आरम्भ होकर फैलता जाता है और सम्पूर्ण मानवता तक पहुँच जाता है। परन्तु छोटे-बड़े समूहों के प्रति भक्ति में परस्पर विरोध भी देखा जाता है। लघु समूह-भक्ति बच्चे को संकीर्ण क्षेत्रों में सीमित रख सकती है। बड़े समूह के प्रति भक्ति उसे छोटे समूह के प्रति उपेक्षा सिखा सकती है। समाज प्रायः बच्चे में बड़े समूहों के प्रति भक्ति-भाव रखने के विषय में चिंतित रहा है। प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकला है कि बड़े समूह में उसके जीवन में पर्याप्त सुखमय अनुभवों को उपलब्ध करने से और उनके महत्त्व की ओर उसका चेतन ध्यान आकर्षित करने से इस उद्देश्य में सफलता मिल सकती है। विस्तृत समूह-भक्ति की शिक्षा के लिए सर्वोपयुक्त आयु कौन सी है और छोटे समूहों के प्रति भक्ति द्वारा बड़े समूह से भक्ति सिखायी जा सकती है कि नहीं; कुछ नव प्रस्तुत प्रश्न हैं, जिनका निश्चित उत्तर अभी ज्ञात नहीं।

१०

शिक्षा-मनोविज्ञान

मनोविज्ञान की अनुप्रायोगिक शाखाओं में प्रमुख स्थान शिक्षा-मनोविज्ञान का है। इसके कार्य के विषय में अनेक धारणाएँ हैं। सबसे पुरानी धारणा यह है कि शिक्षा-मनोविज्ञान का काम सामान्य मनोविज्ञान के शिक्षा के क्षेत्र में उपयोगी हो सकने वाले सिद्धान्तों तथा तथ्यों का संकलन करना, शिक्षा के क्षेत्र में से उनके उदाहरण प्रस्तुत करना और अनुमान द्वारा इस क्षेत्र में उनके व्यावहारिक अनुप्रयोग के विषय में सुझाव देना है। इस मत के अनुसार शिक्षा-मनोविज्ञान अपने सिद्धान्त स्वयं नहीं बनाता, सामान्य मनोविज्ञान की विभिन्न विधियों और उसके विभिन्न क्षेत्रों से लेकर सँजो लेता है। इसी धारणा का अनुसरण करते हुए लगभग तीस वर्ष पूर्व प्रकृतिदत्त स्वभाव, सीखना और व्यक्तिगत अंतर शिक्षा-मनोविज्ञान के प्रमुख विषय थे। परन्तु यह दृष्टिकोण या तो शिक्षकों एवं शिक्षा-शास्त्रियों को मनोवैज्ञानिकों के चरणों से गिरा देता है या मनोविज्ञान को शिक्षकों के लक्ष्यों के अधीन साधन मात्र बना देता है।

शिक्षा-मनोविज्ञान का यह भी काम समझा गया है कि शिक्षा में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रस्तावित अनुप्रयोगों के व्यावहारिक फलों की समीक्षा करके उनकी यथार्थता को निश्चित करे, और यह भी कि उन अनुप्रयोगों को स्वयं करके उनकी परख करे तथा शिक्षा में काम आने वाले बाल-मनोविकास आदि से सम्बन्धित अन्य मनोवैज्ञानिक अनुसंधान स्वयं करे। साथ ही शिक्षा-क्षेत्र में बहुत-सी ऐसी मनोवैज्ञानिक समस्याएँ हैं जिनको सामान्य मनोवैज्ञानिक छूते ही नहीं। शिक्षा-मनोविज्ञान के लिए इन्हें सुलझाने के उद्देश्य से अपने स्वतंत्र तथ्यों एवं सिद्धान्तों का विकास आवश्यक माना गया है। शिक्षकों और विद्यार्थियों के समक्ष जितनी महत्त्वपूर्ण मानव-समस्याएँ हैं, उन सबके अध्ययन के लिए शिक्षा-मनोविज्ञान स्वतंत्र शास्त्र समझा गया है। विद्यालयी पाठ्य-विषयों का अध्यापन, पाठ्यक्रम का मनोवैज्ञानिक तथा विकासाधारित निर्माण, नवीन शैली के क्रियाप्रधान कार्यक्रमों का संचालन, नवीन ढंग का तथ्यात्मक शिक्षालाभ मापन, शिशु-विद्यालयों, प्रौढ़ शिक्षा-केन्द्रों तथा शैक्षिक निर्देशन केन्द्रों आदि विशेष शिक्षा-संस्थाओं में प्रचलित कार्य-प्रणालियों का सुधार ऐसी ही कुछ समस्याएँ हैं। धीरे-धीरे इन समस्याओं

की सूची में अन्य नवीन विषय भी आ जुड़े हैं, जैसे रुझान, शैक्षिक आसज्जा, शिक्षा-ग्रहण-योग्यता, शाब्दिक शिक्षा-ग्रहण, तकनीकी प्रशिक्षण-विधियाँ, प्रतिभाशाली, अतिमंद, विशेष योग्यताओं वाले, विशेष अशक्यता वाले, समस्या रूप, अपंग, गूँगे, बहरे, अँधे आदि बच्चों की शिक्षा, महाविद्यालयों में अध्यापन की विशिष्ट समस्याएँ, चरित्र-शिक्षा, लोक-तंत्र-शिक्षा, औद्योगिक, सामाजिक एवं व्यक्तित्व-विकास।

स्वाभाविक है कि सीखने-सिखाने, पढ़ने-पढ़ाने की प्रक्रियाओं का अध्ययन शिक्षा-मनोविज्ञान का केन्द्रीय विषय हो। परन्तु शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों का एक बड़ा समूह शिक्षा-मनोविज्ञान का उद्देश्य केवल सीखने की प्रक्रिया को सार्थक एवं सफल बनाना ही मानता है। यह इस व्यावहारिक लक्ष्य को लेकर विभिन्न प्रकार की शिक्षा-ग्रहणपरि-स्थितियों में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के व्यवहारों का अध्ययन करता है। अतः व्यक्तिगत अंतरों में इसकी विशेष रुचि है और जिन व्यक्तिगत अंतरों के कारण सांख्यि-कीय विधियों एवं नियमों का बहुत अधिक सहारा लेना पड़ता है। इस वर्ग द्वारा अब अध्ययन तथा अध्यापन-परिस्थितियों का मनःखण्ड विश्लेषण भी होने लगा है। शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों के इस वर्ग ने मूल मानसिक योग्यताओं और उनके परस्पर सम्बन्धों, व्यक्तित्व-परिवर्त्यों, अभ्यनुबन्धन-परिवर्त्यों तथा बौद्धिक एवं नैतिक विकास के विभिन्न स्तरों को विशेष महत्त्व दिया है।

परन्तु अधिकांश शिक्षामनोवैज्ञानिक शिक्षामनोविज्ञान के अंतर्गत सीखने का ही नहीं, सीखने वालों और सिखाने वालों का अध्ययन भी आवश्यक समझते हैं। अतः वे इसमें बाल-मन, मनोविकास, व्यक्तित्व-रचना, व्यक्तित्व-गति, शिक्षा-क्षेत्र की सामाजिक प्रक्रियाएँ एवं विद्यार्थियों का वर्गीकरण आदि सभी का पर्याप्त अध्ययन चाहते हैं। वे कुछ पाठ्य-विषयों का ज्ञान अथवा कुछ विशिष्ट योग्यताओं की प्राप्ति भी नहीं, व्यक्ति का समाज के प्रति समायोजन, और उसमें सुरक्षा एवं संतुष्टि लाभ लक्ष्य मानते हैं। इस सम्बन्ध में किशोरावस्था की ओर विशेषतः बालापराध की समस्याएँ विशेष अध्ययन-विषय रही हैं।

इन सभी समस्याओं के अध्ययन में शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों ने अनेक दृष्टिकोण अप-नाये हैं। कुछ दार्शनिक, मत-मतांतर, वाद-विवाद तथा अंधविश्वास से बचने के लिए और वैज्ञानिक, सामान्य, व्यावहारिक एवं आवश्यक सिद्धान्तों व तथ्यों से ही काम रखने के लिए असाम्प्रदायिक शिक्षा-मनोविज्ञान की व्याख्या का प्रयत्न करते हैं। अन्य शिक्षा-मनोवैज्ञानिक किसी न किसी सम्प्रदाय का अनुसरण करते हैं और समझते हैं कि इससे शिक्षा-मनोविज्ञान के तथ्यों में परस्पर सम्बद्धता, स्वीकार्यता एवं उपयोगिता आयेगी। विभिन्न साम्प्रदायिक दृष्टिकोणों में प्रतिद्वन्द्विता के स्थान पर प्राक्कल्पना की विषमता

मात्र समझी जाये तो सब दृष्टिकोणों के प्रति न्याय भी हो सकेगा और व्यावहारिक अनुप्रयोगों में कोई बड़ा अन्तर नहीं आयेगा। सम्प्रदायाधारित शिक्षामनोविज्ञान में मनोरचनावाद का, व्यवहारवाद का और मनोव्यापारवाद का सबसे अधिक प्रभाव है। मनोरचनावाद के प्रभाव में आकर शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों ने संवेदनात्मक विकास, संख्या-प्रत्यय, कल्पनाभग्नता, भय, स्मृति, आदर्श, प्राकृतिक स्वभाव आदि आंतरिक चेतना तत्त्वों के अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया है। व्यवहारवाद का प्रभाव शिक्षामनोविज्ञान को आदतों के निर्माण, अभ्यनुबन्धन आदि बाहर से प्रेक्षण योग्य तथ्यों पर केन्द्रित करता है। मनोव्यापारवाद ने शिक्षामनोविज्ञान को व्यावसायिक तथा विशेषतः व्यावहारिक उपयोगिता की ओर प्रेरित किया है। उसने सामान्य मनोविज्ञान के सिद्धान्तों की सरलता को शिक्षा परिस्थितियों की जटिलता के साँचे में ढालने, सांख्यिकीय एवं व्यक्तिगत विश्लेषण की सहायता से शिक्षा क्षेत्र के तथ्यों और सिद्धान्तों का गूढ़ अर्थ निकालने का कौशल बढ़ाने, विद्यालयी परिस्थितियों में बच्चों के अध्ययन करने, शिक्षा में सम्पूर्ण परिवेश का महत्त्व समझने, शिक्षकों, शिष्यों में सहानुभूति उत्पन्न करने और उत्प्रेरण, शिक्षा-ग्रहण एवं समस्या-सुलझाव को विशेषतया अनुसंधान विषय बनाने का आग्रह किया है। इन मनोविज्ञान-सम्प्रदाय-प्रधान विचारधाराओं के अतिरिक्त कुछ विचारधाराएँ शिक्षा-मनोविज्ञान को लोकतंत्र, नेतृत्व, नागरिकता आदि आदर्श के अथवा धर्म के प्रवर्तक का रूप देने का प्रयत्न कर रही हैं।

उपर्युक्त सभी विचारधाराओं के अनुयायी शिक्षा-मनोविज्ञान को मनोविज्ञान का एक विशेष व्यावहारिक एवं व्यावसायिक क्षेत्र मानते हैं। सभी के अनुसार इसका काम शिक्षा समस्याओं को समझने में सर्वाधिक सफलता प्राप्त करके और उनके सफलतम व्यावहारिक मनोवैज्ञानिक सुलझाव ज्ञात करके शिक्षण-शास्त्र के विद्यार्थियों तथा शिक्षा-कर्मचारियों की सर्वाधिक सेवा करना है। साथ ही इसका काम यह देखना भी है कि शिक्षा-क्षेत्र में किये गये विधि-प्रयोगों तथा अनुसंधानों से क्या नवीन सामान्य मनोवैज्ञानिक तथ्य एवं सिद्धान्त ज्ञात होते हैं। जैसे, सम्भव है कि विशेष पाठ्य-विषयों के पढ़ाने की विधियों के शिक्षा-मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से सीखने की प्रक्रिया के नवीन सामान्यमनोवैज्ञानिक तथ्य अथवा सिद्धान्तों का पता चले। शिक्षामनोविज्ञान का काम शिक्षा-अनुसंधानों में प्राप्त प्रदत्तों की परीक्षा एवं व्याख्या में कौशल प्राप्त करना भी है। इसमें सांख्यिकी तथा मनोपचारविज्ञान का सहयोग विशेषतः उपयोगी होता है। विशेषतः शिक्षा-मनोविज्ञान का काम छात्रों की ओर शिक्षकों की समस्याओं के प्रति संवेदनशीलता तथा उत्साह की वृद्धि करना और उनके सुलझाने में मानव-स्वभाव की सहानुभूतिपूर्ण समझ से काम लेना है। उसे देखना है कि अध्यापक कहाँ तक, छात्र के सम्पूर्ण परिवेश के

नियंत्रण एवं सहयोग द्वारा, उसकी रुचियों, योग्यताओं एवं प्रकृति को बना अथवा बिगाड़ सकता है। शिक्षा-मनोविज्ञान का क्षेत्र कम से कम उतना विस्तृत है, जितना शिक्षा का। उसके विषय के अन्तर्गत बाल तथा किशोर-शिक्षा ही नहीं, शिशु-शिक्षा, युवा-शिक्षा तथा प्रौढ़ शिक्षा भी है; पाठ्यक्रम की शिक्षा ही नहीं, चरित्र-शिक्षा, व्यक्तित्व-शिक्षा, सामाजिक शिक्षा तथा लोकतंत्र आदि आदर्श की शिक्षा भी है, और शिष्य-कल्याण ही नहीं शिक्षक-कल्याण भी है ।

विकास तथा शैक्षिक आसज्जा

आज शिक्षामनोविज्ञान के एक मुख्य भाग का काम विद्यार्थियों की बौद्धिक, औद्वेगिक तथा सामाजिक विशेषताओं का अध्ययन है। इसका एक अंग विकास पर और शिक्षा के लिए उसके महत्त्व पर केन्द्रित है। स्वाभाविक ही है कि यह अंग बहुत कुछ शिक्षा-मनोविज्ञान एवं बालमनोविज्ञान का साझा-क्षेत्र हो। परन्तु विकास की एक समस्या विशेषतया शिक्षा-मनोविज्ञान के अन्तर्गत ही है। वह है विकास का शैक्षिक आसज्जा से सम्बन्ध। यह आसज्जा प्रायः किसी विशेष शिक्षा-विषय के सीखने के लिए होती है। इस अर्थ में पठन-आसज्जा, गणितासज्जा, बीजगणितासज्जा आदि अलग-अलग उप-विषय हैं। सामान्यतः आसज्जा के अंतर्गत दैहिक, अंतर्वृद्धि, सामान्य मानसिक योग्यता, पार्श्वीय शैक्षिक अथवा अन्य अनुभव तथा औद्वेगिक तत्परता, सभी आवश्यक समझे जाते हैं। सीखने की इच्छा, आवश्यकताएँ, लक्ष्य, अर्जित ज्ञान एवं कौशल, उपयुक्त मनोभाव एवं समायोजन, परिपक्वता, स्वास्थ्य तथा रुचि इसके महत्त्वपूर्ण अंग माने जाते हैं। प्रयोग द्वारा देखा गया है कि आसज्जा प्रशिक्षण भी सम्भव है। किसी काम के अभ्यास से जितना लाभ होता है, उससे कहीं अधिक लाभ तब होता है, जब उस काम के अंशों का अभ्यास पहले कराया जाय। अंश अपेक्षाकृत सरल होते हैं और छोटी आयु में उनका अभ्यास अधिक अर्थपूर्ण और अधिक संतोषजनक होता है। स्पष्ट है कि पर्याप्त अंत-र्वृद्ध्यात्मक विकास के बिना व्यक्ति शिक्षा के लिए आसज्जित नहीं कहा जा सकता। परन्तु किस पाठ्य-विषय अथवा कौशल के लिए कितना न्यूनतम विकास होना चाहिए यह अभी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। फिर भी यह अनुमान है कि पढ़ना आरम्भ करने के लिए साढ़े छः वर्ष की आयु तक पर्याप्त आसज्जा अवश्य उपलब्ध हो जाती है। स्वाभाविक है कि इस प्रकार की आसज्जा-आयु व्यक्ति की मानसिक आयु अर्थात् उसकी अंतर्वृद्धि-गति पर और उसे उपलब्ध शिक्षा एवं शिक्षा-सामग्री पर निर्भर रहेगी। बुद्धि-परीक्षणफल मानसिक अंतर्वृद्धि के मापक होने के नाते शैक्षिक आसज्जा के सर्वोत्तम पूर्वसंकेत माने गये हैं। परन्तु विशिष्ट पाठ्य-विषयों के लिए पर्याप्त आसज्जा के उपयुक्त पूर्वसंकेत तो रुझान-परीक्षण-फल ही होंगे।

अनेक अनुसंधानों से यह भी सिद्ध होता है कि आसज्जा के लिए प्रतीक्षा करना ही नहीं, विशिष्ट प्रयास करना भी संभव है, करना चाहिए और फलदायक होता है। विद्यार्थियों के लिए उपस्थापन, निर्देशन एवं नियंत्रण द्वारा ऐसे अनुभव और अभ्यास का प्रबन्ध किया जा सकता है, जिससे उसमें दृष्ट्यात्मक, श्रवणात्मक एवं अन्य प्रकारों का विवेक बढ़े, प्रत्ययों का निर्माण हो, सामान्यीकरण की समझ में वृद्धि हो और शिक्षा के लिए उपयुक्त पार्श्वभूमि बन जाय। परिवार के सदस्यों की संख्या, घर में पुस्तकों की संख्या, माता-पिता का शिक्षास्तर, घर का और परिवेश का सांस्कृतिक वातावरण, यात्रा का अनुभव, अंकगणित का आधारभूत ज्ञान, स्वास्थ्य, पर्याप्त पोषण आदि सब आसज्जा में अपना योग देते हैं और इन सबमें अवश्य सप्रयास सुधार किया जा सकता है। इस प्रकार निश्चय ही आसज्जा को प्रोत्साहित एवं प्रवर्धित करना संभव है। देखा गया है, इस प्रकार के प्रयास के बिना सामान्य तथा उत्कृष्ट बुद्धि के बालकों की शैक्षिक प्रगति भी मंद हो जाती है।

औद्वेगिक समस्याएँ अथवा उपद्रव भी शैक्षिक अयोग्यता उत्पन्न करते हैं। विद्यालय और शिक्षा की ओर प्रतिकूल मनोभाव, भय, चिंता, अरक्षाभाव, संकोच, क्रोधशीलता, आदि अवस्थाएँ शैक्षिक आसज्जा को असंभव, नष्ट अथवा सीमित कर देती हैं। भाई बहिनों से ईर्ष्या करने वाले, अत्यधिक लाड़ से पाले गये, उपेक्षित, जातिभेदभाव-प्रधान, अस्थिर पारिवारिक वातावरण में रहने वाले बच्चों में पठन आसज्जा बहुत ही कम पायी गयी है। पठन आसज्जा को अनम्यता, विरोधभाव, एवं पारिवारिक संघर्ष से संबंधित भी पाया गया है। उद्वेगाधारित पठन-अनासज्जा के लिए मनश्चिकित्सा भी औपचारिक पठन रूपी ही प्रस्तावित हुई है। इसका मुख्य अंग बच्चे को मिट्टी और लकड़ी से बने अक्षरों का अनुभव उपलब्ध कराना होता है। इससे उसके व्यक्तित्व समाकलन में सुधार होता देखा गया है और वह विद्यालय तथा समुदाय में सुसमायोजित रूप से घुल मिल सका है।

शैक्षिक आसज्जा के अधिकांश अध्ययन आज इस ओर संकेत करते समझे जाते हैं कि आसज्जा व्यक्तिगत होती है। इसमें बहुत व्यक्तिगत अंतर होते हैं। अतः शिक्षा-प्रयास एवं आसज्जा-वृद्धि-प्रयास को भी वैयक्तिक होना पड़ेगा। इसके साधनों का विकास आवश्यक है।

आसज्जा-परीक्षण के निर्माण की ओर भी ध्यान दिया गया है। वैसे तो सभी मनोवैज्ञानिक परीक्षण आसज्जा-परीक्षण स्वीकार किये गये हैं। क्योंकि व्यक्ति की मानसिक स्थिति का कोई भी परीक्षण यह बतायेगा कि वह किसी विशेष प्रकार की शिक्षा के लिए कहाँ तक आसज्जित है। किसी क्षेत्र में रुझान-परीक्षण यह संकेत करेंगे कि व्यक्ति उस क्षेत्र में प्रयास करने के लिए कहाँ तक आसज्जित है। किसी पाठ्य विषय में निष्पत्ति-

परीक्षण से भी यह संकेत मिलेगा कि व्यक्ति उस विषय को इस समय कितना जानता है और अब उस विषय से वह किधर आगे बढ़ सकता है। रुचिपरीक्षण आसज्जा अंग पर प्रकाश डालेंगे। फिर भी, कुछ परीक्षणों का विशिष्टतया आसज्जा-परीक्षण अथवा फलानुमानक परीक्षणों के नाम से निर्माण हुआ है। इनमें अधिकांश पठन-आसज्जा-परीक्षण ही हैं। इनमें प्रायः अक्षरों की आकृतियों में समानताएँ और असमानताएँ पहचनवायी जाती हैं, शब्दों के मेल मिलवागे जाते हैं। दिये हुए शब्दों के साथ मेल खाने वाले चित्र चुनवाये जाते हैं, और आदेश पालन कराकर देखा जाता है। इन परीक्षणों की प्रामाण्यता प्रथम शिक्षा-वर्ष में प्राप्त अंकों के साथ सहसम्बन्ध से ज्ञात की जाती है। फलानुमानक परीक्षण अंकगणित, बीजगणित, विदेशी भाषाओं, व्यापार शिक्षा, आशु-लेखन आदि अनेक विषयों में भी बने हैं। आशुलेखक के फलानुमानक परीक्षणों में गत्यात्मक प्रतिक्रिया, लेखन-गति, लेखन-श्रेष्ठता, पठनगति, स्मृति, वर्ण, विन्यास योग्यता और प्रतीकोपयोग-योग्यता का मापन किया जाता है। सामान्य शैक्षिक आसज्जा के मापन के लिए प्रायः बुद्धिपरीक्षणों का उपयोग किया जाता है।

आसज्जा उत्पन्न करने और मापने के अतिरिक्त उसे बनाये रखने की आवश्यकता भी समझी गयी है, जिससे विद्यार्थी आगे आने वाली उच्चतर शिक्षा के प्रत्येक स्तर के लिए आसज्जित होता चला जाय। इसके लिए विद्यालयों में विशिष्ट प्रकार के कार्यक्रम आवश्यक समझे गये हैं। जैसे, पूर्व बाल्य-विद्यालयों में प्रत्यय विस्तार, दृष्टि एवं श्रवण विवेक-प्रशिक्षण, लेखन पूर्व शिक्षा को लक्ष्य बनाने, भाषा योग्यताएँ बढ़ाने और विस्तृत क्रियात्मक कार्यक्रम बनाने का आग्रह किया गया है। उच्चतर विद्यालयों में दोष सुधारक कार्यक्रमों से काम लेने और सुनियोजित अनुभव उपलब्ध करने पर बल दिया गया है। इन सब कार्यक्रमों में सफलता भी मिली है और परीक्षाओं में असफलताएँ घटी हैं। ऐसे कार्यक्रम विशिष्ट विषयों के संबंध में भी बनाये गये हैं। जैसे, अंकगणित में आसज्जा बनाये रखने के कार्यक्रम में पूर्व बाल्य विद्यालय में गिनती गिनना, वर्गीकरण, पदार्थों और संख्याओं की तुलना, संख्या खेल खेलना और विद्यालय की विविध वस्तुओं को नापना आदि रखा गया है। इससे विद्यार्थियों के अंकगणित आसज्जा-परीक्षण में अधिक अंक आने लगे हैं।

योग्यताएँ तथा व्यक्तिगत अंतर

विद्यार्थियों की विशेषताओं के अध्ययन का दूसरा अंग विद्यार्थियों की योग्यताओं पर केन्द्रित है। शिक्षामनोविज्ञान में कदाचित् सबसे अधिक अध्ययन इन्हीं का हुआ है। इनसे सम्बन्धित प्रमुख विषय यह रहे हैं—योग्यता सिद्धान्त, योग्यता मापन-विधियाँ,

व्यक्तिगत अंतर और इनके आधार पर उच्चतर शिक्षा के लिए छात्रों का चुनाव, योग्यताओं में बुद्धि, विशेष योग्यताएँ, रुझान तथा शैक्षिक एवं व्यावसायिक निष्पत्ति मुख्य हैं। इन सबके परीक्षण और मापन पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। प्रचलित प्रकारों के मनोवैज्ञानिक परीक्षण का उपयोग तो होता ही है। साथ ही, सामाजिक समायोजन, स्वास्थ्य-रक्षक आदतों, व्यावसायिक सफलता और सुनागरिकता आदि के मापन के लिए जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में छात्रों के व्यवहार का प्रेक्षण किया जाता है। इन अंतरों का, उनके विस्तार का, उनकी स्थिरता और परिवर्तनीयता का, और उनके परस्पर सम्बन्धों का मापन किया जा सकता है। मापन की परीक्षण-विधि इसके लिए विशेषतया उपयुक्त पायी गयी है। परीक्षणात्मक मापनों के आधार पर विषम मानव गुणों का शैक्षिक सफलता से सम्बन्ध ज्ञात करने के बहुत प्रयत्न हुए हैं। सबके लिए शिक्षा अनिवार्य करने के विषय में व्यक्तिगत एवं जातिगत अंतर महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित करते हैं। गणित में कुछ विद्यार्थी तीव्र गति से और कुछ मंदगति से प्रगति कर पाते हैं। कोई भी पाठ्य विषय कुछ विद्यार्थियों को आनन्द देता है और कुछ को शुष्क और अरोचक प्रतीत होता है। कुछ को वाद-विवाद वाले विषयों और सिद्धान्तों में रुचि होती है, कुछ निश्चित अनुभवात्मक तथ्यों और व्यावहारिक अनुप्रयोगों को ही महत्त्वपूर्ण समझते हैं। विज्ञान तथा उद्योग के वर्तमान युग में जब समाज के नेता समाज के प्रत्येक बच्चे के लिए वैज्ञानिक प्रशिक्षण की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं, तब भी ऐसे ही प्रश्न उठते हैं। अनुसंधानों से संकेत मिलता है कि किशोर जनता का केवल एक अंश ही भौतिकी रसायन आदि के अमूर्त प्रत्ययों को समझने के योग्य होता है। अतः प्रश्न उठा है कि योग्यताओं, रुचियों एवं मूल्यों की उपस्थित विषमता के अनुसार दी जाने वाली शिक्षा की विधि और पाठ-सामग्री क्या होगी।

योग्यताओं के इन अध्ययनों ने व्यक्तिगत अंतरों, इनके स्वरूप तथा इनके कारणों की ओर, एवं शिक्षा के लिए इनके महत्त्व की ओर विशेष ध्यान आकर्षित किया है और शिक्षा-कार्य को बहुत उपयोगी निर्देशन प्राप्त हुआ है। उदाहरण-स्वरूप, पता चला है कि शिक्षाविधि को सब छात्रों के लिए एकरूप रखने की अपेक्षा उसे व्यक्ति की सामर्थ्य तथा स्वभाव के अनुकूल ढालने की आवश्यकता है। बालकों की तर्क-शक्ति बालिकाओं से श्रेष्ठतर नहीं होती। बौद्धिक सामर्थ्य किसी व्यक्ति में रची अथवा बढ़ाई नहीं जा सकती। बच्चों का आयु-अनुसार अथवा कक्षानुसार किसी प्रकार वर्गीकरण करने पर मानसिक आयु का विस्तार एक सा निकलता है। अल्पबुद्धिता आनुवंशिक होती है। व्यक्ति की मानसिक आयु उसकी जन्मक्रम आयु से भिन्न हो सकती है। विभिन्न जातियों के बीच अंतरों की अपेक्षा किसी जाति के अंदर व्यक्तियों के बीच कहीं अधिक अंतर होते हैं।

विविध पाठ्य-विषयों में विद्यार्थियों की निष्पत्ति की विषमता भी कम नहीं होती। निष्पत्ति का विस्तार तीन चार वर्ष से आरम्भ होकर उच्चतर कक्षाओं में बढ़ता जाता है। विभिन्न शिक्षा-स्तरों में निष्पत्ति के विस्तार में व्याप्ति भी बहुत पायी गयी है। महाविद्यालय की उच्चतर कक्षाओं के विद्यार्थियों में से लगभग १० प्रतिशत उसी परीक्षा में पूर्वमाध्यमिक स्तर के मध्यकांक से कम अंक पाते देखे गये हैं। ऐसे ही, व्यक्तित्व-प्रश्नावलियों द्वारा व्यक्तित्व-गुणों में विस्तृत व्यक्तिगत अंतरों का पता चला है। किसी विद्यार्थी में जीवन के सिद्धान्त, अर्थ, सौंदर्य, सामाजिकता, राजनीति, धर्म आदि विविध क्षेत्रों का मूल्यकरण एक सा नहीं होता। एक विद्यार्थी के मूल्यकरण दूसरे विद्यार्थियों के मूल्यकरणों से भिन्न होते हैं।

यह व्यक्तिगत अंतर बहुत विस्तृत परन्तु प्रायः असामान्य-सम्भाव्यता-वितरण-नियम का अनुसरण करते पाये गये हैं। इसका परिणाम यह भी है कि विभिन्न कक्षाओं में बहुत परस्पर व्याप्ति पायी जाती है। परम्परागत कक्षात्मक वर्गीकरण-प्रणाली इन व्यक्तिगत अंतरों और व्याप्तियों की ओर उपेक्षाशील रही है। इसमें प्रचलित निम्नतम निष्पत्ति स्तर तक होने से कक्षा चढ़ाने के स्थान पर कहीं-कहीं प्रस्तावित आयु-अनुसार कक्षा चढ़ाने में भी यही दोष है।

ऐसे अंतरों का शिक्षण कार्य में ध्यान रखने के लिए दो प्रकार की पद्धतियाँ प्रस्तावित हुई हैं। एक पद्धति है किसी कक्षा के सब विद्यार्थियों को एक साथ रखते हुए पढ़ाने के ढंग को ऐसे बदलते रहना कि सब स्तरों के विद्यार्थी उससे लाभान्वित हो सकें। इसका एक रूप कक्षा में पाठ्य-विषय की सामूहिक व्याख्या छोड़कर बारी-बारी से एक-एक विद्यार्थी को उसकी आवश्यकता के अनुसार शिक्षा देना है। कक्षा को गुण-योग्यतानुसार कई वर्गों में बाँटकर प्रत्येक वर्ग पर अलग से ध्यान देने का प्रबन्ध भी किया जा सकता है। एक तीसरा रूप यह है कि मंदतर विद्यार्थियों को अलग से पढ़ाया और अभ्यास कराया जाय और श्रेष्ठतर विद्यार्थियों को अपेक्षाकृत कठिन काम अलग से करने को दिया जाय। यह भी किया जा सकता है कि कक्षा में शिक्षा कार्य की अवधि के कुछ भाग में सामूहिक पढ़ाई हो और शेष समय में अध्यापक के निरीक्षण में व्यक्तिगत अध्ययन हो।

व्यक्तिगत अंतरों का ध्यान रखने की दूसरी पद्धति यह है कि पढ़ाने का ढंग स्थिर एवं सम रखते हुए विद्यार्थियों को बुद्धि-योग्यताओं और निष्पत्तियों के आधार पर वर्गीकृत किया जाय, जिससे प्रत्येक कक्षा में समयोग्यता के विद्यार्थी ही रहें। इस प्रकार के वर्गीकरण सर्वोपयोगी तब होंगे यदि किसी व्यक्ति के अंदर सब गुण एक ही मात्रा अर्थात् स्तर के हों, परन्तु प्राप्त अध्ययन-फल से वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं प्रतीत हुई है।

उदाहरणार्थ, समान बुद्धि के विद्यार्थियों की विशिष्ट पाठ्य-विषयों में निष्पत्ति असमान पायी गयी है।

यह भी सूझा है कि शायद उत्कृष्ट अध्यापन द्वारा यह व्यक्तिगत निष्पत्ति-अंतर दूर किये जा सकते हैं। सरलतम सामग्री से सरलतम मानसिक प्रक्रियाओं की शिक्षा में तो ऐसा संभव हुआ है। परन्तु जटिल सामग्री से उच्चतर मानसिक प्रक्रियाओं की शिक्षा में व्यक्तिगत अंतरों का विस्तार बढ़ता ही प्रतीत हुआ है। प्रत्येक शिक्षा को उपयुक्त समय पर देने की सावधानी बरतने से भी निष्पत्ति-अंतर दूर करने की संभावना की खोज हुई है। परन्तु शिक्षा-समय की उपयुक्तता प्रायः आसज्जा पर आधारित समझी गयी है और आसज्जा की कसौटी की धारणा अभी पर्याप्त मात्रा में निश्चित एवं अनुप्रयोज्य नहीं हो पायी है।

इस सबका परिणाम यह हुआ है कि प्रत्येक कक्षा में विद्यार्थियों की योग्यताओं की विषमताओं को सर्वथा दूर करने का प्रयत्न ही छोड़ देना ठीक जँचा है। एक प्रस्ताव यह हुआ है कि विद्यार्थियों के आवश्यकतानुसार एक वर्ग अर्थात् कक्षा से अन्य कक्षा अथवा वर्ग में चढ़ाते उतारते या बदलते रहा जाय। इसके भी कई रूप हो सकते हैं। विद्यालय में मंदतर तथा तीव्र-तर कार्यक्रम एक साथ चलाये जा सकते हैं और विद्यार्थी को आवश्यकतानुसार एक से दूसरे में भेज दिया जा सकता है। अथवा वर्ष के अंदर कई बार किसी विद्यार्थी को अगली कक्षा में चढ़ने का अवसर दिया जा सकता है। अथवा विद्यार्थी को एक-एक विषय में अलग से अगली कक्षा में चढ़ने का अवसर दिया जा सकता है। इसके लिए विद्यालय में सब कक्षाएँ कोई भी विषय एक ही समय पर पढ़ती हैं। कोई विद्यार्थी उस विषय में जिस कक्षा के योग्य हो उस कक्षा में जाकर, उस विषय को पढ़े। अर्थात् विद्यार्थी एक विषय में एक कक्षा में और दूसरे किसी विषय में किसी अन्य कक्षा में हो सकता है। विद्यार्थियों को व्यक्तिगत अंतरानुसार पढ़ाने का ढंग बदलने की अपेक्षा विद्यार्थी की कक्षा बदलना सुलभ करने में कई लाभ प्रतीत हुए हैं। व्यक्ति का शिक्षाकाल यथासंभव घटाया जा सकता है। उसे शिक्षा की अधिकतम प्राप्ति होती है। किसी समय परीक्षा में असफल होने पर उसे जितना आवश्यक हो उतना ही पिछड़ना होगा। एक पूरा साल खोना अनिवार्य नहीं होगा। इन सब बातों से विद्यार्थी शिक्षा-कार्य में भरसक प्रयत्न करने को प्रोत्साहित होगा।

बहुत से मनोवैज्ञानिकों ने आग्रह किया है कि व्यक्तिगत अंतरों के परिमाण एवं विस्तार पर ही नहीं, अंतरों के आयामों पर भी ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। उनकी दृष्टि से व्यक्तिगत अंतरों के आयामों का यथार्थ सूक्ष्म निर्णय परमावश्यक है। अनेक गुण-स्वरूप प्रस्तावित हुए हैं और उनके मापन के लिए परीक्षणों अथवा अन्य विधियों

का निर्माण हुआ है। परन्तु उनकी धारणाओं को निश्चित एवं सिद्धान्तबद्ध रूप देने की आवश्यकता है। सर्वाधिक प्रतिष्ठित विधि सहसम्बन्धात्मक खण्ड-विश्लेषण है, इसमें प्राप्त मापों के अंत:सहसम्बन्धों से गुण-खण्डों की व्युत्पत्ति की जाती है। उनके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अर्थों के विषय में अभी पर्याप्त संतोष नहीं है। यह आपत्ति भी की गयी है कि उपर्युक्त अंत:सहसम्बन्ध परीक्षणपरिस्थितियों में प्राप्त प्रतिक्रियाओं के परस्पर सहसम्बन्ध ही हैं। प्रतिक्रियाओं की परीक्षण रूपी उत्तेजनाओं से सहसम्बन्ध अधिक अर्थपूर्ण होते हैं। बुद्धिगुणों के विषय में यह भी कहा गया है कि खण्ड-विश्लेषण में प्रयुक्त सहसम्बन्ध विविध बच्चों के बुद्धि-परीक्षणों में की गयी विविध प्रतिक्रियाओं में अंतरों के पूर्वगामी कारण नहीं बता सकते। अनेक विद्वान् खण्ड-विश्लेषण की सैद्धान्तिक एवं अनुप्रायोगिक दोनों प्रकार की उपज से संतुष्ट नहीं हैं। इसी असंतुष्टि से एक नवीन क्यू-पद्धति-विश्लेषण का विकास हुआ है।

खण्ड-विश्लेषणवादियों का मत है कि किसी गुण का कोई परीक्षण एक—आयामक भी होना चाहिए और अन्य गुणों के परीक्षणों से शून्य अथवा बहुत ही कम मात्रा में सह-सम्बन्धित होना चाहिए। परन्तु अधिकांश मनोवैज्ञानिक इसकी चिंता नहीं करते। उदाहरणार्थ, पुरुषत्व-स्त्रीत्व, अधिकारी-अनुसरण, अनम्यता आदि-स्पष्ट ही एकायामक गुण नहीं होंगे। परन्तु इस प्रकार के गुणों के अनेक परीक्षणों का निर्माण और उपयोग प्रचलित है।

व्यक्तिगत अंतर कहाँ तक वंशानुक्रमण पर निर्भर होते हैं और कहाँ तक परिवेश पर, इसके विषय में बहुत विचार हुआ है। उन्हें दोनों निर्धारकों की अंत:क्रिया का फल तो अधिकांश विद्वान् मानते हैं। कुछ ने इन निर्धारकों के योगदान का अनुपात संख्याबद्ध करने का प्रयास किया है। बुद्धि और व्यक्तित्व-गुणों के अंतरों को ५० से ७५ प्रतिशत अंश तक वंशानुक्रमाधारित समझा गया है। परन्तु कुछ विद्वान् वंशानुक्रम और परिवेश के प्रभावों को इस प्रकार के संख्यात्मक अनुपातों के रूप में अलग करने के प्रयत्न को व्यर्थ समझते हैं। कदाचित् अभी निश्चित एवं स्पष्ट रूप से यह भी नहीं कह सकते कि व्यक्ति को वंशानुक्रमण से जो कुछ भी मिलता है, उसका स्वरूप क्या होता है। एक मत यह है कि वंशानुक्रमण से गुण अथवा योग्यताएँ नहीं, केवल जीनों का संप्रेषण होता है। इस विषय में नियंत्रित प्रयोग असम्भव से प्रतीत हुए हैं।

गुणों और उनके मापों की स्थिरता में विशेष रुचि ली गयी है। दीर्घकाल तक अनेक अध्ययनों में व्यक्तिगत बुद्धि-लब्धि को अपेक्षाकृत स्थिर पाया गया है। परन्तु अब इसे मानव-मन की नहीं, परीक्षणों की रचना की विशेषता समझा जाता है। सामूहिक स्थिरता अधिक स्वीकृत हुई है। परन्तु उससे व्यक्तिगत स्थिरता सिद्ध नहीं होती।

अनेक अनुसंधानों में बुद्धिमाप में वृद्धि भी पायी गयी है। व्यक्तित्व-गुणों में परिवर्तन की संभावना जीवन के उत्तर काल की अपेक्षा प्रारम्भिक काल में अधिक समझी जाती है, परन्तु थोड़े बहुत परिवर्तन होते ही रहते हैं। रुचियों के माप, पुनःपरीक्षण से प्राप्त सहसम्बन्धों के आधार पर, देर तक स्थिर रहते समझे गये हैं। परन्तु इन सहसम्बन्धों को मानसिक विकास के चलते रहने का प्रमाण भी कहा गया है।

गणों की परस्पर प्राकृतिक व्यवस्था ज्ञात करने के प्रयत्न भी हुए हैं। बुद्धि के विषय में सामान्य खण्ड-सिद्धान्त, सामूहिक खण्ड-सिद्धान्त, व्याप्ति-सिद्धान्त और तारतम्य-सिद्धान्त विशेषतया प्रचलित हैं। सामूहिक खण्ड-सिद्धान्त ने कुछ मूल मानसिक योग्यताओं की धारणा को जन्म दिया है। व्यक्तित्व-गुणों और शारीरिक गुणों के मापों के विश्लेषण प्रायः उनमें तारतम्यात्मक व्यवस्था सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। गुण-व्यवस्था आयु पर आधारित मानते हुए, आयु के साथ-साथ योग्यताओं के भेदीकरण और विशिष्टीकरण में वृद्धि सिद्ध करने के प्रयत्न भी हुए हैं। परन्तु इसके विरुद्ध प्रदत्त भी प्राप्त हुए हैं।

लैंगिक अंतरों का बहुत अध्ययन हुआ है। सामान्यतः छात्राओं के निष्पत्ति-माप छात्रों के निष्पत्ति-मापों से अधिक रहते हैं, परन्तु, भाषा-योग्यताओं में छात्राएँ श्रेष्ठतर रहती हैं, तो गणित और विज्ञान में छात्र। फिर भी, अंतर थोड़े ही होते हैं, और छात्र-छात्राओं के अंकवितरणों में व्याप्ति बहुत होती है। बुद्धि छात्रों में श्रेष्ठ होती है कि छात्राओं में, इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर अभी सम्भव नहीं हुआ है। परीक्षणप्राप्त अंतर परीक्षण-प्रश्नों के स्वरूप द्वारा, व्यावहारिक अवसरों द्वारा, सांस्कृतिक प्रत्याशाओं द्वारा, और विद्यार्थियों के मनोभावों द्वारा प्रभावित रहते हैं। व्यक्तित्व-गुणों में लैंगिक-अंतर प्रतीत हुए हैं। जैसे, छात्राएँ छात्रों की अपेक्षा अधिक उत्तरदायित्व-भावना-युक्त, शान्त, कहना माननेवाली, मैत्रीभावयुक्त, एवं सामाजिक नियमानुसरणशील प्रतीत हुई हैं। छात्र, छात्राओं की अपेक्षा अधिक आक्रामक, साहसी और सक्रिय मिले हैं। रुचि यांत्रिक एवं वैज्ञानिक विषयों में छात्रों में अधिक पायी गयी है, और कला एवं साहित्य में छात्राओं में। परन्तु छात्रों-छात्राओं के एक ही व्यवसाय में आ जाने पर उनके यह अंतर कम हो जाते हैं। पठन-सामग्री, चल-चित्रों, तथा रेडियो के कार्यक्रमों के छात्रों छात्राओं के अंतर आयु के साथ बदलते देखे गये हैं। मूल्यकरण सैद्धान्तिक, आर्थिक, एवं राजनीतिक विषयों का छात्रों में और सौंदर्यात्मक, सामाजिक एवं धार्मिक विषयों का छात्राओं में अधिक मिला है। शारीरिक विकास और क्रिया-योग्यता में सामान्यतः स्पष्ट लैंगिक अंतरों का सूक्ष्म मापन किया गया है। यौवनारम्भ छात्रों में छात्राओं की अपेक्षा लगभग दो वर्ष पीछे पाया गया है। यौवनारम्भ के छात्रों में शीघ्र और छात्राओं

में देर में होने से उतनी मानसिक समस्याएँ नहीं होतीं, जितनी छात्राओं में शीघ्र और छात्रों में देर में यौवनारम्भ होने से होती हैं। इस विषय में सांस्कृतिक वातावरण का बहुत प्रभाव पड़ता है।

व्यक्तित्व समस्याएँ

योग्यताओं के स्वरूप एवं परस्पर सम्बन्धों को समझने के प्रयत्न में मनोवैज्ञानिक सांख्यिकी का बहुत विकास तथा उपयोग हुआ है। बहुत-सी सहसम्बन्धाधारित अनुसंधान-पद्धतियों का आविष्कार हुआ है। अनेक प्रकार से मनःखण्ड-विश्लेषण किया जाता है। परिणामस्वरूप योग्यताओं के विषय में किसी-न-किसी प्रकार का बहुस्तरीय सिद्धान्त ही स्वीकृत हुआ है। परन्तु बहुत काल तक बुद्धि, विशेष योग्यताओं, पाठ्य-विषय योग्यताओं और विभिन्न प्रकार के कौशलों पर लगे रहने के बाद, अब अधिकांश शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों का ध्यान बौद्धिक योग्यताओं और उनके विकास की ओर से हट-सा गया है और छात्रों के औद्वेगिक विकास पर केन्द्रित हो रहा है। पिछले तीस वर्षों में औद्वेगिक विकास से सम्बन्धित अनेक विषयों का महत्त्व बढ़ता गया है, जिनमें समायोजन, उत्प्रेरण, रुचियाँ, मनोभाव, आवश्यकताएँ, सामाजिक व्यवहार, तथा व्यक्तित्व मनोगति मुख्य हैं। विशेषतया बच्चों की उन भावनाओं के अध्ययन एवं विश्लेषण का आग्रह किया गया है, जिन्हें बच्चे स्वयं अथवा उनसे सम्बन्धित प्रौढ़ व्यक्ति समझ नहीं पाते। मनोभावों, आदर्शों, मूल्यप्रत्ययों तथा औचित्य एवं सौंदर्य-सम्बन्धी धारणाओं के विकास का महत्त्व स्वीकार होने लगा है। सामाजिक अंतःक्रियाओं के अध्ययन में तथा समाजमिति में विशेष प्रगति हुई है। आत्माभिव्यक्ति तथा स्वतंत्र क्रियात्मकता को महत्त्व दिया जा रहा है। अध्यापक से अपने प्रयास मुख्यतः कक्षा के विशेष वातावरण में क्रियाशील दबावों, तनावों और आवश्यकताओं पर केन्द्रित करने का इतना आग्रह हो रहा है कि इसे मान लेने पर उसके पास पाठय-विषय पढ़ाने के लिए कदाचित् कम ही अवसर रह जायेगा। सामाजिक समायोजन, विषमायोजन के औद्वेगिक तनाव आदि कारणों का निदान और उपचार, व्यक्तित्व-विकास एवं समायोजन, शिष्य का मानसिक स्वास्थ्य, अभागे एवं प्रतिभाशाली व्यक्तियों की समस्याएँ, इन सबका विशेषतया अध्ययन हो रहा है। पिछले कुछ समय के अंदर व्यक्तित्व-विकास तथा शारीरिक विकास के परस्पर सम्बन्ध का बोध एवं अध्ययन बहुत बढ़ा है और कई वर्ष तक उन्हीं व्यक्तियों के सतत अध्ययन पर आधारित किया गया है।

सीखना

शिक्षा-मनोविज्ञान का स्वाभाविकतम लक्ष्य विद्यार्थियों में सीखने की प्रक्रिया बढ़ाना है। योग्यताओं को छोड़कर शिक्षामनोवैज्ञानिकों ने सबसे अधिक अध्ययन इसी का किया

है। सीखने का सामान्य स्वरूप, सीखने की प्रक्रिया के निर्धारक, सीखने में उत्प्रेरण, कौशल-प्राप्ति, और मनोभावों का स्थान, स्मरण, चिंतन, तर्क, समस्या-सुलझावन, शिक्षा का स्थानांतरण, तथा पाठ्यक्रमानुसरण इसके प्रमुख अंग हैं। अतः शिक्षामनोविज्ञान का एक मुख्य काम इन सब प्रक्रियाओं के सभी अंगों का, अपने सामान्य स्वरूप में भी, और भाषापाठ बीजगणित आदि सभी विशिष्ट पाठ्य विषयों के संदर्भ में भी, अध्ययन करना है। सीखने से सम्बन्धित विषयों में सीखने के नियम, सीखने की प्रगति, सीखने पर शिक्षक द्वारा प्रशंसा अथवा आलोचना का तथा कक्षा के आत्मविश्वास का प्रभाव, शिष्यों का उत्प्रेरण, उनके काम में त्रुटियों, अशांति, तथा थकान के कारण तथा उपाय, पढ़ने की विधियों की अपेक्षाकृत फलदायकता, वर्ष भर के बाद निष्पत्ति की मात्रा, प्राप्त शिक्षा की चिर स्थिरता, उसका अन्य सीखने में तथा सामाजिक जीवन में अनुप्रायोगिक अंतरण, शिक्षा का मनोभावों, पूर्वाग्रहों तथा रुचियों पर प्रभाव तथा किसी विशेष विषय की शिक्षा का व्यक्ति के उस विषय से सम्बन्धित जीवन पर प्रभाव, मुख्य विषय हैं। सीखने में उत्प्रेरण के विकास के अध्ययन में, व्यवहार की एकसूत्रता का ध्यान रखते हुए व्यक्तित्व का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। उत्प्रेरकों का उद्वेगों से सम्बन्ध, उत्प्रेरण का बौद्धिक शिक्षाग्रहण में स्थान, और समन्वय के उत्प्रेरण के उद्गम महत्त्वपूर्ण विषय हो जाते हैं। पुरस्कार, अनुशासन, सिद्धान्तारोपण, उत्प्रेरक प्रशिक्षण, आदि से संभव हानि-लाभ का विवेचन भी करना ही होगा। यह देखने का प्रयत्न किया गया है कि शिक्षा-सामग्री का भावात्मक गुण उसके सीखने पर क्या प्रभाव डालता है। सीखने में विषमायोजनजनित रुकावटों का नियंत्रण एक अन्य महत्त्वपूर्ण समस्या है। छात्रों के व्यक्तिगत गुण उनकी शिक्षा के समाजप्रिय उपयोग में किस प्रकार सहायक हो सकते हैं, और शिक्षण-प्रक्रिया में उनका व्यक्तित्व किस प्रकार रत हो सकता है, शिक्षा-मनोविज्ञान के अन्य अर्वाचीन प्रश्न हैं। इनके अतिरिक्त प्रौढ़ शिक्षा तथा अभिभावकों की शिक्षा के सम्बन्ध में उत्प्रेरण, आत्मविश्वास रक्षा, तथा विधि-निर्णय की अपनी अलग-अलग समस्याएँ हैं। शासन, लोकतंत्र आदि विशिष्ट सामाजिक प्रथाओं की शिक्षा की आवश्यकता अपने नवीन मनोवैज्ञानिक प्रश्न प्रस्तुत करती हैं। फुटकर शिक्षा-ग्रहण परिस्थितियों के बहुत-से अध्ययन हुए हैं। सीखने की प्रक्रिया के अध्ययन में शिक्षा मनोवैज्ञानिक बहुत समय तक जन्तुओं में सीखने की क्रिया के विषय में प्राप्त प्रयोगफलों पर निर्भर रहे हैं, अथवा ऐसे प्रयोगों पर निर्भर रहे हैं, जिनमें प्रौढ़ मनुष्यों को निरर्थक अथवा लगभग निरर्थक अपरिवर्त्य क्रिया या भाषा-सामग्री सीखने को दी जाती थी। अब कुछ समय से, ऐसे शिक्षाग्रहण-प्रयोगों की सरलता एवं यथार्थता को स्वीकार करते हुए भी, उनकी कक्षागत शिक्षाग्रहण में अनुप्रयोगिता संदेह का विषय बन गयी है।

कक्षाओं की जटिल परिस्थितियों में सीखने के विषय में प्रयोग करने को बहुत महत्त्व दिया जा रहा है। साथ ही यह मत दृढ़ होता जा रहा है कि विद्यालयों में छात्रों के सीखने के कार्यक्रम उनके विकास पर, उनकी प्रौढ़ता पर, उनकी रुच्यात्मक आयु पर, उनके सामाजिक स्तर पर, और उनके मूल मनोभावों एवं मूल्यप्रत्ययों के आधार पर निर्धारित किये जाने चाहिए।

शिक्षा-मनोविज्ञान नवीन प्रकार के शिक्षा-विषयों के सीखने की प्रक्रियाओं का अध्ययन भी कर रहा है। पाठ्य पुस्तकों में उपलब्ध तथ्य एवं कौशलों के अतिरिक्त, अब सीखने के विषयों में स्वास्थ्यप्रद आदतें, कपड़े पहनने में सुरुचि, समाचार-पत्रों के पढ़ने में निपुणता, उपलब्ध व्यवसायों की जानकारी, अन्य व्यक्तियों के साथ निर्वाह, तथा सहयोग, मनोभाव आदर्श तथा व्यवहार-कसौटियाँ भी प्रतिष्ठाप्राप्त विषय हैं। शिक्षा-मनोविज्ञान ने सीखने के परिवेश की धारणा को भी बढ़ा लिया है। सीखने का अब शिष्यवर्ग, अध्यापकवर्ग, पड़ोस, जाति, राष्ट्र तथा संस्कृति सभी के संदर्भ में अध्ययन किया जाता है। छात्रों के परस्पर एवं अध्यापकों से सम्बन्ध, छात्र के विद्यालय, घर आदि से सम्बन्ध, और छात्रवर्ग के अध्यापकवर्ग से सम्बन्ध अध्ययन के विशेष विषय बन गये हैं।

शिक्षण

छात्रों में सीखने की प्रक्रिया को समाज सिखाने की प्रक्रिया द्वारा व्यवस्थित करने का प्रयत्न करता है। अतः सीखने के साथ सिखाने अर्थात् सीखना उत्पन्न करने के सामान्य नियमों की व्याख्या भी आवश्यक है और विशेष विद्यालयी अध्ययन विषयों के पढ़ाने के मनोवैज्ञानिक नियमों की भी। इनके अतिरिक्त अध्यापकों को अपने शिष्यों को सामान्य प्रशिक्षण भी देना है, इस बात की चिन्ता भी करनी है कि उनके द्वारा दी गयी शिक्षा-विविध शैक्षिक तथा व्यावहारिक क्षेत्रों में काम आवे, उनमें चरित्र-गुणों का विकास भी करना है, वांछित मनोभाव उत्पन्न करना है, उनमें सौन्दर्य बोध तथा कला को प्रोत्साहित करना है, और उनकी विचार-शक्तियों को बढ़ाना है। इस सारे प्रयास में उसे शिष्यों में, केवल गुण, समूह नहीं, बढ़ते हुए क्रियाशील, गतिशील सम्पूर्ण व्यक्ति देखना है। यह शिष्य राष्ट्र के नागरिक भी हैं। अतः इनमें राष्ट्रीय कुण्ठाभावों, सूक्ष्म प्रचार के प्रभावों, भयानक नेतृत्ववृत्तियों, हानिकारक आदर्शों, तथा अंतर्राष्ट्रीय संदेहों को रोकना भी है। साथ ही, स्पष्टतया स्वस्थ विचार एवं सहयोगी जीवन का विकास करना है। इसके लिए विद्यार्थियों को प्रभावित करनेवाली पारिवेशिक परिस्थितियाँ अर्थात् उत्तेजनाओं का अध्ययन, आवश्यक समझा गया है। इस अध्ययन के प्रमुख विषय—शिक्षण-विधि, शिक्षण-सामग्री, शिक्षक-व्यवहार, द्रष्टव्य-साधन, विद्यालय-संगठन, अभ्यास,

अभ्यास कराना तथा शिक्षा-विनियान है। सीखने और सिखाने के बौद्धिक अंगों की ओर फिर से ध्यान दिलाने का प्रयत्न हो रहा है। विकास में बौद्धिक निसर्ग-देन, अन्तर्वृद्धि, बौद्धिक अभ्यास तथा सामाजिक अभ्यास सवको महत्त्व देने का आग्रह किया जा रहा है। इस पर वल दिया गया है कि सोखने और सिखाने की विधियाँ सीखने वालों के बौद्धिक स्तर के अनुकूल ही होनी चाहिए। क्योंकि इनके बौद्धिक स्तरों में व्यक्तिगत अंतर होते हैं, इसलिए शिक्षण-कार्य को इन अन्तरों के अनुसार ढालना होगा।

कुछ खोजों में अध्यापन के स्थायी अध्यापकों अथवा अस्थायी विद्यार्थी-सहायकों के हाथ में दे देने से पढ़ी सामग्री के दीर्वकालिक स्मरण में कोई अन्तर नहीं पाया गया है। परन्तु सामान्य अनुभव पर आधारित जनमत इसके सर्वथा विपरीत है। अतः इस दिशा में विशेष अनुसंधान की आवश्यकता है।

यह प्रश्न भी उठाया गया है कि कक्षा में विद्यार्थियों की कितनी संख्या होने से श्रेष्ठतम शिक्षाफल प्राप्त होते हैं। एक प्रयोग में संख्या ३७ से घटाकर ३० कर देने पर एक वर्ष के उपरान्त निष्पत्ति, पठन-योग्यता, उपस्थिति, और व्यवहार सभी में महत्त्वपूर्ण उन्नति देखने में आयी है। अनेक प्रयोगों से इसी प्रकार के निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं। परन्तु कुछ प्रयोगों में कक्षा में विद्यार्थी संख्या बड़ी या छोटी रखने से पढ़ी सामग्री के दीर्घ-कालिक स्मरण में कोई अंतर नहीं पाया गया है।

पठन में सफलता पाठसामग्री की आकृति पर भी निर्भर सिद्ध हुई है। पठनगति पर मुद्रित पठन-सामग्री के टाइप का प्रभाव पड़ता देखा गया है। शीर्षकों के होने न होने से और उनके टाइप के आकार से भी अंतर पड़ जाता है। बिना शीर्षक की सामग्री के पठन की गति अपेक्षाकृत मंद होती है। चार-पाँच प्वाइंट के शीर्षक दे देने से ही पठन-गति में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हो जाती है। परन्तु इसकी भी सीमा है। क्योंकि ९ प्वाइंट के शीर्षक देने से पठन-गति कम हो जाती है।

सामान्य-अध्यापन-विधि-सम्बन्धी अनुसंधान को प्रायः शिक्षा-ग्रहण-सिद्धान्त तथा स्वचालित अध्यापन-यंत्रों के निर्माण से प्रेरणा मिली है। इस अनुसंधान से प्राप्त एक निष्कर्ष यह है कि विद्यार्थी द्वारा स्वतंत्र खोज वाहर से अर्थात् अध्यापक अथवा अध्यापन-यंत्र द्वारा निर्देशित खोज की अपेक्षा श्रेष्ठ रहती है। इसका कारण इतना यह नहीं कि यह अधिक अर्थपूर्ण होती है, वरन् यह है कि शिष्य को अपने ही बौद्धिक सामर्थ्य पर निर्भर कर देने पर उसमें औपचारिक शिक्षा-अवधि समाप्त हो जाने के उपरान्त भी सीखना चलता रखने की प्रेरणा बनी रहती है। यह भी हो सकता है कि अध्यापक से मुक्त हो जाने का भाव शिष्य के मन से एक बोझ हटा देता है और सीखने की प्रक्रिया को उससे मुक्त कर देता है। एक प्रयोग में सिद्ध हुआ है कि पढ़ाने में अध्यापक का शिष्यों के काम पर कुछ

टिप्पणी न करने की अपेक्षा कोई पूर्व निश्चित बँधे प्रकारों की टिप्पणी कर देना अधिक उपयोगी होता है, और मुक्त टिप्पणी करना उससे भी अधिक उपयोगी होता है। परन्तु यह प्रचलित विश्वास पुष्ट नहीं हुआ कि तीव्र छात्र टिप्पणी के प्रति मन्द छात्रों की अपेक्षा अधिक प्रतिक्रियाशील होते हैं।

एक अनुसंधान में पढ़ाने में टेलिविजन के उपयोग करने या न करने से पढ़ी सामग्री के दीर्घकालिक स्मरण में कोई अन्तर नहीं पाया गया है। परन्तु एक अन्य अनुसंधान में देखा गया है कि तीव्र बुद्धि छात्र अध्यापकों द्वारा पढ़ाये गये पाठ की अपेक्षा टेलिविजन द्वारा पढ़ाये गये पाठ पर अच्छे रहते हैं, मध्यम अर्थात् साधारणबुद्धि छात्रों के लिए दोनों प्रकार के पाठ एक-से होते हैं; और न्यूनतम बुद्धिवाले छात्र टेलिविजन की अपेक्षा अध्यापकों द्वारा पढ़ाये गये पाठ पर अच्छे रहते हैं।

देखा गया है कि मस्तिष्क-झंझाकारी शिक्षा देने से शिष्यों में ऐसे श्रेष्ठतर विचार उत्पन्न किये जा सकते हैं, जो इसके बिना नहीं हो पाते। यदि छात्रों को इससे पहले मस्तिष्क-झंझाकार के उपयोग में प्रशिक्षित कर दिया जाय तो और भी अधिक फल प्राप्त होते हैं। विचारों की संख्या और श्रेष्ठता में घनात्मक सहसम्बन्ध पाया गया है। सम्भव है कि साधारण दैनिक विचार में कुछ विचार अपनी या दूसरों की आलोचना के भय से अवरुद्ध होते रहते हों, और मस्तिष्क-झंझाकारी शिक्षा इस अवरोधन को घटा देती हो और परिणामस्वरूप विचारों के अधिक संख्या में प्रोत्साहित होने से श्रेष्ठ विचारों को आने का अधिक अवसर मिल जाता हो।

कुछ प्रयोगों से यह संकेत मिलता भी प्रतीत हुआ है कि शायद किसी समस्या को हल करने में किस क्रम से चला जाये, इससे छात्रों की इस काम में सामूहिक सफलता घटती-बढ़ती नहीं। न ही व्यक्तियों को समूह में रहकर समस्याएँ हल करने में कोई विशेष अधिक सफलता मिलती है।

विभिन्न विषयों की शिक्षा की विधियों का विकास और विलक्षण बच्चों की शिक्षा की विधियों का विकास दो अलग ही विषय हैं। पूर्व विषय पर बहुत कम मनोवैज्ञानिक अनुसंधान हुआ है। विलक्षण बच्चे उन्हें कहा जाता है जिनका विकास सामान्य विकास से मात्रा अथवा दिशा में भिन्न हो। उनके लिए विशेष शिक्षा-विधियाँ उपलब्ध करना विशेष शिक्षण कहलाता है। अपबुद्धि बच्चों, प्रतिभाशाली बच्चों, अंग दोषवाले बच्चों, बहरे तथा अर्धबधिर बच्चों, अंधे तथा अर्धांध बच्चों, विशिष्ट पाठ्यविषयों में कठिनाई अनुभव करनेवाले अथवा पिछड़े हुए बच्चों, औद्वेगिक अथवा सामाजिक कारणों से अशांत रहनेवाले बच्चों, इन सब के लिए विशेष शिक्षण-विधियों के विकास का प्रश्न प्रस्तुत रहा है। ऐसे ही बच्चों की समस्याओं को सुलझाने के लिए दृष्टि-बचाऊ

कक्षाएँ, अधर-पाठ आदि का अन्वेषण हुआ है, और निर्देशन-केन्द्रों, विद्यालयों, मनोवैज्ञानिकों, आदि का प्रबन्ध किया गया है। कुछ समय से प्रतिभाशाली बच्चों को पहचानने, उनकी बुद्धि, विशेषता, योग्यताओं और शारीरिक, सामाजिक एवं औद्वेगिक विशेषताओं को जान लेने और उनकी उच्चतम शिक्षा के लिए श्रेष्ठतम विधियों और कार्यक्रमों का निर्णय करने की ओर बहुत ध्यान दिया जा रहा है।

अध्यापन-कौशल तथा अध्यापक-व्यवहार

अध्यापन में कौशल शिक्षा-मनोविज्ञान का एक प्रमुखतम विषय है। कुशल अध्यापकों के गुण जान लेने के बहुत-से प्रयत्न हो रहे हैं। आशा की जाती है कि कालांतर में इनका ज्ञान अध्यापक-चयन में बहुत उपयोगी होगा। इसके अतिरिक्त कुछ समय से शिक्षा-मनोविज्ञान में बच्चों के साथ-साथ अध्यापकों के व्यवहार का अध्ययन भी आवश्यक समझा जाने लगा है।

अध्यापक-व्यवहार के विषय में कुछ प्रमुख प्रश्न ये हैं—कक्षा में अध्यापकों के व्यवहारों, मनोभावों दृष्टिकोणों और बौद्धिक तथा औद्वेगिक गुणों के ढाँचों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण, अध्यापकों के कक्षा-व्यवहारों तथा व्यक्तिगत गुणों के अनुमान के लिए उपयुक्त कागजी उपकरणों का विकास, अध्यापकों के विभिन्न वर्गों की विशेषताओं की तुलना।

इन विषयों के अध्ययन के लिए प्रयोग की गयी विधियों में एक निर्णायक अर्थात् भेदकारी घटना-विधि है। इसमें सफल तथा असफल अध्यापक-व्यवहार में अंतर की ओर संकेत करनेवाली घटनाओं का प्रेक्षण किया जाता है। अध्यापक-व्यवहार के अध्ययन के लिए अनेक आँकन दंडों का निर्माण हुआ है। खण्ड-विश्लेषण द्वारा तीन मुख्य अध्यापक-व्यवहार-खण्ड ज्ञात हुए हैं। (१) चक्रीय अन्तराबद्ध, बहिर्मुखी, अंतर्मुखी अर्थात् समझने का प्रयत्न करने वाला, मैत्रीपूर्ण अथवा दूर-दूर रहने वाला, आत्मकेन्द्रित, निषेधात्मक अध्यापक-व्यवहार, (२) स्थिर-चिंतित अर्थात् उत्तरदायित्वशील, काम में लगा हुआ, क्रमबद्ध व्यवहार अथवा टालू, अनायोजनबद्ध, असावधानीपूर्ण व्यवहार, (३) उत्साही-निरुत्साही अर्थात् प्रेरक, विचारपूर्ण तथा उत्साहपूर्ण अथवा ढीला-ढाला नित्यकार्य सीमित अध्यापक-व्यवहार। प्राप्त प्रश्नों से अन्य निष्कर्ष भी निकलते हैं। चक्रीय स्वभाव के अध्यापक शिष्यों को रुचिहीन एवं परतंत्र बना देते हैं। अस्थिर अध्यापकों के शिष्य अशिष्ट भी होते हैं। उत्साह-निरुत्साह का बच्चों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पाया गया। ५५ वर्ष के ऊपर के अध्यापक अधिक दमन-वृत्ति के होते हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक मैत्रीपूर्ण एवं क्रमपालक होती हैं। परन्तु पुरुषों के व्यवहार में स्थिरता अधिक होती है। अविवाहित अध्यापकों की अपेक्षा विवाहित अध्यापक अधिक स्थिर एवं प्रेरणा-

दायक, परन्तु कम औपचारिक होते हैं। अव्यवसायिक रुचियों वाले, श्रेष्ठ सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रों के तथा उत्कृष्ट शैक्षिक परीक्षाफल प्राप्त अध्यापकों में बच्चों की अधिक समझ होती है। धार्मिक अध्यापक भी अधिक मैत्रीपूर्ण होते हैं।

अध्यापन-कार्य में अध्यापकों के मानसिक स्वास्थ्य को और उनकी मानसिक शान्ति एवं संतुष्टि को आवश्यक समझते हुए शिक्षकों की विविध प्रकार की समस्याओं के अध्ययन का भी महत्त्व है। विशेषतया उनकी व्यावसायिक समस्याओं, उनके वैयक्तिक समायोजन, और उनकी चिन्ताओं एवं अशांतियों को समझना और उनके विषय में उपर्युक्त व्यवस्था करना आवश्यक है। अभी इधर कम ध्यान दिया गया है। व्यावहारिक आवश्यकताओं द्वारा प्रेरित होकर शिक्षामनोवैज्ञानिकों ने शिक्षा-कर्मचारी चयन के क्षेत्र में रुचि लेना आरम्भ किया है।

विद्यालयी व्यक्ति मनोविज्ञान

शिक्षक मनोविज्ञान से अधिक ध्यान शिष्य-मनोविज्ञान के विकास में दिया गया है। शिक्षा-मनोविज्ञान का एक विशिष्ट भाग विद्यालयी व्यक्ति मनोविज्ञान के रूप में विकसित हुआ है। इसके क्षेत्र में शिक्षक, शिष्य दोनों आयेंगे। परन्तु अभी इसमें मुख्यत: छात्र के समायोजन को उसके उत्तर जीवन में आवश्यक समायोजन के, अर्थात् समाज के महत्त्वपूर्ण पदों के सँभालने के लिए आवश्यक योग्यताओं के विकास के एक अंग और चरण के रूप में देखा जाता है। इसके लिए सर्वप्रथम विद्यालय में भरती के लिए योग्य छात्रों को चुनने की तथा उन्हें विद्यालय में भरती होने के संबंध में निर्देशन देने की समस्या का और उनके समायोजन से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। शिक्षा-पूर्व शिक्षा-योग्यता परीक्षणों का निर्माण तथा उपयोग होता है। इनके आधार पर अल्पबुद्धियों का विद्यालयों में भरती होना और विद्या-अध्ययन का व्यर्थ करना कम किया जा सकता है। इस प्रकार शिक्षा-लाभ के पूर्वानुमान की आवश्यकता ने बुद्धि-परीक्षा के विकास को जन्म दिया है। बुद्धि-मापन एक विस्तृत विषय बन गया है। बहुसमाश्रयण विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकला है कि छात्रों की बौद्धिक योग्यताओं में से शिक्षा की सफलता सर्वाधिक मात्रा में पठन, योग्यता, परीक्षण ज्ञात बुद्धि, निर्णय-योग्यता तथा समस्या-पहचान के आधार पर पूर्वानुमानित की जा सकती है। रिक्त पूर्ति, शब्द-प्रवाह तथा विचार प्रवाह इसमें विशेष योग नहीं देते। यहाँ तक कि विचार-प्रवाह-समस्याओं के हल करने में रुकावट डालते पाये गये हैं।

महाविद्यालय-योग्यता परीक्षणों में प्राय: पूर्त्ति, गणित, शब्द-ज्ञान, आदेश-ग्रहण आदि उपपरीक्षण होते हैं और अलग-अलग महाविद्यालय में उपयोग के लिए भिन्न-भिन्न

आकृतियाँ होती हैं। देखा गया है कि इन परीक्षणों का सह-सम्बन्ध प्रथम वर्ष के अंतिम परीक्षाफल से अधिक और द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्ष के अन्तिम परीक्षाफलों के साथ कम होता जाता है। इससे इन पर आधारित पूर्वानुमानों का महत्त्व दीर्घकालीन नहीं, लघुकालीन प्रतीत होता है। किसी सम्पूर्ण प्रादेशिक अथवा राष्ट्रीय संस्था द्वारा वितरित परीक्षणों की अपेक्षा प्रत्येक महाविद्यालय में अलग बनाये गये महाविद्यालय शिक्षा योग्यता परीक्षणों में अधिक प्रमाणता पायी गयी है। इन परीक्षणों के अतिरिक्त महाविद्यालय-शिक्षा-योग्यता के पूर्वानुमान के लिए पूर्व माध्यमिक निष्पत्ति परीक्षणों, पूर्व माध्यमिक साधारण परीक्षाफलों और विशेष योग्यता-परीक्षणों का उपयोग भी किया गया है। कभी-कभी पठन-परीक्षणांक, चरित्र-आँकन, मनोविकृति प्रश्नावली अंक, मनोभाव-अंक और रुचि को भी पूर्वानुमान के आधारस्वरूप माना गया है। महाविद्यालय में सफलता के सभी निर्धारकों को यथोचित महत्त्व देने वाले समीकरणों से भी काम लिया गया है। पूर्वानुमान के इन सभी माध्यमों का सापेक्ष मूल्याँकन करने के प्रयत्न हुए हैं। परन्तु निश्चित रूप से इनका स्वरूप, अर्थ अथवा महत्त्व स्थिर नहीं हो पाया है। उपर्युक्त समीकरणों के उपयोग में यह श्रेष्ठता है कि पूर्वानुमान प्रश्नावली में आयु, पढ़ाई में बिताये काल, परिवार-आकार, पिता के व्यवसाय, महाविद्यालय शिक्षा प्राप्त सम्बन्धियों के अनुपात, आदि व्यक्तिगत तथ्यों से सम्बन्धित प्रश्न भी रखे जा सकते हैं। पूर्वानुमान मात्रा के संकेत बहुसहसम्बन्ध गुणकों से मिलते हैं। मध्यक बहुसम्बन्ध गुणक +.६५ के लगभग और बीच के आधे गुणकों का विस्तार +.६० से +.७० तक पाया गया है।

विश्वविद्यालय शिक्षा-योग्यता-परीक्षण भी बने हैं। इनमें महाविद्यालयी शिक्षा की समाप्ति पर सामान्य शिक्षा-योग्यता देखी जाती है। गणित, समाज-विज्ञान, भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान, साहित्य, ललित कला, रसायन, विदेशी भाषा, आदि कई क्षेत्रों में सम्बन्धित उपपरीक्षण होते हैं। कदाचित् इससे अधिक मात्रा में महाविद्यालयी सफलता का पूर्वानुमान किया ही नहीं जा सकता।

विशेष शिक्षा-क्षेत्रों में विद्यार्थी की सफलता को रुझान पर निर्भर समझा गया है। इसलिए इसमें पूर्वानुमान के लिए रुझान-परीक्षण बनाने की दिशा में अत्यन्त प्रयास हुआ है। इसमें संतोषजनक सफलता अभी कम मिली है। फिर भी बीजगणित, भौतिक विज्ञान, रसायन आदि विषयों में अपेक्षाकृत सफल रुझान परीक्षण बने हैं। सर्वाधिक प्रयास व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्रों में योग्यता-परीक्षण बनाने का किया गया है। इंजीनियरी, सामान्य चिकित्सा, दंत-चिकित्सा, अध्यापन, कानून तथा पत्रकारिता के क्षेत्रों में इस दिशा में बहुत काम हुआ है। उदाहरणार्थ, सामान्य चिकित्सा शिक्षा में सफलता के पूर्वानुमान के लिए बनाये गये परीक्षणों में अर्थ-ग्रहण, स्मृति, तर्क, वैज्ञानिक

शब्द ज्ञान और वैज्ञानिक समझ का मापन किया जाता है। दन्त-चिकित्सा की शिक्षा में दाँतों में रंग और चमक के गड्ढों में दर्पण में प्रतिबिम्बित आकृतियों के, और गलत दुर्गन्ध में सूक्ष्म अंतरों के पहचानने की योग्यता, हाथों में सूक्ष्म सामंजस्य और कुशल क्रिया-योग्यता का काम पड़ता है। अतः इस क्षेत्र की शिक्षा में सफलता के पूर्वानुमान-परीक्षणों में कलप्रयोग योग्यता परीक्षणों और सामान्य बुद्धि परीक्षणों का मिश्रण होता है। अध्यापन-शिक्षा-योग्यता-परीक्षणों में अध्यापन-विधियों के अवलोकन, शिक्षा-विषय की सामग्री को समझने की योग्यता और शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं के विश्लेषण की योग्यता देखी जाती है। वकालत की शिक्षा के लिए रुझान-मापन करन वाले परीक्षणों में राजनियम व न्याय-सम्बन्धी तर्क, यथार्थ स्मरण, अर्थग्रहण, उपासन, विश्लेषण और तर्क की योग्यताओं को मापन किया जाता है। बुद्धि के सर्वोच्च स्तर की आवश्यकता कदाचित् सामान्य चिकित्सा, वकालत एवं इंजीनियरी के क्षेत्रों में पड़ती है। उससे कुछ निम्नतर स्तर कृषि के विद्यार्थियों के लिए आवश्यक है और इनसे भी निम्नतर स्तर दंत-चिकित्सा, औषधि-विज्ञान, और नये अर्थात् उपचारिका के काम की शिक्षा के लिए चाहिए। रुझान भावी संभव योग्यताओं की ओर संकेत करने वाली वर्तमान योग्यताओं को कहा जाता है। इनका स्वयं व्यक्ति को अज्ञात होना भी संभव है। इनके मापन में अनेक कठिन समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। अतः भावी शैक्षिक सफलता का छात्रों की रुचियों के आधार पर निदान करना आकर्षक प्रतीत हुआ है। रुचियाँ प्रायः चेतन होती हैं। वैसे, अवचेतन रुचियों की धारणा भी बनी है। चेतन रुचियों के मापन के लिए अनेक प्रकार के रुचि-परीक्षण बने हैं।

विद्यालयी व्यक्ति मनोविज्ञान विद्यार्थी के भावी शिक्षा-लाभ का पूर्वानुमान ही नहीं करता। इससे उसे शैक्षिक निर्देशन के विकास की प्रेरणा मिली है। इसमें व्यक्तिगत अंतरों का आधार स्वीकृत किया जाता है और यह माना जाता है कि शैक्षिक चयन और निर्देशन व्यक्तिगत अंतरों के अनुसार ही ढलेगा।

शैक्षिक निर्देशन केवल शिक्षा-विषय चुनने के विषय तक ही सीमित नहीं रहा है। जब विद्यार्थी उन विषयों को पढ़ने-सीखने का कुछ प्रयास कर चुकता है, तब उसे कुछ कठिनाइयों और समस्याओं का अनुभव होता है। शैक्षिक निर्देशन का एक अंग इन समस्याओं और कठिनाइयों के विषय में छात्रों को निर्देशन उपलब्ध करना भी है। इसमें विशिष्ट पाठ्य विषयों में असफलता का उपचार किया जाता है। उनके व्यावसायिक एवं सांस्कृतिक विकास के लिए उपयोगी अध्ययन-कार्यक्रमों के आयोजनों के विषय में व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों प्रकार का निर्देशन दिया जाता है। उनको मानसिक कार्यों को कौशल के साथ कर लेने के ढंग सीखने में भी सहायता दी जाती है।

जैसे-जैसे व्यक्तिगत आयोजन की कोई समस्याएँ उठती हैं, उनका भी समाधान किया जाता है। समालाप द्वारा उनकी समस्याओं को समझा जाता है। प्रायः छात्रालयों और कक्षाओं में एक साथ रहने और साथ काम करने के सम्बन्ध में, विद्यालय की छात्र-सभाओं के सम्बन्ध में, सामूहिक सम्मेलनों के सम्बन्ध में, प्रकाशनों के सम्बन्ध में, आमोद-घरों, संगीत-दलों इत्यादि के सम्बन्ध में और खेती के सम्बन्ध में समस्याएँ उठा करती हैं। निर्देशन का उद्देश्य यह होता है कि छात्रों को अपने विद्यालय-जीवन की समस्याओं के विषय में पूर्ण जानकारी प्रदान की जाय और वह सब तथ्य उन्हें बताये जायें, जिनसे उन्हें कालेज के समाज में रहना सीखने में सहायता हो। परन्तु उनको सुलझाने में प्रेरणा, पहल और उत्तरदायित्व-भावना प्रत्येक छात्र की अपनी निजी रहे। कुछ समय से माता-पिताओं के भावों, छात्रालय के सहवासियों और अध्यापकों के व्यक्तित्वों का शिक्षा-प्राप्ति पर प्रभाव अन्वेषण का विषय बना हुआ है। देखा गया है कि छात्रों की समायोजन समस्याएँ अधिकांश पाठ्यक्रम सम्बन्धी नहीं, व्यक्तितत्व-सम्बन्धी हुआ करती हैं, परन्तु उनका परिणाम यह होता है कि पाठ्यक्रम-सम्बन्धी समायोजन में भी कुछ न कुछ विकार आ ही जाता है।

यह भी देखा गया है कि निर्देशन समस्याएँ, आर्थिक समस्याएँ और कक्षा के बाहर शिक्षकों से सम्बन्धों के बारे में समस्याएँ प्रायः अल्पबुद्धि विद्यार्थियों की होती हैं। पुस्तकालय-उद्योग की समस्याएँ, कक्षा में शिक्षकों से सम्बन्धित समस्याएँ, अन्य व्यक्ति-समूहों से सम्बन्धित समस्याएँ, अन्य विद्यार्थियों से सम्बन्धित समस्याएँ, धार्मिक समस्याएँ और अधिकारियों से सम्बन्धित समस्याएँ प्रायः मनोवृत्ति की ओर अति झुकाव वाले विद्यार्थियों की होती हैं। आर्थिक समस्याएँ, शिक्षा-निर्देशन समस्याएँ, स्वास्थ्य-समस्याएँ, धार्मिक समस्याएँ, पुस्तकालय-उपयोग-समस्याएँ, व्यावसायिक समस्याएँ और कक्षा के बाहर अध्यापकों के सम्बन्ध में समस्याएँ निम्न सामाजिक आर्थिक स्तर के विद्यार्थियों की भी देखी गयी हैं। अतः शैक्षिक निर्देशन का एक काम विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य को संभालना, मानसिक अस्वास्थ्य को रोकना और आवश्यकता पड़ने पर उसका उपचार अथवा मनश्चिकित्सा उपलब्ध करना भी है। इसमें व्यक्तित्व-समायोजन तथा अंतर्व्यक्तिगत सम्बन्धों की समस्याओं की प्रधानता हो जाती है। समायोजन के मापन के लिए उपयुक्त परीक्षणों का निर्माण एवं उपयोग महत्त्वपूर्ण हो जाता है। स्वाभाविक है कि इन परीक्षणों का उपयोग प्रेक्षण तथा वैयक्तिक इतिहास विधि के साथ साथ किया जाय। बाल-समायोजन परीक्षण प्रायः आयुस्तरानुसार वर्गीकृत होते हैं, और बच्चे के उपलब्धि-परिवेश में नवीन परिस्थितियों एवं समस्याओं की ओर प्रतिक्रियाओं को जानने का प्रयत्न करते हैं। इसके लिए एक विधि यह है कि संतुष्टि

प्रदान कर सकने वाला कोई पदार्थ उसके समक्ष उपस्थापित किया जाता है, उसके समक्ष से हटा लिया जाता है और पुनः उपलब्ध कर दिया जाता है।

शैक्षिक निष्पत्ति

किसी शिक्षा-काल के उपरान्त यह जान लेना महत्त्वपूर्ण होता है कि इस काल में जो सीखने सिखाने का प्रयास किया गया, उसमें कितनी सफलता हुई। अतः शिक्षा-मनोविज्ञान का एक बहुत बड़ा विषय शिक्षालाभमापन है। इसका उद्देश्य शैक्षिक निष्पत्ति अर्थात् विद्यालयी कार्य के फलस्वरूप प्राप्त बौद्धिक, मूल्यांकनात्मक एवं नैतिक निर्णय करने की योग्यता का अध्ययन है। इसके लिए प्रायः निष्पत्ति-परीक्षणों का निर्माण, विकास तथा उपयोग किया जाता है। अधिकांश परीक्षण कागज-पेन्सिल परीक्षण होते हैं तथा छात्रों से कक्षाओं में अथवा विशेष परीक्षालयों में करवाये जाते हैं। परन्तु यह आग्रह भी किया गया है कि निष्पत्ति-परीक्षा के लिए अधिक आवश्यक यह ज्ञात करना है कि विद्यालयी शिक्षा का विद्यालय से बाहर के जीवन पर कहाँ तक प्रभाव पड़ा है अर्थात् उसमें कहाँ तक अंतर आया है। उदाहरणार्थ स्वास्थ्य-विषयक आदतों में, दूसरों के साथ निर्वाह करने के ढंग में अथवा मूल्य-विषयक समस्याओं के सुलझाने के ढंग में क्या और कितना परिवर्तन हुआ है। कला-कौशल और व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में जो निष्पत्ति-परीक्षण बने हैं, उनमें इस प्रकार का अंश कुछ अधिक है।

शिक्षालाभमापन की विधियों और परिस्थितियों के अनेक अंगों के विषय में अनुसंधान हुए हैं। उदाहरणार्थ, परीक्षा के समय में पुस्तकें देखने के लिए उपलब्ध रहने और न रहने की प्रायोगिक तुलना से पता चला है कि दोनों विधियों में अलग-अलग योग्यताओं की परीक्षा होती है और किसी विधि को विशेषतया श्रेष्ठतर नहीं कहा जा सकता।

शिक्षालाभमापन से असंतोषजनक परीक्षाफल आने पर निदान का प्रश्न उठता है। कोई आज अपनी पढ़ाई में पर्याप्त सफलता नहीं प्राप्त कर रहा है तो इसके कारणों की जाँच करके उन्हें दूर करने का प्रयत्न आवश्यक है। अतः शैक्षिक निर्देशन शिक्षा-मनोविज्ञान की एक अन्य समस्या हो जाती है।

कदाचित् शिक्षा-मनोविज्ञान के विकास का एक महत्त्वपूर्ण फल विद्यालयों में मनोवैज्ञानिकों की नियुक्ति द्वारा उनके लिए विविध प्रकार की मनोवैज्ञानिक सेवाएँ उपलब्ध करने की व्यवस्था का आरम्भ है। इसका काम मुख्यतः विद्यालय में विशेष विद्यार्थियों की व्यक्तिगत समस्याओं का अध्ययन करना, इनके लिए उपयुक्त उपचार उपलब्ध करना और यथासंभव छात्र-निर्देशन केन्द्रों का संचालन करना, छात्रों के सम्पूर्ण परिवेश का और उसके प्रभाव का अध्ययन करना, सामूहिक निष्पत्ति एवं बुद्धि-परीक्षण करना, शिक्षकों और शिक्षण-व्यवसाय में जाना चाहने वाले छात्रों का मनोवैज्ञानिक प्रशिक्षण और उपयुक्त समस्याओं पर अनुसंधान करना समझा गया है।

११

उद्योग-मनोविज्ञान

उद्योग-मनोविज्ञान उद्योग एवं व्यापार की मानव-सम्बन्धी समस्याओं के सुलझाने में मनोवैज्ञानिक विधियों तथा कार्यशैलियों के अनुप्रयोग के प्रयत्न का फल है। कुछ समय से उद्योग और व्यापार में मानव का महत्त्व अधिक मात्रा में स्वीकृत होने लगा है और मनोविज्ञान के अनुप्रयोग का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। इस समय समाज में उद्योग-मनोविज्ञान का ज्ञान उन्नति पर है।

पदार्थकेन्द्रित मनस्टैक्नीक

उद्योग-मनोविज्ञान के दो मुख्य क्षेत्र हैं। एक क्षेत्र को पदार्थकेन्द्रित मनस्टेक्नीक कहा गया है। यह मनुष्यों के औद्योगिक कार्य की परिस्थितियों की व्यवस्था अर्थात् मानव अभियंत्रण पर केन्द्रित होता है। इसमें उद्योग कार्य को करन वाले मनुष्यों की योग्यताओं और सीमाओं के अनुकूल बनाने पर ध्यान दिया जाता है। इस क्षेत्र में व्यक्तिगत अंतरों की अपेक्षा उद्योग की बढ़ती हुई यांत्रिकता पर ध्यान अधिक केन्द्रित रहता है। इसका मुख्य उद्देश्य कार्य-परिवर्त्यों का कार्य पर प्रभाव देखना होता है।

समय तथा गति के अध्ययन

पदार्थकेन्द्रित मनस्टेक्नीक में समय तथा गति के अध्ययन का विशेष महत्त्व रहा है, जिसके तीन मुख्य अंग हैं—कारखाने या व्यापार के आयोजन में औजारों तथा अन्य सामग्री का सुविन्यास, कौशलप्राप्त तथा कौशलहीन कर्मचारियों में कार्यविभाजन और औद्योगिक कार्य में श्रेष्ठतम गतियों अर्थात् क्रियाओं की शिक्षा। सामग्री-सुविन्यास का उद्देश्य प्रत्येक उपकरण के रखने के लिए ऐसा स्थान निश्चित एवं आयोजित करना है कि कर्मचारी की थकान बढ़े बिना न्यूनतम समय में अधिक उत्पादन हो सके। गत्यध्ययन कर्मचारियों के लिए आरम्भ से ही ऐसे कार्य-शिक्षा के आयोजन का प्रयत्न करता है कि व्यर्थ गतियाँ न हुआ करें। इसके मुख्य नियम यह हैं कि जहाँ-जहाँ हो सके अलग-अलग दिशाओं में होने वाली अलग-अलग गतियों के स्थान पर एक वृत्तीय गति ही की जाये, यथासंभव दोनों हाथों से की जाने वाली समान गतियाँ आगे-पीछे की अपेक्षा एक साथ ही की जायें,

कार्य को झटकों में नहीं लय से किया जाये और इस प्रकार कम से कम श्रम अथवा थकान से सर्वाधिक काम हो सके। इस प्रकार के गत्यध्ययन में कर्मचारियों का पूर्ण विश्वास एवं सहयोग आवश्यक होता है। साथ ही उनकी गतियों की यांत्रिक प्रति बना लेने से उनके विश्लेषण में बहुत सुविधा हो आती है। ऐसी प्रति प्राप्त करने के लिए कर्मचारी की गतियों और उनके साथ चलती हुई घड़ी का चलचित्र खींचा जा सकता है। परन्तु चलचित्र में कुछ गतियाँ कर्मचारी के अंगों के पीछे छिप जाती हैं, सभी चित्र, चित्र खींचने वाले के दृष्टिकोण से ही आते हैं, और गतियों का विश्लेषण भी आसान नहीं होता। अतः क्रोनोसाइकलाग्राफ नामक विधि का आविष्कार हुआ है। इसमें कर्मचारी के गतिमान् अंग के सिरे पर एक प्रज्वलित विद्युत्-दीप बाँध दिया जाता है। कर्मचारी की गतियों के होते समय इस दीप को बारम्बार ऐसे जलाया और बुझाया जाता है कि उसका प्रकाश पहले तीव्र से हल्का होकर फिर लुप्त हो। इस प्रबन्ध के साथ कर्मचारी की गतियों का स्थिर चित्र लेने से, चित्र में गतिरेखाएँ बन जाती हैं और उनकी दिशा भी स्पष्ट रहती है। तब इस चित्र के आधार पर तार से गतियों का पूरा नमूना बना लिया जाता है। इन गतियों का थरब्लिग नामक इकाइयों अर्थात् गत्यणुओं में विश्लेषण कर लिया जाता है। ढूंढ़ना, पा लेना, पकड़ लेना, देखना, प्रतीक्षा करना, विश्राम करना, चुनना, छोड़ देना इत्यादि इन गत्यणुओं के कुछ उदाहरण हैं। प्रत्येक गत्यणु का एक चिह्न निश्चित होता है। इन चिह्नों का उपयोग ऐसा लेखाचित्र बनाने में किया जाता है, जिसमें काम में आने वाले शरीरांग, प्रत्येक अंग से की जाने वाली क्रियाएँ और प्रत्येक क्रिया में लगने वाला समय, सब दर्शाया जाता है। इस प्रकार व्यवसाय विशेष के काम में लगने वाले समय और कामों का विश्लेषण तथा कर्मचारियों के प्रशिक्षण दोनों सरल हो जाते हैं।

गत्यध्ययन में दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं। एक लघुतम गतिवादी दृष्टिकोण है। यह न्यूनतम गति के पक्ष में है और प्रत्येक वास्तविक गति को इकाई रूप लघु गतियों से मिलकर बना समझता है। यह दृष्टिकोण गति को अति जटिल मानकर उसका इतना अधिक सूक्ष्म यांत्रिक विश्लेषण कर डालता है कि सँभल न पाये। इसमें व्यावहारिक मानव-जीवन का ज्ञान और मानव-गतियों का उत्प्रेरणात्मक आधार अलग रख दिया जाता है। प्रायः ऐसा दृष्टिकोण नीरस और व्यर्थ-सा लगने लगता है। इसके विपरीत मनन-उत्प्रेरणवादी दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण गति के विश्लेषण में यांत्रिक विधियों का न्यूनतम उपयोग करते हुए मुख्यतः गतिकर्ता पर ध्यान केन्द्रित करता है, कार्य-गतियों पर उसके व्यक्तिगत प्रभाव को महत्त्व देता है, उससे प्रशिक्षित समालाप को प्रमुख विधि के रूप में अपनाता है और औद्योगिक कार्य की व्यवस्था में कर्मचारी का व्यक्तिगत एवं सामूहिक भाग लेना आवश्यक समझता है।

गतियों के समय का अध्ययन करने में दो विधियाँ प्रयुक्त हुई हैं। एक अखंड विधि है, जिसमें सूक्ष्म समयमापी घड़ी चलती रहती है और अनुसंधानकर्ता गतियों के समयों की पढ़तें करता जाता है। दूसरी खट से लौटने की विधि है जिसमें घड़ी की सुई को प्रत्येक गत्यंश के बाद शून्य पर ले आकर फिर से चलने दिया जाता है। दूसरी विधि समय की अवधियों के मापन में तो पहली विधि जैसी सूक्ष्म यथार्थता नहीं प्रदान करती, परन्तु समय परिवर्त्यता-मापन में दोनों विधियाँ समान रहती ह।

औद्योगिक श्रांति

गति-अध्ययन से ही सम्बन्धित औद्योगिक श्रांति के मनोवैज्ञानिक लक्षणों, कारणों और इसे कम करने के उपायों का अध्ययन है। इसमें प्रायः अग्रोग्राफ नामक यंत्र द्वारा किसी एक पेशी में प्रस्तुत परिस्थितियों में काम करने की क्षमता के परिवर्तन ज्ञात किये जाते हैं। इस क्षमता में कमी प्रायः अधिक देर तक निरन्तर एक ही क्रिया करते रहने के कारण तंत्रिकीय अवरोध के परिणाम स्वरूप होती है। क्योंकि कार्य-परिस्थितियाँ बदल देने से कार्य-क्षमता फिर बढ़ जाती है। कार्य में रुचि अर्थात् सुखात्मक प्रेरणा कम होने से उकताहट भी होती है। इसके परिणाम कार्य-परिवर्तन से रोके या दूर किये जा सकते हैं।

औद्योगिक श्रान्ति का मापन कई प्रकार से किया गया है। यदि यह मान लिया जाय कि थकान उत्पादन की कमी के अनुपात में होती है तो दिन में एक दूसरे के बाद कई कालांतरों में होने वाले उत्पादन की मात्रा तथा उत्तमता के प्रेक्षण से थकान का विश्वास-योग्य मापन हो जाता है। इससे कुछ कम विश्वस्त विधि यह है कि एक-एक कर प्रत्येक घंटे का मशीनी शक्ति का व्यय ज्ञात कर लिया जाय। थकान का मापन बिगड़े हुए अर्थात् दोषयुक्त उत्पादन की मात्रा की वृद्धि के आधार पर भी हो सकता है। अकौशल-जनित दुर्घटनाओं की संख्या में वृद्धि, चालू मशीनों की संख्या में कमी, दिन के अंतिम भाग में कई बार उत्पादन-गति में आकस्मिक वृद्धि, थकान की मात्रा के कुछ अन्य चिह्न हैं। औद्योगिक थकान के मापन के लिए क्रिया-शक्ति-मापी नाम का एक यंत्र भी बनाया गया है। इसके उपयोग में अग्रभुजा, कलाई, टाँग आदि शरीर के विभिन्न अंगों की पेशियों द्वारा एक स्प्रिंग को खींचने की मध्यम शक्ति को थकान मापन का आधार बनाया जाता है। परन्तु इसमें व्यक्ति जान बूझ कर अपने कौशल की अभिव्यक्ति को सीमित रख सकता है, प्रत्येक अवसर पर परीक्षक को ठीक उसी प्रकार करना कठिन होता है, और अभ्यास, उग्रता, उकताहट, झुंझलाहट आदि द्वारा क्रियाशक्ति के यथार्थ मापन में अड़चन पड़ सकती है। थकान के मापन को कर्मचारी द्वारा चेतन-नियंत्रण से परे रखने के लिए देह-प्रक्रियात्मक सूचकों का उपयोग भी किया गया है। ऐसे कुछ थकानसूचक रुधिरदाब-

परिवर्तन, नाड़ी-गति-परिवर्तन, त्वचा में स्वाभाविक रंग लौटने की गति तथा श्वसन-गति हैं। प्रतिवर्त क्रियाओं का, और त्वचा से, विद्युत्-प्रतिरोध से, प्रेक्षण, विशेषतया केन्द्रीय तंत्रिकातंत्र स्थित परिवर्तनों से, उत्पन्न थकान का यथार्थ मापन हो सकता है। परन्तु यह देह-प्रक्रियात्मक थकान-सूचक उद्वेगादि अवस्थाओं के अनैच्छिक प्रभावों से मुक्त नहीं रह सकते। इनके मापन-यंत्रों से कर्मचारी डर सकता है, झुंझला सकता है और अपने काम से अवकाश के अवसर पाने के कारण प्रसन्न भी हो सकता है, और उसकी इन अवस्थाओं में वास्तविक थकान कुछ-कुछ छिप जाती है।

थकान के मापन में थकान के मानसिक चिह्नों से भी काम लिया जा सकता है। इसके लिए प्रतिक्रियागति, स्मृति, गणित क्रिया, दृष्टितीव्रता, श्रवणतीव्रता आदि के परीक्षणों का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार के परीक्षणों में भी मापफल रुचिपरिवर्तनों एवं औद्वेगिक परिवर्तनों पर निर्भर होते हैं। अतः इनको निरंतर लगभग एक घंटे तक कराना अच्छा समझा जाता है, जिससे उस समय थकान के चिह्न के रूप में उत्पादन का घटना देखा जा सके। इसी उद्देश्य से एक परीक्षण में कर्मचारी के सम्मुख सरल संख्याओं का एक लम्बा स्तम्भ उपस्थापित कर दिया जाता है और उसे आदेश दिया जाता है कि क्रम से संख्याओं की एक-एक जोड़ी को जोड़कर उसका योग लिखता चला जाय। परीक्षक देखता है कि क्रम से एक-एक मिनट की अवधियों में कर्मचारी कितनी-कितनी जोड़ियों का ठीक योग निकाल पाता है। स्वाभाविक ही है कि मानसिक थकान के साथ उसकी यह क्षमता घटती जाती है। ऐसे ही एक अन्य परीक्षण में कर्मचारी को उपस्थापित सामग्री में से कोई एक अक्षर जितनी बार भी आये काट देना होता है और परीक्षक देखता है कि इस कटनी की प्रतिमिनट संख्या घटती जाती है। इसी प्रकार एक अन्य परीक्षण में कर्मचारी को अपने सामने घूमती हुई कागज की लम्बी पट्टी पर बने हुए वृत्तों के केन्द्र पर बिन्दु लगाना होता है।

इन श्रान्ति-मापन विधियों का उपयोग विशेषतया कार्यक्षमता के परिवर्तन के सामान्य नियमों को ज्ञात करने में हुआ है। थकान पर अभ्यास के प्रभाव का अध्ययन किया गया है। पर्याप्त अभ्यास से कार्यक्षमता घटने के बजाय बढ़ जाती है। किसी भी कार्य के आरम्भ में कर्मचारी में विशेष स्फूर्ति होती है और उसके कार्य की गति तीव्र होती है। कार्य की अवधि के अन्त में भी एक बार फिर गति तीव्र हो जाती है। बीच में कभी-कभी विशेष प्रयास के कारण गति वृद्धि देखने में आती है। ऐसे ही छुट्टियों से पहले और मजदूरी मिलने के दिन पास आने पर गति-वृद्धि पायी जाती है। जब कर्मचारी छुट्टी के बाद काम पर लौटता है तो उसकी कार्यगति ठंडी पड़ चुकी होती है और उसे गरमाने के लिए अर्थात् उकसाने के लिए एवं अविचल रूप से कार्य में जमने के लिए

कुछ मंदगति-काल में से निकलना पड़ता है। कार्य अर्थात् उत्पादन की प्रगति पर कार्य के स्वरूप का प्रभाव भी पड़ता है। केवल बल-प्रयोग वाले कामों में आरम्भ में तीव्र गति से शीघ्र ही सर्वाधिक उत्पादकता की प्राप्ति, फिर कार्य-गति की स्पष्ट घटान, मध्याह्न विश्राम के बाद पर्याप्त वृद्धि, और फिर सन्ध्या तक निरंतर उत्पादन-गति में गिरावट हुआ करती है। कौशलयुक्त कार्यों में प्रारम्भ में धीरे-धीरे समय पाकर ही सर्वाधिक उत्पादकता प्राप्त होती है, फिर धीरे-धीरे उत्पादकता घटती है, मध्याह्न विश्राम के बाद उसमें अधूरी वृद्धि होती है और अन्त में थोड़ी ही कमी आती है। मशीनी कामों में उत्पादन मानव-क्षमता पर कम निर्भर होता है, दो-ढाई घंटे में सर्वाधिक गति पर पहुँचता है, फिर थोड़ा-सा घटता है और मध्याह्न-विश्राम के उपरान्त तनिक भी नहीं घटता, बढ़ भले ही जाय। कौशल तथा बल-प्रयोग के साथ-साथ लय से करनेवाले कामों में उत्पादन निम्न स्तर से आरम्भ होता है और तीन घंटों में बहुत उच्च स्तर पर पहुँच जाता है, फिर तनिक घटता है, और मध्याह्नविश्रामोपरान्त अन्त तक उच्च स्तर पर रहता है। यही नहीं, यह भी पता चला है कि विश्राम की अवस्था में भी दिन भर में मनुष्यों की उत्पादकता एक-सी नहीं रहती।

औद्योगिक थकान का एक कारण बोझ उठाना भी होता है। मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से पता चला है कि पुरुषों को काम के समय के ४३ प्रतिशत भाग से अधिक समय तक बोझ उठाये नहीं रहना चाहिए। बोझ उठाने का काम, थोड़ी-थोड़ी देर के लिए बीच-बीच में विश्राम देकर होने से, कर्मचारी को अधिक मजदूरी दिलाता है, उत्पादन में कम व्यय कराता है और उत्पादन कई गुना कर देता है।

थकान के बहुत से अन्य कारण हैं—कर्मचारी का व्यर्थ खड़े रहना, अल्प प्रकाश, दीवारों, यंत्रों आदि की अत्यधिक चमक, शोर, गरमी, नमी, बन्द हवा, हानि का डर, भोजन अथवा स्वच्छता की कमी, कर्मचारी-कल्याण के साधनों की कमी, इत्यादि। कर्मचारियों से निरंतर रात में काम कराना भी तभी ठीक होता है, जब लगातार दो सप्ताह से अधिक तक न कराया जाय और उनके दिन में विश्राम के लिए पर्याप्त विश्रामगृहों का प्रबन्ध हो। प्रयोगफल कलेवे के पूर्व और सन्ध्या को अतिरिक्त समय तक काम कराने के भी विपक्ष में सिद्ध हुए हैं। काम के बीच-बीच में भी नियमपूर्वक विश्राम देने से थकान घटती है और उत्पादन भी बढ़ता है। यहाँ तक देखा गया है कि दिन में काम करने का समय घटा देने से कर्मचारियों पर ऐसे चेतन एवं अवचेतन प्रभाव पड़ते हैं कि बहुत धीरे-धीरे समय पाकर उत्पादन बढ़ जाता है। कौशलपूर्ण कामों में थकान के व्यक्तिगत कारणों की ओर भी ध्यान दिया गया है।

उत्पादन में कमी केवल थकान से ही नहीं होती। कभी-कभी कर्मचारी अथवा मालिक

स्वयं भी उत्पादन को जाने या अनजाने कम कर देते हैं। उद्योग मालिक कच्चा माल उड़ जाने के कारण, बाज़ार में अपना माल भर जाने से उसके दाम गिर जाने के डर के कारण, और अपने उद्योग के विभिन्न विभागों की आवश्यकताओं में सामंजस्य की आवश्यकता के कारण, जान-बूझकर भी उत्पादन घटा दिया करते हैं। जब वे उद्योग की समुचित व्यवस्था नहीं करते, पुराने ढंग के यंत्रों का उपयोग कराते हैं, कर्मचारियों के पर्याप्त प्रशिक्षण की चिन्ता नहीं करते अथवा काम और विश्राम के समयों का समुचित नियोजन नहीं करते, तब वे अनजाने ही उत्पादन घटाते हैं। इसी प्रकार कर्मचारी भी असंतोष, संदेह अथवा ईर्ष्या के कारण, अथवा मजदूरी की दर गिर जाने के डर से, या कम योग्यता वाले कर्मचारियों के प्रति सहानुभूति के कारण जान-बूझकर उत्पादन घटा दिया करते हैं। थकान से रक्षा के हेतु स्वाभाविक एवं अवचेतन दैहिक अनुकूलन, व्यवस्थापकों अथवा कर्मचारियों की ओर से ढील तथा परम्परा अथवा व्यवस्था-जनित प्रत्याशा से भी कर्मचारियों द्वारा अनजाने ही उत्पादन घट जाता है।

उत्पादन के कुछ अन्य निर्धारक

उत्पादन के अन्य यांत्रिक निर्धारकों में प्रकाश और रंग के परस्पर प्रभाव भी हैं। इसलिए उद्योग-मनोविज्ञान में स्तरीय रंगों की दृष्टि द्वारा ग्रहणशीलता के अध्ययन भी किये जाते हैं। कपड़ा-उद्योग के लिए ये अध्ययन विशेषतया उपयोगी होते हैं। रंगों के अंतरों के बोधद्वार ज्ञात किये जाते हैं। दिन का प्रकाश रात के प्रकाश में बदल जाने से रंगों में क्या परिवर्तन हो जाते हैं इस ओर भी ध्यान दिया गया है। उद्योग-मनोवैज्ञानिकों का लक्ष्य है कि औद्योगिक कार्य में सर्वाधिक फलदायक प्रकाश, तापमान और संवातन-परिस्थितियों को ज्ञात कर लिया जाय।

उत्पादन में दुर्घटनाओं से बड़ी रुकावटें पड़ती हैं। अतः उद्योग-मनोवैज्ञानिकों ने औद्योगिक दुर्घटनाओं का विशेष अध्ययन किया है। उनके सामने एक प्रश्न यह रहा है कि दुर्घटनाएँ कहाँ तक और किस प्रकार दृष्टि-दोषों के कारण होती हैं। औद्योगिक दुर्घटनाओं के कारणों तथा उनको रोकने एवं कम करने के उपायों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

औद्योगिक उत्पादन का प्रमुख निर्धारक कर्मचारियों का कार्य-कौशल है। अतः कार्य-कौशल का मनोवैज्ञानिक स्वरूप समझना आवश्यक हो जाता है। यह प्रश्न उठा है कि क्या कार्य-कौशल का व्यवहार सतत प्रकार्य है अथवा असतत प्रकार्य। कार्य कौशल का मापन सम्भव है कि नहीं, सम्भव है तो कैसे?

औद्योगिक उत्पादन का एक निर्धारक कर्मचारी स्वास्थ्य भी है। अतः उद्योग मनो-

वैज्ञानिकों के समक्ष एक समस्या यह रही है कि शारीरिक रोगग्रस्त श्रमिकों के लिए किस प्रकार का मानसिक उपचार अधिक लाभदायक होगा।

उत्पादन कर्मचारियों के प्रशिक्षण पर भी निर्भर रहेगा। औद्योगिक प्रशिक्षण के विषय में बहुत-से मनोवैज्ञानिक प्रश्न उठते हैं। एक यह है कि किसी भी काम के सीखने पर उसके लक्ष्य की दीर्घकालीनता अथवा लघुकालीनता का क्या प्रभाव पड़ता है।

विक्रय

उद्योग का काम उत्पादन ही नहीं, उत्पादित माल का विक्रय भी है। विक्रय के लिए अनुकूल परिस्थिति बनाने का एक मुख्य माध्यम विज्ञापन है। अतः उद्योग-मनोवैज्ञानिकों ने यह निश्चित करने का प्रयत्न किया है कि विज्ञापनों के लिए कौन-सी आकार आकृति सबसे अधिक आकर्षक होती है।

व्यक्तिकेन्द्रित मनोटेक्नीक

उद्योग-मनोविज्ञान का, कार्य परिस्थिति व्यवस्था के अतिरिक्त, एक दूसरा भी क्षेत्र है। इसे व्यक्ति केन्द्रित-मनोटेक्नीक कहा गया है। इसमें उद्योगकर्ताओं अर्थात् कर्मचारियों और मालिकों पर ध्यान केन्द्रित रहता है। इस क्षेत्र का विभाग मालिकों के व्यक्तिगत कर्मचारियों के साथ व्यक्तिगत सम्बन्धों का अध्ययन है। इसे कर्मचारी प्रबन्ध अथवा प्रबन्ध-व्यवहार कहा जाता है।

कर्मचारी-प्रबन्ध

पहले कर्मचारियों को काम में प्रसन्न रखना ही इसका ध्येय समझा जाता था, परन्तु अब रचनात्मकता, एवं उत्पादकता भी इसके लक्ष्य माने गये हैं। इसके अन्तर्गत कर्मचारी-चुनाव, विकास एवं प्रशिक्षण, कार्य, मूल्यांकन, क्षति-पूर्त्ति अर्थात् उजरत प्रणाली, उत्प्रेरण, व्यक्ति का उद्योग संस्था के साथ समन्वय, प्रबन्ध रचना, कार्यकारी नेतृत्व तथा स्त्री एवं अन्य विशेष प्रकार के कर आदि भी विषय हैं। इस सारे क्षेत्र में व्यावसायिकता का विकास हुआ है और कर्मचारी प्रबन्धकार्य में संभावित संघर्ष पर ध्यान केन्द्रित हुआ है। कर्मचारी व्यवस्थापकों के लिए मापन-प्रधान, सम्पूर्ण परिस्थिति-प्रधान, प्रबन्ध रचना सिद्धान्त-प्रधान, पराप्रेक्षण-प्रधान, एवं वैज्ञानिकता-प्रधान आदि कई दृष्टिकोणों एवं विधियों की व्याख्या हुई है।

व्यक्तिगत अंतरों का मापन

उपर्युक्त समस्याओं के संदर्भ में उद्योग-मनोविज्ञान बहुत कुछ व्यक्तिगत अंतरों पर केन्द्रित रहा है। बुद्धि, औद्योगिक कार्य-योग्यताएँ, विभिन्न औद्योगिक कार्यों की ओर

व्यक्तिगत रुझान, व्यक्तित्व-गुण आदि सभी को महत्त्व दिया गया है। हस्त-कौशल, बोध-विस्तार, प्रतिक्रिया-काल, संकेत पाने पर प्रतिक्रिया की यथार्थता, श्रवण-तीव्रता, वाक्य-स्पष्टता, अस्पष्ट शब्दों के अर्थ समझने की योग्यता, संख्या-स्मृति-विस्तार, आदेश-स्मृति, नाम स्मृति, आकृति स्मृति, तथ्य स्मृति, अन्य प्रकार की स्मरण शक्तियाँ, पूर्व दृष्टि, तर्क की यथार्थता एवं गति, यंत्र उपयोग योग्यता, प्रेक्षण योग्यता, सौन्दर्य बोध, पठन गति, थकानशीलता, स्थिरता, आधारोन्मुखता, सुझावग्रहणशीलता, स्वच्छता, बल, सहनशीलता, भुजा लम्बान, अंगुल विस्तार, मशीन में सामग्री डालने की गति, शब्द-ग्रहणशीलता आदि औद्योगिक कामों में प्रयुक्त होनेवाले अनेक गुणों के मापन की विधियों का निर्माण तथा व्यवहार हुआ है। इन मापन-विधियों में दो प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षणों का उपयोग किया गया है। कुछ परीक्षण यथासम्भव औद्योगिक कार्य की वास्तविक व्यावहारिक परिस्थितियों का छोटा प्रतिरूप आयोजित करके उनमें कर्मचारी की प्रतिक्रिया देखते हैं। जैसे कि टाइप करने की योग्यता की परीक्षा के लिए टाइप कराकर देखा जाय, और मशीन में सामग्री डालने की गति की परीक्षा के लिए मशीन में सामग्री डलवाकर देखा जाय। इनको न्यादर्शनात्मक परीक्षण कहा जा सकता है। दूसरी ओर विश्लेषणात्मक परीक्षण हैं। इनमें उद्योग-विशेष में काम आने वाले मानसिक गुणों की अलग-अलग जाँच की जाती है। प्रत्येक गुण की कर्मचारी में प्राप्त मात्रा और उस गुण के उद्योग विशेष में महत्त्व इन सबके आधार पर सांख्यिकीय विधि के अनुसार उद्योग में कर्मचारी की सफलता की संभावना का मापन किया जाता है। यह प्रश्न भी उठाया गया है कि किसी कर्मचारी के व्यक्तित्व-इतिहास के आधार पर उसकी औद्योगिक सफ़लता का पूर्वानुमान कहाँ तक किया जा सकता है। सभी प्रकार की व्यवसायोपयुक्तता की परीक्षा की विधियों की प्रमाणता की जाँच अत्यावश्यक मानी गयी है, परन्तु व्यवहार में अभी कम ही है। कदाचित् सर्वाधिक उपयोग व्यावसायिक रुचि-परीक्षणों का हुआ है। परन्तु अब कुछ धातुयंत्रात्मक एवं विद्युदात्मक परीक्षणों, मसीखंड एवं चित्रकथा-परीक्षणों आदि का उपयोग भी बढ़ रहा है। समालाप-विधि का उपयोग सदा से ही होता चला आया है, परन्तु इस विधि की विवशता एवं प्रामाण्य के, समालापाधारित निर्णयों के निर्धारकों के पूर्वानुमान में योग देने में समालाप विधि की विशिष्टता और इसके पूर्वानुमान स्तर के विषय में अनुसंधान अभी आरम्भ ही हुआ है। अभी तक सर्वाधिक प्रामाण्य उन मानकीकृत समालापों में पाया गया है जिनमें व्यक्तिगत इतिहास की जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है और उस पर किसी मानकीकृत योजना के अनुसार अंक दिये जाते हैं। इसीलिए आजकल भारित आवेदन प्रपत्रों का उपयोग बहुत प्रचलित हो गया है। कर्मचारी चनने के लिए व्यक्तिगत इतिहास में विद्यालयी निष्पत्ति, सामा-

जिक एवं आर्थिक पार्श्वभूमि, तथा नौकरी परिवर्तन विशेषतया महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। प्रायः व्यक्तिगत इतिहास और परीक्षण दोनों विधियों का एक साथ भारित उपयोग करना अधिक उपयुक्त समझा गया है। अब यह भी विचार हो रहा है कि व्यक्तिगत इतिहास विधि का उपयोग कोरे अनुभव और सांख्यिकीय पूर्वानुमान पर ही नहीं, व्यावसायिक सफलता की मूल मनोगतियों के कार्य के कारण विश्लेषण पर आधारित होना चाहिए।

व्यवसाय-विश्लेषण

किसी औद्योगिक कार्य के लिए कर्मचारियों को चुनने में किन-किन गुणों का मापन करना चाहिए यह जानने के लिए यह अनुसंधान किया जाता है कि किसी औद्योगिक कार्य में किन-किन गुणों के व्यवहार की आवश्यकता पड़ती है। इसे व्यवसाय-विश्लेषण कहा जाता है।

व्यवसाय-विश्लेषण कई उद्देश्यों से किया जाता है। एक उद्देश्य व्यवसाय की परिस्थितियों और प्रक्रियाओं में सुधार है। एक अन्य उद्देश्य कर्मचारियों के स्वास्थ्य की रक्षा के हेतु व्यवसायों का बल-व्यय, अंगोपयोग आदि के अनुसार वर्गीकरण करना होता है। उदाहरणार्थ एक वर्गीकरण के अनुसार व्यवसाय तीन प्रकार के होते हैं---२४५० से ३१०० तक कैलरी व्यय वाले हलके काम, ३४०० से ३८०० तक कैलरी व्यय वाले भारी काम, और ४०५० से ५३०० तक कैलरी व्यय वाले बहुत भारी काम। एक अन्य वर्गीकरण में चार वर्ग माने गये हैं— कायाभार से काम लेनेवाले व्यवसाय, भुजाओं से काम लेनेवाले व्यवसाय, टाँगों से काम लेनेवाले व्यवसाय और विविध व्यवसाय। कभी-कभी व्यवसाय-विश्लेषण का उद्देश्य व्यावसायिक प्रशिक्षण के आयोजन में योग देना होता है। प्रमुख उद्देश्य तो कर्मचारियों को चुनने, उन्हें एक काम से दूसरे काम में लगाने, उनकी उजरत की दरें निश्चित करने तथा उन्हें व्यावसायिक निर्देशन देने के लिए वैज्ञानिक आधारभूत तथ्य उपलब्ध करना ही है।

व्यवसाय-विश्लेषण में कई विधियों से काम लिया गया है। एक वैयक्तिक मनोलेखा-विधि है, जिसमें समालाप, प्रेक्षण तथा परीक्षण द्वारा विभिन्न व्यवसायों में विशेष सफलता-प्राप्त व्यक्तियों का पारिवारिक इतिहास, व्यक्तिगत विकास, संवेदनात्मक विवेक, स्मृति, भाषा एवं कल्पना-प्रवाह, प्रतिक्रिया-काल, विचार एवं क्रिया का ढंग आदि ज्ञात किया जाता है। प्रश्नावली विधि का उपयोग भी किया जाता है। इसमें प्रत्येक व्यवसाय से सम्बन्धित कर्मचारियों, कार्यनिरीक्षकों, व्यवस्थापकों आदि अलग-अलग स्तरों के व्यक्तियों से व्यवसाय की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के विषय में जानकारी प्राप्त की जाती है। ऐसे ही, व्यवसाय-मनोलेखा विधि में व्यवसाय विशेष में लगे हुए कर्मचारियों के प्रेक्षण

के आधार पर विविध गुणों अथवा योग्यताओं की आवश्यकता का अंकन किया जाता है और इन अंकनों से व्यवसाय का मनोवैज्ञानिक लेखा-चित्र बना लिया जाता है। तथ्यात्मकता सुरक्षित रखने के लिए परीक्षण-विधि का निर्माण हुआ है। इसमें प्रायः रुझान-परीक्षणों का उपयोग किया जाता है। ऐसे परीक्षण ज्ञात कर लिये जाते हैं, जिनके द्वारा व्यवसाय विशेष के लिए आवश्यक गुणों का महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक एवं प्रामाणिक मापन हो सकता है, और यह भी ज्ञात कर लिया जाता है कि इनमें से प्रत्येक परीक्षण में किस अंक-स्तर पर पहुँचने से व्यवसाय में सफलता की संभावना हुआ करती है। यह प्रस्ताव भी किया गया है कि सभी व्यवसायों के विश्लेषण के लिए एक ही सामान्य परीक्षावली बना ली जाय, जिससे सभी रुझान-निर्धारकों का मापन हो सके, और यह ज्ञात कर लिया जाय कि प्रत्येक व्यवसाय के लिए इस परीक्षावली पर इन रुझान-निर्धारकों का किस प्रकार का अंक मेल होना चाहिए। तथ्यात्मकता की ही दृष्टि से एक क्रिया-विश्लेषण-विधि का निर्माण भी हुआ है। इसका सरलतम रूप व्यवसाय विशेष में काम आनेवाली गुण-विशेषताओं के बजाय क्रियाओं की सूची बनायी जाती है, और प्रत्येक क्रिया में वांछनीय उत्पादन-स्तर निश्चित कर लिया जाता है। इसी विधि का एक अन्य रूप व्यवसाय में समय एवं गति का अध्ययन है।

व्यवसाय-विश्लेषण के विकास से दो महत्त्वपूर्ण फल प्राप्त हुए हैं। एक यह कि विभिन्न व्यवसायों के कर्मचारियों के मानसिक गुणों का ज्ञान प्राप्त किया गया है। व्यवसाय-कार्य के अंककों के कार्य की विशिष्ट एवं स्पष्ट व्याख्या करने का प्रयत्न हुआ है और सुप्रशिक्षित अंककों द्वारा प्राप्य यथार्थता की मात्रा का मापन भी संभव हो गया है। व्यवसाय-विश्लेषण का दूसरा फल, खंड-विश्लेषण विधियों द्वारा व्यवसाय परिवारों अर्थात् व्यवसायगुटों का ज्ञान है। परस्पर उच्च सह सम्बन्धवाले अथवा समान रुझान चाहनेवाले व्यवसायों को एक परिवार का माना जाता है। इनमें से बहुत-से व्यवसाय ऐसे होते हैं, जो साधारण, ऊपरी निरीक्षण से समान नहीं प्रतीत होते। इस प्रकार व्यवसाय-विश्लेषण ने व्यवसायों के वर्गीकरण के लिए अधिक विश्वास योग्य एवं वैज्ञानिक आधार उपलब्ध कर दिया है।

व्यावसायिक सफलता का पूर्वानुमान

किसी व्यवसाय में किसी व्यक्ति के सफल होने की संभावना के मापन में प्रामाण्यत-गुणक .५० के लगभग ही रहता है। इससे बहुत-से उद्योग-मनोवैज्ञानिक मापन का दृष्टिकोण छोड़कर व्यक्तिगत इतिहास ज्ञान का दृष्टिकोण अपनाने लगे हैं। फिर भी मापनवादी मापन-प्रदत्तों के विश्लेषण की व्यावसायिक सफलता के पूर्वानुमान में

अधिक सफल उतरनेवाली विधियों के निर्माण में लगे हैं। व्यावसायिक सफलता की बहु-आयामकता की ओर विशेषतया ध्यान आकर्षित हुआ है। समान प्रतीत होनेवाले व्यवसायों में बहुत अंतर पहचाने गये हैं। व्यवसाय परिस्थितियों का महत्त्व बढ़ गया है। चुनाव-परिस्थितियों के अध्ययन के आधार पर व्यवसायों, व्यक्तियों, परीक्षणों तथा सफलता-चिह्नों का पूर्वानुमान योग्य वर्गीकरण किया गया है। इससे सफलता के पूर्वानुमान की प्रमाणताएँ बढ़ गयी हैं और विभिन्न वर्गों के लिए अलग-अलग से ज्ञात हो गयी हैं। यह भी देखा गया है कि किसी काम में कई विभिन्न क्रियाएँ करनी पड़ती हैं और प्रत्येक क्रिया में व्यक्ति की सफलता अलग मात्रा में हो सकती है। इन सब मात्राओं का किस प्रकार योग करके पूरे काम में सफलता का यथार्थतम मान प्राप्त किया जाये, यह अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, यद्यपि इस दिशा में कुछ प्रयत्न हो रहे हैं। किसी काम में विभिन्न व्यक्ति समान सफलता विभिन्न प्रकार से भी प्राप्त कर सकते हैं। यह उनके अपने व्यावसायिक व्यवहार की विभिन्नता के कारण भी हो सकता है और आंकक निरीक्षकों के विभिन्न दृष्टिकोणों के कारण भी। समय के साथ किसी व्यवसाय का पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लेने पर भी व्यक्ति से विभिन्न सफलता स्तरों की आशा की जाती है। यह एक और कारण है कि कर्मचारी प्रबन्ध में चुनाव अधिकारी को मापन की सांख्यिकीय क्रियाएँ करते रहने पर भी व्यक्तिगत इतिहास की ओर पर्याप्त ध्यान देना पड़ेगा।

कर्मचारी-प्रशिक्षण

कर्मचारी-प्रशिक्षण के विषय में प्रमुख मनोवैज्ञानिक समस्याएँ, प्रशिक्षण-सम्बन्धी आवश्यकताओं के ज्ञात करने की, उपयुक्त प्रशिक्षण विधियों के निर्माण की, प्रशिक्षण विधियों के मूल्यांकन की तथा प्रशिक्षण लाभ-मापन की हैं। निर्णय-क्रिया में प्रशिक्षण देने की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। इसे कभी-कभी ग्रहणशीलता प्रशिक्षण भी कहा गया है। इसमें प्रायः सामूहिक मनोगति का उपयोग किया जाता है। छात्रों को बँधे नियमों अथवा मनमानी विधियों से कार्य करने की अपेक्षा सुचारु सिद्धान्तों के अनुसार समस्याएँ सुलझाने की ओर लगाया जाता है। कृत्रिम सामूहिक संघर्ष परिस्थितियाँ उत्पन्न करके समस्या-सुलझाऊ-व्यवहार का स्वरूप समझने में उन्हें सहायता की जाती है। इसमें उनके व्यक्तित्व के पुनः संगठन को कुछ मनोवैज्ञानिक पर्याप्त महत्त्व देते हैं और कुछ अनावश्यक समझते हैं। अनेक प्रशिक्षण-विधियाँ भी प्रचलित हैं। बहुत-सा प्रशिक्षण सर्वथा अनियंत्रित होता है और मनोवैज्ञानिक विधियों की ओर उदासीन रहता है। मनोवैज्ञानिक प्रशिक्षण विधियों में प्रमुख स्थान मस्तिष्क-प्रवातन, आदेशरहित

निर्देशन, पदनाट्य और कार्यक्रम बद्ध पाठ्य पुस्तकों की सहायता से दिये जाने वाले कार्यक्रम बद्ध शिक्षण का है। इन सबका मूल्यांकन करने का भी थोड़ा-बहुत प्रयत्न हुआ है। शिक्षा प्राप्तकर्मचारी समस्याएँ सुलझाने में विशेषतया कुशल पाये गये हैं। आदेश-रहित निर्देशन और पदनाट्य का उपयोग करने वाला शिक्षण अभी विशेषतया सफल सिद्ध नहीं हुआ है। कार्यक्रमबद्ध शिक्षण से औद्योगिक शिक्षा पर्याप्त मात्रा में सबल प्रतीत हुई है। परम्परागत कक्षालय शिक्षण की तुलना में इसे अधिक छात्रप्रिय, कम समय लेनेवाली तथा अधिक निष्पत्तिदायक पाया गया है। प्रशिक्षण-लाभ-मापन में काम पर केन्द्रित तथा गुणों पर केन्द्रित दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं। और उनमें परस्पर विवाद चलता रहता है। परन्तु निष्पत्ति के आंकन में अधिकारी और कर्मचारी में परस्पर विचारविनिमय का महत्त्व स्वीकृत-सा है। सामूहिक मापन का प्रस्ताव भी किया गया है और राष्ट्रीय योजना गत निष्पत्ति-लक्ष्यों के उपयोग का भी।

उजरत प्रणाली मनोविज्ञान

औद्योगिक कार्य की कुशलता प्रयुक्त उजरत प्रणाली के मानसिक प्रभावों पर निर्भर होती है। प्राचीन समय के समयवार तथा उत्पादनवार दो प्रकार की उजरत दरें प्रचलित हैं। उत्पादनवार दर कर्मचारी को उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा देती है और अधिक कुशल कर्मचारियों को सम्मान और अधिक मजदूरी प्राप्त करने का अवसर प्रदान करती है। फिर भी, इससे संदेह, स्वार्थ एवं धोखा होने लगता है और उत्पादन की श्रेष्ठता का स्तर गिरता है। कर्मचारी अपने को ऐसा उत्पादन यंत्र-सा समझने लगता है कि जिसे जितना तीव्र गति से चलाया जाय, उतनी ही अधिक कमाई की जा सकती है। साथ ही उत्पादन-वार दर से कर्मचारी का स्वास्थ्य बिगड़ने अथवा बल घटने एवं व्यापार के ढीला पड़ जाने पर उसकी आय में भारी कमी होने का डर बना रहता है। यह नहीं, उत्पादनवार उजरत व्यवस्था होने पर अधिक उत्पादन कर सकने योग्य कर्मचारी अपने अन्य साथियों में अप्रिय होने लगते हैं। उनके कारण लालची, संकोचहीन, अथवा अधिक उजरत देने से कतराने वाले मालिक उत्पत्ति बढ़ते देख निरन्तर दर को काटते अर्थात् गिराते रहते हैं। वास्तव में उत्पादनवार दर सामान्य कर्मचारियों की वैज्ञानिक विधियों द्वारा निश्चित की गयी उत्पादकता पर आधारित होनी चाहिए।

उत्पादनवार उजरत प्रणाली अपनाने से कर्मचारियों में अनुचित प्रतियोगिता तथा मालिकों में उत्पादन बढ़ाने के अनुचित प्रयत्नों की वृत्ति देखने में आती है। उत्पादन की श्रेष्ठता का स्तर गिरता है और काम के बिगाड़ की मात्रा बढ़ती है। कर्मचारियों का स्वास्थ्य भी गिरता है। अतः एक विभेदक उत्पादनवार दर व्यवस्था भी होने लगी है। इस

व्यवस्था में उत्पादन उचित सीमा से बढ़ने पर उत्पादनवार दर घट जाती है। अथवा उत्पादन के श्रेष्ठतर स्तर बनाये रखने पर एवं काम के बिगाड़ की न्यूनता की मात्रा पर बोनस अथवा अधिक वेतन दिया जाता है। कभी-कभी विभेदक उत्पादनवार दर कर्मचारियों द्वारा असाधारण परिश्रम को पुरस्कृत करने के लिए भी लागू कर दी जाती है—कम उत्पादन पर नीची दर और अधिक उत्पादन पर ऊँची दर। परन्तु ऐसी सभी व्यवस्थाओं में कर्मचारी को मिलन वाले पारिश्रमिक का परिगणन जटिल हो जाता है और साधारण कर्मचारी के समझ में नहीं आता। फलतः कर्मचारी अपने मन में असंतुष्ट एवं संदेहशील-सा रहता है। फिर निम्न तथा उच्च दरों के बीच की उत्पादन-सीमा का निर्धारण मनमाना एवं निराधार प्रतीत होता रहता है।

इन सब बातों के साथ जब यह भी विचार होता है कि प्रत्येक कर्मचारी को समान मात्रा में चेष्टा करने पर उत्पादनानुसार समान उजरत नहीं मिलना चाहिए, तब समयवार दर का पक्ष भारी हो जाता है। जिन कामों में उत्पादन की श्रेष्ठता सर्वोपरि होती है, अथवा उत्पादन का मापन, पूर्ण निरीक्षण आदि सम्भव नहीं होता, उनमें तो दिहाड़ी आदि समयवार दर अपनाने के अतिरिक्त कुछ और संभव भी नहीं। दिहाड़ी में काम में विभिन्नता लाकर ऊब के दुष्परिणाम घटाये जा सकते हैं। परन्तु यह व्यवस्था असाधारण योग्यता के कर्मचारियों को साधारण कर्मचारियों पर कोई श्रेष्ठता नहीं देती। कर्मचारी प्रायः उत्पादन की मात्रा तथा श्रेष्ठता को सम-साधारण स्तर पर ही रखते हैं, और उन्हें उत्पादन में वृद्धि अथवा सुधार करने की और कोई प्रेरणा नहीं होती। ऐसी अवस्था में उत्पादन में उन्नति के दो साधन सम्भव होते हैं। एक यह कि उद्योग के प्रबन्ध में कर्मचारियों को अधिकार देकर उनको उत्पादनोन्नति के लिए प्रेरित किया जाय, दूसरे यह कि कर्मचारियों का योग्यतानुसार वर्गीकरण कर दिया जाय। जो योग्यता के अनुसार ही उसके वेतन निर्धारित हों। और वेतन दर योग्यता, कौशल, गति, प्रवरता, कार्यशीलता, आदि सभी आवश्यक गुणों के आधार पर निश्चित की जाय। साथ ही अति श्रेष्ठ काम के लिए उपयुक्त पुरस्कारों की व्यवस्था होनी चाहिए और कर्मचारी के लिए निम्न वर्ग से उच्चतर वर्ग में पहुँचने के पर्याप्त अवसर होने चाहिए। उद्योग के कुल लाभ के अनुसार सभी कर्मचारियों को सामूहिक बोनस, लाभांश, साझेदारी आदि देने से भी उन्हें शुभ प्रेरणा दी जा सकती है। परन्तु इसमें वास्तविक सफलता मिलती है, जब इसे कर्मचारियों को समझाकर उनकी सम्मति एवं स्वीकृति से किया जाता है, उनको पर्याप्त एवं न्यायपूर्ण मात्रा में लाभ का अंश दिया जाता है, और साथ ही उन्हें उद्योग की व्यवस्था से भी सम्बद्ध किया जाता है। परन्तु ऐसी परिस्थितियों का प्रायः अभाव ही रहा है। उद्योग-व्यवस्थापक सब बातें कर्मचारियों के सामने खोलकर रखने को तैयार नहीं होते

और उनको पूर्णरूप से मनुष्य ही नहीं समझते। दूसरी ओर कर्मचारी-संघ भी सदा संघर्ष ही चाहते रहते हैं। परिणामस्वरूप प्रचलित उजरतप्रणालियों का कर्मचारियों के सामाजिक उत्प्रेरणों से विरोध ही रहा है और यह प्रणालियाँ उन्हें अपने काम में पर्याप्त उत्साह दिलाने में प्रायः असमर्थ ही हैं। इसका एक कारण यह भी है कि उजरत का उत्प्रेरक के रूप में उपयोग करने का अधिकार प्रायः कर्मचारी के निरीक्षक को नहीं होता। उसकी योग्यता और कार्यकुशलता की अपेक्षा प्रायः व्यवसाय, मंडी और समाज की आर्थिक स्थिति तथा कर्मचारी की आयु एवं अनुभव प्राप्तता के आधार पर ही उजरत दी जाती है। एकाध जगह उजरत देने का उत्तरदायित्व आर्थिक चढ़ाव-उतार से पृथक् करके विभागीय व्यवसायों के हाथ में दे दिया गया है। वहाँ यह व्यवस्था निरीक्षकों द्वारा स्वीकृत तथा प्रशंसित हुई, व्यक्तिगत कर्मचारियों के बढ़ती के परिणाम में विषमता बढ़ गयी, किसी कर्मचारी की उजरत बढ़ानें में कम समय लगने लगा, और केन्द्रीय कार्यालय में यांत्रिक परिगणन उपकरणों को अपना काम संभालने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। कुछ व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक भी अभी उजरत के उत्प्रेरक रूप तथा उसमें प्राप्य संतुष्टियों का अध्ययन कर रहे हैं।

कुछ पूर्वोक्त दिशा में ही औद्योगिक अशान्ति अर्थात् कर्मचारी-अशान्ति की समस्याओं का विश्लेषण हुआ है। औद्योगिक अशान्ति प्रायः किसी प्रकार के संकटकालीन अतिश्रम तथा अरक्षित भावों एवं आशंकाओं के कारण हुआ करती है। अतिश्रम से व्यवहार पर विचार का नियंत्रण ढीला पड़ जाता है। बीते हुए अप्रिय अथवा संघर्षात्मक अनुभवों की स्मृतियाँ पुनः उभरने लगती हैं। स्वयमाग्रह तथा स्वार्थ की प्रवृत्तियाँ सिर उठाने लगती हैं। व्यवहार में क्रोधशीलता, उत्तेजनशीलता, तथा आत्मविश्वासहीनता आ जाती है। अपने अथवा दूसरों के वास्तविक अथवा काल्पनिक दोष बड़े लगने लगते हैं। निराशाएँ, शिकायतें तथा दोष भावनाएँ चेतना पर छा जाती हैं। प्रक्षेपण प्रक्रिया अत्याचारभ्रम उत्पन्न करती हैं। व्युत्क्रमण-प्रक्रिया द्वारा कर्मचारियों की सकुचाहट हुल्लड़बाजी में बदल जाती है। नमनशीलता अवज्ञा में परिवर्तित हो जाती है। कृतसमर्थन-प्रक्रिया उनसे अपने पक्ष में प्रभावोत्पादक तर्क करवाती है। इस प्रकार के अनेक स्व-रक्षातंत्रों का उपयोग औद्योगिक अशान्ति को विकारमय बना देता है। अनिश्चितता का राज्य हो जाता है। उत्पादन घट जाता है। यह सब केवल शारीरिक अतिश्रम से ही नहीं होता। सभी प्रकार की चिन्ताएँ एवं संघर्ष-भावनाएँ और विशेषतया शैशवकाल से चली आने वाली पारिवारिक समस्याएँ औद्योगिक अशान्ति को उत्तेजित करने में पर्याप्त योग देती हैं। उद्योग के फल में कर्मचारियों के अपने भाग की न्यूनता, उनके जीवन स्तर तथा उद्योगमालिकों के जीवन स्तर में बहुत बड़ा अन्तर, गत्यध्ययन, व्यवसायिक

चुनाव, वैज्ञानिक प्रबन्ध आदि के प्रति संदेह, और, इस सबसे अधिक, कर्मचारियों तथा मालिकों के बीच परस्पर समझ, विश्वास, एवं सहकारिता का अभाव औद्योगिक अशान्ति के अन्य मूल कारण हैं। इस अशान्ति को कम करने के लिए अप्रिय निषेधों एवं व्यर्थ दंडों का त्याग, वैज्ञानिक सुधारों में कर्मचारियों की स्वीकृति तथा सहकारिता की सचेष्ट प्राप्ति और उनका सहानुभूति पूर्ण प्रयोग, उद्योग प्रबन्ध में श्रमिक-वर्ग को भाग देना, और यथार्थ दोष के बिना ही बेकार हो जाने की चिन्ता से अभयदान कुछ प्रस्तावित साधन हैं।

औद्योगिक नेतृत्व

कर्मचारी-उत्प्रेरण तथा संतुष्टि बहुत कुछ उद्योग के सफल नेतृत्व पर निर्भर होगी। अतः कई मनोवैज्ञानिकों ने अपना अध्ययन औद्योगिक नेतृत्व पर केन्द्रित किया है। कुछ ने नेतृत्व-प्रयास, प्रभावोत्पादक नेतृत्व, तथा सफल नेतृत्व में भेद किया है, और इनकी वैयक्तिक तथा सामूहिक पहचानों की व्याख्या की है। कुछ ने कर्मचारियों के व्यक्तिगत उत्प्रेरण को महत्त्व देते हुए आग्रह किया है कि व्यवस्थापक उनके लिए निर्णयों पर पहुँचने में मुक्त संसूचन और प्राप्य सूचना के पूरे उपयोग का वातावरण उपलब्ध करें। ऐसा करते हुए यह प्रयोग द्वारा सिद्ध बात भी समझ लेनी चाहिए कि कर्मचारी व्यवस्थापकों के उद्देश्यों को समान यथार्थता से समझ अथवा आँक नहीं पायेंगे। निर्णयों में भाग लेने के अवसरों का आदेशवाद तथा स्वाधीनतावाद के आयामों के भिन्न स्तरों पर रहने वाले कर्मचारी समान रूप से स्वागत करेंगे। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने उद्योग संस्थाओं का व्यवहार भी व्यक्तियों के व्यवहार की भाँति शैशव से प्रौढ़ता की ओर विकसित होता हुआ माना है। और इस विकास में सर्वोपरि मानव-आवश्यकताओं एवं उत्प्रेरणाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका विश्वास है कि व्यक्तियों तथा उद्योग संस्थाओं में संघर्ष होना स्वाभाविक तथा अवश्यम्भावी है और इस संघर्ष को नौकरियाँ बढ़ाने से तथा कर्मचारी केन्द्रित नेतृत्व द्वारा ही कम किया जा सकता है। व्यवस्थापकों को अपना पूर्ण नियंत्रण का मनोभाव छोड़कर कर्मचारियों में मानव-विकास एवं निष्पत्ति की संभावनाओं को पूर्णतया स्वीकार करना होगा। औद्योगिक नेतृत्व को संवेदनशीलता और प्रत्यक्षीकरण तथा व्यवहार में नम्यता पर आधारित भी समझा गया है।

कर्मचारियों के कार्य उत्प्रेरण और आत्मविश्वास से सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न भी किया गया है। कर्मचारियों के मनोभावों तथा विभिन्न विषयों अथवा प्रश्नों पर उनके वास्तविक मतों को जानना बहुत महत्त्वपूर्ण समझा गया है। उत्पादन बहुत मात्रा में मनोभावों पर निर्भर होता है। अतः मनोभावों के मापन की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। मनोभाव-मापदंडों का निर्माण तथा उपयोग

किया गया है। ऐसा करने में बहुत-सी मापदंड-निर्माण-संबंधी समस्याएँ भी उठी हैं। उदाहरणस्वरूप मनोभाव-मापदंडों में पहले कर्मचारी प्रत्येक प्रस्तुत मनोभाव वाक्य पर अपनी प्रतिक्रिया में सहमति, असहमति प्रकट करता था, परन्तु उससे महत्त्व के आयाम पर भी प्रतिक्रिया प्राप्त करने का सुझाव दिया गया है। विभिन्न व्यावसायिक वर्गों, आर्थिक सामाजिक स्तरों तथा शिक्षा स्तरोंके लिए अलग-अलग मानक ज्ञात कर लेना भी महत्त्वपूर्ण समझा गया है। मनोभावों में संतुष्टि तथा काम के प्रति समायोजन का विशेष महत्त्व है। देखा गया है कि व्यावसायिक संतुष्टि मुख्यतः महत्त्व-स्वीकृति, निष्पत्ति, कार्यरुचि, आदि स्वमेयानुकूल लक्ष्यों की प्राप्ति पर आधारित होती है। असंतुष्टि, निरीक्षण, कार्यपरिस्थितियों तथा उजरत आदि संदर्भों से संबंधित होती है। अतः कर्मचारियों द्वारा स्वमेयानुकूल लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रबन्ध करने से ही कार्य-उत्प्रेरण बढ़ाने की योजनाओं के सफल होने की आशा की जा सकती है। अंतर्व्यक्तिगत सम्बन्धों के विषय में संतुष्टि बहुत कुछ उद्योग के आकार पर निर्भर पायी गयी है। परन्तु आर्थिक लाभ के विषय में संतुष्टि का उद्योग के आकार से बहुत कम सम्बन्ध प्रतीत होता है। छोटी उद्योग संस्थाओं में कर्मचारी समानताभाव वाले नेताओं की ओर अधिक झुकते हैं और परस्पर क्रियाओं के कम अवसरों वाली बड़ी संस्थाओं में आदेशभाव वाले नेताओं की ओर अधिक झुकते हैं। कर्मचारियों की अनुपस्थिति का कारण भी उजरत दर अथवा बढ़ती में देर लगने की अपेक्षा उद्योग की नीति का अननुमोदन ही अधिक होता है।

औद्योगीकरण की वृद्धि के साथ औद्योगिक भोजन सामग्री के उत्पादन में रुचि बढ़ी है और उपभोक्ताओं द्वारा औद्योगिक भोजन सामग्री के क्रय की वृत्ति के विषय में कुछ स्वाभाविक प्रश्न उठे हैं। विभिन्न प्रकार की सामग्री की लोकप्रियता की मात्रा जानने का प्रश्न तो है ही, किन्तु यह जानना भी महत्त्वपूर्ण है कि उपभोक्ताओं में औद्योगिक भोजन सामग्री की स्वीकारिता, उसके निर्माण, उसके संचयन तथा उसके आधान की परिस्थितियों द्वारा कहाँ तक निर्धारित एवं प्रभावित होती है।

औद्योगिक समाज-मनोविज्ञान

उद्योग मनोविज्ञान की एक समाज-मनोवैज्ञानिक शाखा भी है। इसका उद्देश्य उद्योग व्यवस्था का समाज मनोवैज्ञानिक अध्ययन है। यह अध्ययन दो प्रकार का होता है। कुछ अध्ययनों में व्यक्ति को इकाई मानकर उसके मनोभावों पर, उत्प्रेरण पर और व्यवहार पर व्यवसाय के सामाजिक वातावरण का प्रभाव देखा जाता है। प्रतियोगिता एवं सहकारिता के अपेक्षाकृत महत्त्व की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। उद्योग व्यवस्था में यथवृत्तियों, रचनावृत्तियों एवं आत्मगृहवृत्तियों के स्थान का विश्लेषण भी हुआ है।

यह देखने का प्रयत्न भी हुआ है कि लक्ष्य-निर्णय तथा आकांक्षास्तर का औद्योगिक उत्पादन से क्या सम्बन्ध है। अन्य प्रकार के अध्ययनों में सामाजिक तन्त्र को इकाई मानकर छोटी-बड़ी औद्योगिक संस्थाओं में उस तंत्र की रचना तथा कार्यपरता का विश्लेषण किया जाता है।

औद्योगिक समाज-मनोविज्ञान के प्रमुख विषय औद्योगिक समाज-रचना और उद्योग में सामाजिक उत्प्रेरणा है। इनके अन्तर्गत वैज्ञानिक प्रबन्ध, परम्परागत प्रबन्ध, नौकरशाही, नेतृत्व, कर्मचारी आत्मविश्वास, प्रबन्ध-कौशल तथा प्रबन्ध में समस्या सुलझावन और निर्माण प्रमुख विषय हैं। संगठन के अन्दर व्यक्ति का व्यवहार, अंतर्वैयक्तिक सम्बन्ध, लघु समूह प्रक्रियाएँ, संगठन रचना तथा संगठन विकास का अध्ययन भी किया जाता है, जो विशेषतया औद्योगिक व्यवस्थापकों के लिए उपयोगी माना जाता है। विशेषतया यह अध्ययन किया जाता है कि किसी उद्योग संस्था के कामों के स्थानीय नियंत्रण के क्या-क्या परिणाम होते हैं, कर्मचारियों में कार्य स्वायत्तता बढ़ाने अथवा निर्णय कार्य अधिकारियों को दे देने से व्यावसायिक संतुष्टि, आत्मविश्वास, उत्पादकता आदि में क्या अन्तर आ जाता है। यह सब प्रश्न उद्योग नेतृत्व विषयक प्रश्न है। उद्योग नेतृत्व का कई ओर से अध्ययन हो सकता है। उद्योग नेताओं द्वारा अपने कार्य की व्याख्याएँ प्राप्त की जा सकती हैं। यह देखा जा सकता है कि नेता कहाँ तक उत्तरदायित्व सँभालता है, अपने अधिकार का उपयोग करता है, उत्तरदायित्व दूसरों को भी सौंपता है अर्थात् वह अपने कर्मों का किस-किस प्रकार पालन करता है। कुछ अध्ययनों ने व्यवस्था नीति के निर्धारण में उद्योग-नेताओं के व्यक्तितव को विशेष महत्त्व दिया है और कुछ अध्ययनों ने उनके द्वारा दूसरों के साथ परस्पर बातचीत और समझौतों को कुछ अन्य कर्मचारियों में अधिकार बाँटने की वृत्ति को और शेष कर्मचारियों के मानवीय गुणों को। नेता जिस उद्योगी समूह का नेतृत्व करता है, उस समूह के व्यवस्था-चित्रों, परस्पर समाजमितीय आँकनों, आत्मविश्वास-मापों आदि को प्राप्त करके उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सकता है। उद्योगी समूहों की संस्कृति के अध्ययन भी हुए हैं।

पिछले दस बारह वर्षों में संसूचन भी महत्त्वपूर्ण विषय बन गया है। टाइप का आकार, सामग्री की पठनयोग्यता आदि संसूचनोत्तेजनाओं के भौतिक गुणों का मनोवैज्ञानिक महत्त्व ज्ञात किया गया है। संसूचन की समाज मनोवैज्ञानिक तथा उत्प्रेरणात्मक प्रक्रियाओं को समझने का प्रयत्न भी किया गया है। यह भी देखने का प्रयत्न किया गया है कि संसूचन से सामूहिक कार्य कहाँ तक अधिक सफल हो जाता है। एक रोचक निष्कर्ष यह निकला है कि कुछ परिस्थितियों में अथवा कुछ ज्ञान का सफल संसूचन औद्योगिक निर्णय में, मनोभाव अथवा उत्प्रेरणा परिवर्तन में अथवा लक्ष्य प्राप्ति में पड़ने वाली

बाधाओं को दूर करने में, व्यर्थ एवं उपयोगिताहीन ही नहीं समस्याजनक तथा प्रतिरोधोत्पादक भी सिद्ध होता है।

मालिकों के कर्मचारी-समूहों के साथ सम्बन्धों का अध्ययन उद्योग मनोविज्ञान का एक स्वतन्त्र विभाग-सा बन गया है। इसे औद्योगिक सम्बन्ध अथवा श्रमिकवर्ग सम्बन्ध कहा गया है। इसके अन्तर्गत सामूहिक सौदे, कल्याण कार्य आदि हैं। इसमें औद्योगिक समूहों और सामूहिक तत्त्वों के अध्ययन भी किये जाते हैं।

उपभोक्ता मनोविज्ञान

आज उद्योग मनोविज्ञान का एक मुख्य अंग उपभोक्ता मनोविज्ञान है। इसमें बिक्री और विज्ञापन-सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन होता है। उद्योग-मनोविज्ञान की इस शाखा का विषय यह है कि माल के विज्ञापन और बाजार में लाकर बेचने के विविध ढंगों की प्रतिक्रिया उपभोक्ताओं में क्या होती है। उपभोक्ता भी साधारण मानव जन ही होते हैं और साधारण मानवों के मूल उत्प्रेरकों का ज्ञान मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से प्राप्त हो चुका है। मनुष्य की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताएँ उसमें भूख, प्यास, शीत, गरमी, कामोत्तेजना, थकान, उल्लास आदि अंतर्धकेलें उत्पन्न करती हैं। खरीदने की इच्छा की जड़ में भी यही मूल मानसिक शक्तियाँ होती हैं या इन्हीं पर आधारित कृत्रिम सभ्य जीवन-जनित इच्छाएँ—मान, पदार्थ, रूप, रंग, नाम अथवा निर्माता की वस्तुओं को प्राप्त करने अथवा उपयोग में लाने की आकांक्षाएँ विज्ञापन एवं विक्रेता को खरीदारों और उपभोक्ताओं की इन वृत्तियों और आदतों को ध्यान में रखना होगा, अपने माल की विषय के जानकारी को व्यक्तिगत सम्पर्क के द्वारा आकर्षक ढंग से उपभोक्ताओं के समक्ष इतनी सफलता से रखना होगा कि उपभोक्ता प्रथम ध्यानाकर्षण से लेकर छः मानसिक अवस्थाओं से होता हुआ अन्तिम संतुष्टि को प्राप्त हो जाय। प्रथम अवस्था में उसका ध्यान आकर्षित करने के लिए विविध प्रकार की उपयक्त उत्तेजनाएँ उपस्थापित करनी होगी तथा उनको यथोचित प्रकार से दुहराना होगा। द्वितीय अवस्था रुचि-जागरण की होती है। यह भावात्मक अवस्था माल के सम्बन्ध में जानकारी देने से एवं उसकी ओर क्रियाएँ प्रेरित करने से उत्पन्न की जा सकती है। तृतीय अवस्था इच्छा की है। इसमें उपभोक्ता माल को प्राप्त करने का प्रकट अथवा अप्रकट प्रयत्न करता है। चौथी अवस्था भरोसे की होती है। इसमें भाव-वृत्तियाँ माल के पक्ष में हो जाती हैं। इसके उपरांत पाँचवीं अवस्था क्रियात्मक निश्चय की आती है, जिसमें मूल आवश्यकताओं और पड़ी हुई आदतों की माँगों की उस माल द्वारा पूर्ति होने में विश्वास हो जाता है और बौद्धिक आपत्तियाँ मिट जाती हैं। छठी अंतिम अवस्था मानसिक संतुष्टि की होती है, जिसमें व्यक्ति माल को खरीद लेता है। विक्रेता

यह देखने का प्रयत्न भी हुआ है कि लक्ष्य-निर्णय तथा आकांक्षास्तर का औद्योगिक उत्पादन से क्या सम्बन्ध है। अन्य प्रकार के अध्ययनों में सामाजिक तन्त्र को इकाई मानकर छोटी-बड़ी औद्योगिक संस्थाओं में उस तंत्र की रचना तथा कार्यपरता का विश्लेषण किया जाता है।

औद्योगिक समाज-मनोविज्ञान के प्रमुख विषय औद्योगिक समाज-रचना और उद्योग में सामाजिक उत्प्रेरणा हैं। इनके अन्तर्गत वैज्ञानिक प्रबन्ध, परम्परागत प्रबन्ध, नौकरशाही, नेतृत्व, कर्मचारी आत्मविश्वास, प्रबन्ध-कौशल तथा प्रबन्ध में समस्या सुलझावन और निर्माण प्रमुख विषय हैं। संगठन के अन्दर व्यक्ति का व्यवहार, अंतर्वैयक्तिक सम्बन्ध, लघु समूह प्रक्रियाएँ, संगठन रचना तथा संगठन विकास का अध्ययन भी किया जाता है, जो विशेषतया औद्योगिक व्यवस्थापकों के लिए उपयोगी माना जाता है। विशेषतया यह अध्ययन किया जाता है कि किसी उद्योग संस्था के कामों के स्थानीय नियंत्रण के क्या-क्या परिणाम होते हैं, कर्मचारियों में कार्य स्वायत्तता बढ़ाने अथवा निर्णय कार्य अधिकारियों को दे देने से व्यावसायिक संतुष्टि, आत्मविश्वास, उत्पादकता आदि में क्या अन्तर आ जाता है। यह सब प्रश्न उद्योग नेतृत्व विषयक प्रश्न है। उद्योग नेतृत्व का कई ओर से अध्ययन हो सकता है। उद्योग नेताओं द्वारा अपने कार्य की व्याख्याएँ प्राप्त की जा सकती हैं। यह देखा जा सकता है कि नेता कहाँ तक उत्तरदायित्व सँभालता है, अपने अधिकार का उपयोग करता है, उत्तरदायित्व दूसरों को भी सौंपता है अर्थात् वह अपने कर्मों का किस-किस प्रकार पालन करता है। कुछ अध्ययनों ने व्यवस्था नीति के निर्धारण में उद्योग-नेताओं के व्यक्तित्व को विशेष महत्त्व दिया है और कुछ अध्ययनों ने उनके द्वारा दूसरों के साथ परस्पर बातचीत और समझौतों को कुछ अन्य कर्मचारियों में अधिकार बाँटने की वृत्ति को और शेष कर्मचारियों के मानवीय गुणों को। नेता जिस उद्योगी समूह का नेतृत्व करता है, उस समूह के व्यवस्था-चित्रों, परस्पर समाजमितीय आँकनों, आत्मविश्वास-मापों आदि को प्राप्त करके उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सकता है। उद्योगी समूहों की संस्कृति के अध्ययन भी हुए हैं।

पिछले दस बारह वर्षों में संसूचन भी महत्त्वपूर्ण विषय बन गया है। टाइप का आकार, सामग्री की पठनयोग्यता आदि संसूचनोत्तेजनाओं के भौतिक गुणों का मनोवैज्ञानिक महत्त्व ज्ञात किया गया है। संसूचन की समाज मनोवैज्ञानिक तथा उत्प्रेरणात्मक प्रक्रियाओं को समझने का प्रयत्न भी किया गया है। यह भी देखने का प्रयत्न किया गया है कि संसूचन से सामूहिक कार्य कहाँ तक अधिक सफल हो जाता है। एक रोचक निष्कर्ष यह निकला है कि कुछ परिस्थितियों में अथवा कुछ ज्ञान का सफल संसूचन औद्योगिक निर्णय में, मनोभाव अथवा उत्प्रेरणा परिवर्तन में अथवा लक्ष्य प्राप्ति में पड़ने वाली

यह भी सम्भव है कि न्यादर्श में चुने गए उपभोक्ताओं को डाक से प्रश्नावली भेज दी जाय अथवा उनसे स्वयं समालाप किया जाये। प्रयोगों में इन दोनों विधियों की सफलता लगभग एक-सी प्रतीत हुई है। परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक प्रतीत हुआ है कि प्रश्नावली में प्रत्येक शब्द का प्रयोग बहुत सोच-समझकर होना चाहिए और समालाप-विधि के उपयोग में उच्च आय वाले उपभोक्ताओं की संख्या कम नहीं होनी चाहिए। यह अभी तक निश्चित नहीं है कि प्रश्नावली विधि में उपभोक्ताओं के अपने उत्तरों के साथ अपना नाम देने या न देने से उत्तरों की उपयोगिता में कोई विशेष अंतर पड़ता है कि नहीं। प्रयोगों से पता चला है कि प्रश्नावलियों का उत्तर देने में सभी उपभोक्ताओं को समान रुचि नहीं होती। अधिक रुचि वाले उपभोक्ता शीघ्र ही प्रश्नावली के उत्तर देते हैं। इसलिए या तो न्यादर्श में चुने गये उपभोक्ताओं को प्रश्नावली का उत्तर देने में रुचि दिलानी होगी, या फिर केवल उत्तर देने वालों को ही अनुदासीन समझकर केवल उन्हीं के दिये हुए उत्तरों को ही महत्त्वपूर्ण मान लेना पड़ेगा। समालाप-विधि के उपयोग में समालापक का रूप-रंग, उसकी आकृति, उसमें मानसिक भावों की अभिव्यक्तियाँ, उसकी समालापित व्यक्ति के विषय में प्रतीति, स्वयं उसके विषय में समालपित व्यक्ति की प्रतीति, समालापक की विचारधारा, उसकी जाति आदि का प्रभाव महत्त्वपूर्ण हो सकता है और इस प्रकार के प्रभावों के बहुत से अध्ययन हुए हैं। जैसे, देखा गया है कि बहुसंख्यक जाति की अपेक्षा अल्प जाति के समालापक समालाप में प्रश्नों के अधिक यथार्थ अर्थात् पूर्वाग्रहमुक्त उत्तर प्राप्त कर पाते हैं। समालाप समक्ष होकर भी किया जा सकता है और टेलीफोन पर भी। देखा गया गया है कि प्रयोगों में दोनों विधियाँ कम से कम सरल प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने में समफल सिद्ध हुई हैं। यह बात साधारणतया टेलीफोनी समालाप के पक्ष में है, परन्तु टेलीफोनी समालापों की विश्वास्यता को सीमाओं का अभी पता नहीं।

यह भी प्रश्न उठा है कि प्रश्नों के किसी भी प्रकार के समालापों में प्राप्त उत्तर कहाँ तक स्मरण-त्रुटियों से मुक्त रहते हैं। सम्भव है समालापित व्यक्ति की दैहिक अवस्था उसमें सही उत्तर पाने के लिए उपयुक्त न हो, वह किसी विचार से चुन चुनकर अधूरी बातें ही बताये, या संभव है जिस समय का बीता अनुभव उससे पूछा जा रहा है, वह उससे भिन्न समय की ही बात बता दे। समालाप प्राप्त प्रदत्तों में त्रुट्यंशों को देखते हुए, तथ्यात्मक जानकारी प्राप्त करने के लिए यदि यह जानकारी अन्य किसी प्रकार से प्राप्त हो सके, तो समालाप-विधि का सहारा न लेना ही ठीक समझा गया है। अतथ्यात्मक अर्थात् मनोभावात्मक जानकारी प्राप्त करने के लिए तो समालाप में इससे भी अधिक अविश्वास्यता

होगी, परन्तु ऐसी जानकारी के लिए यही एक उपयुक्त विधि है। समालापों में बहुधा आँकन दंडों से काम लिया जाता है और इनके विषय में बहुत से परिवर्त्यों का अध्ययन किया गया है। जैसे, बहुत से व्यक्तियों में एक बार एक ही गुण का आँकन करने में, आँकन दंड में क्रिया विशेषणों का प्रयोग उपयोगी पाया गया है। कुछ समय से स्वतन्त्रप्रतिक्रियात्मक, गहराई में जानेवाली प्रक्षेपक विधियों के उपयोग का समर्थन भी किया जा रहा है। यथार्थता बढ़ाने की दृष्टि से सम्मोहन-विधि से काम लेने का प्रस्ताव भी विचाराधीन रहा है। इससे स्मरण की सीमाएँ बढ़ सकती हैं। परन्तु कदाचित् सम्मोहित व्यक्ति के वाक्यों के कई अर्थ सम्भव होने के कारण उनके किसी एक अर्थ की यथार्थता निश्चित नहीं होती। फिर कुछ विशेष प्रकार के व्यक्ति ही सम्मोहन के लिए प्रस्तुत अथवा उपयुक्त होते हैं। अत: उनसे बने न्यादर्श में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं आ पाता।

उपभोक्ता-विश्लेषण की एक बहुत प्रिय विधि वरण-वृत्तियाँ ज्ञात कर लेने की है। इनको ज्ञात करने के लिए कभी भावात्मक अभिव्यक्तियों का सहारा लिया जाता है, कभी अन्य लक्षणों का। स्मरण-वृत्तियों को भी आधार बनाया गया है और स्मरण-पदार्थ प्रकार, उनके स्मरण की कलावधि, और स्मरण सफलता की परिस्थितियाँ निश्चित करने का प्रयत्न किया गया है। उपभोक्ताओं में मनोभाव-परिवर्तन का अध्ययन भी हुआ है। एक प्राप्त निष्कर्ष यह है कि विज्ञापन आदि बार-बार देखने से विज्ञापित सामग्री को मोल लेने की प्रेरणा हलकी पड़ जाती है। साथ ही रुचि शिक्षासम्बन्धी कुछ प्रयोगों से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि किसी भी माल से परिचय बढ़ने से उसकी पसंद भी बढ़ती है।

उपभोक्ताओं में पहचानने का कई प्रकार प्रयत्न भी किया जा सकता है। एक अध्ययन में सफल व्यक्तियों को असफल, असंतुष्ट अथवा उपभोग केन्द्रित व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक क्रय करते देखा गया है।

विज्ञापन-मनोविज्ञान

विज्ञापन मनोविज्ञान उद्योग मनोविज्ञान का एक प्रमुख अंग बन गया है। यह उन सब साधनों से संबंधित है जिनके द्वारा उपभोक्ताओं की रुचियों पसंदों, और खरीदारियों को सामूहिक रूप से प्रभावित किया जा सकता है। विज्ञापन के मनोवैज्ञानिक नियम व्यक्तियों को मनाने की सामूहिक विधियों के नियम हैं। मनोवैज्ञानिकों में कुछ विवाद इस विषय पर हुआ है, कि विज्ञापन का व्यक्तियों अर्थात् उपभोक्ताओं पर प्रभाव सुझावन रूपी होता है, कि कि सम्मोहन रूपी, या उनकी आर्थिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने में सहायता देनेवाला होता है।

एक चिंता

उपर्युक्त सभी क्षेत्रों में उद्योग-मनोवैज्ञानिक एक बात से बहुत चिन्तित हैं। वह यह है कि उद्योग-मनोविज्ञान शक्तिशाली उद्योगमालिकों के हाथ बिक न जाय और उनके लिए अधिक लाभ कमाने का साधन मात्र न बन जाय। अतः आज प्रमुख उद्योग-मनोवैज्ञानिक अनुसंधान का मार्ग निर्देशन उद्योगमालिकों के हाथ में नहीं, मनोवैज्ञानिकों के हाथों में रहना बहुत आवश्बक समझते हैं। वे आग्रह कर रहे हैं कि मनोवैज्ञानिक उद्योग का नेतृत्व करें, उसके इशारे पर न चलें, उद्योगपरिस्थितियों में मूल मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित रखें और अपनी सफलता को औद्योगिक नहीं, मनोवैज्ञानिक मापदण्डों पर ही तौलें।

१२

अपराध-मनोविज्ञान

अपराध-मनोविज्ञान अपराध को समझने और रोकने से संबंधित सभी विषयों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन है। इसमें प्रायः ऐसे प्रश्नों का उत्तर खोजा जाता है, जैसे कोई व्यक्ति अपराध क्यों करता है ? व्यक्ति के भीतर या बाहर क्या है, जो उससे अपराध कराता है ? विविध प्रकार के व्यक्ति किन प्रेरणाओं के वश विविध प्रकार के अपराध किया करते हैं ? क्या अपराध की जड़ें व्यक्ति के स्वभाव में होती हैं ? यदि व्यक्तियों के अपराध का कारण उनके स्वभाव अथवा कोई अपेक्षाकृत स्थिर मानसिक अथवा शारीरिक गुण होते हैं, तो क्या इन गुणों के आधार पर समाज में ऐसे व्यक्ति पहचाने जा सकते हैं, जिनमें आगे चलकर अपराध करने की अधिक संभावना हो ?

अपराध के कारणों के प्रश्न से अलग भी अपराधियों की मनःस्थितियों और मनोवृत्तियों तथा उनके व्यावहारिक लक्षणों को जानने का बहुत महत्त्व है। शुद्ध विज्ञान की दृष्टि से तो यह व्यवहार विकारी के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उपयुक्त विषय है ही। इसके अतिरिक्त इसके पर्याप्त अध्ययन के आधार पर ही अपराधियों का सफल मनोवैज्ञानिक उपचार किया जा सकता है। अपराधियों के प्रति समाज का व्यवहार उनके व्यक्तित्व की विशेषताओं के ज्ञान पर ही आधारित होना चाहिए। यह ज्ञान अपराधियों के केवल अपराध-व्यवहार का नहीं उनके समुचित व्यवहार का होना चाहिए। तभी उन्हें पूरी तरह समझा जा सकेगा और उनके साथ पूर्णतया उपयुक्त व्यवहार किया जा सकेगा। इसलिए अपराधियों के पकड़े जाने से पूर्व का व्यवहार, उनके पकड़े जाने के बाद न्यायनिर्णय के काल का व्यवहार, उनके दंडित होने के बाद बन्दी-काल का व्यवहार और उनके दंड की अवधि पूरी कर लेने के बाद का व्यवहार, सभी गंभीर मनोवैज्ञानिक अध्ययन के योग्य हैं।

दंडित अपराधियों के व्यवहार के कुछ अंगों के विशेष अध्ययन ने अपराध-मनोविज्ञान में कुछ अलग विषयों को जन्म दिया है। बंदी-समायोजन और बंदियों के कारागार से निकल भागने के कुछ महत्त्वपूर्ण अध्ययन हुए हैं और हो रहे हैं। यह भी स्वाभाविक है कि जहाँ उपर्युक्त प्रकार के प्रश्न समस्त अपराधी वर्ग के विषय में उठाये जाते हैं, वहाँ

कुछ विशेष प्रकार के अपराधियों के अलग से विशेष अध्ययन करने की आवश्यकता भी पड़ेगी। बाल-अपराधियों एवं स्त्री-अपराधियों की ओर इस प्रकार का विशेष ध्यान दिया गया है। बहुत समस्याएँ समस्त अपराधी-वर्ग के प्रति न्याय-निर्णय और दंड-निर्णय के विषय में भी उठती हैं। परन्तु इनको लेकर मनोविज्ञान का एक अलग क्षेत्र बन गया है जिसे न्याय-मनोविज्ञान कह सकते हैं। उसका वर्णन पाठक अगले अध्याय में पढ़ेंगे।

अपराध-मनोविज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान की आठ प्रमुख विधियाँ रही—हैं (१) जीव-वैज्ञानिक विधि, (२) अपराधियों की जीवनपरिस्थितियों का प्रेक्षण, (३) मनोविश्लेषण विधि, (४) अपराधियों के साथ वार्तालाप की विधि, (५) वैयक्तिक इतिहास विधि, (६) सांख्यिकी विधि, (७) प्रयोगात्मक विधि और (८) परीक्षण-विधि।

अपराध और जैवी देहरचना

अपराध-मनोविज्ञान के विकास के पहले काल में जीववैज्ञानिक विधि की ही प्रधानता थी। तब यह प्रचलित विश्वास था कि अपराध शारीरिक और जैविक हीनता वालों द्वारा की गयी विपरीत परिस्थितियों का परिणाम होता है। इस विश्वास के एक प्रमुख प्रतिपादक लौम्ब्रौज़ी ने अपने अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकाला कि अपराधी जैवी प्रक्रियाओं से उत्पन्न होते हैं। वह पुरखों की वृत्तियों की ओर पूर्वगमन की उपज होते हैं। उनका नीचा माथा, पालिहीन कान आदि शारीरिक चिह्न होते हैं और वे शरीर पर गुदवाने आदि का कष्ट न अनुभव करने में चतुर होते हैं। वास्तव में लौम्ब्रौज़ी के इस मत का खंडन अथवा मंडन करने की चेष्टा से ही अपराध-मनोविज्ञान का शास्त्र रूप में आरम्भ हुआ।

सिज़ारे लौम्ब्रौज़ी (१८३६-१९०९) ने जैवी विकासवाद का अनुप्रयोग करते हुए अपराधी के अपराध व्यवहार को उसके स्वतन्त्र संकल्प पर नहीं, उसकी जन्मजात आंतरिक स्वाभाविक रचना एवं पूर्व प्रवृत्ति पर आधारित कहा। इस कथन की पुष्टि में उसने अपराधियों की मृत्यु के उपरान्त उनकी खोपड़ी और उनके अन्य बहुत से अंगों के मापन किये, और जीवित अपराधियों के रुधिरदाब, औद्वेगिक प्रतिक्रिया प्रकार, श्रवण, स्वाद, घ्राण एवं लिखावट की भी परीक्षा की। लौम्ब्रौज़ी तथा उसके अनुयायियों ने अपने इन अनुसंधानों में अपराधियों के साथ-साथ नियंत्रणार्थ अनपराधियों की परीक्षा नहीं की और इस प्रकार उनकी अनुसंधान विधि दोषयुक्त रह गयी। उन्होंने इस प्रश्न का उत्तर देने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया कि जिन लोगों की देहरचना वैसी नहीं है, जैसी उन्होंने अपराधियों में पायी है, उनमें भी अपराधी व्यवहार क्यों हुआ करता है। तीसरे, उनके पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं था कि विशेष प्रकार की देहरचना वाले व्यक्ति अवश्य ही विशेष प्रकार का व्यवहार करेंगे। दंडित व्यक्तियों और सामान्य व्यक्तियों की अनेक

सविस्तर परीक्षाओं से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि अपराधियों की कोई विशिष्ट देह-रचना नहीं होती। वैसे कई अपराधियों में आतमग तंत्रिकातंत्र के असंतुलन के रूप में दैहिक दोष पाया गया है।

वर्गीकरण

फिर भी लौम्ब्रौज़ी का कार्य अपराधमनोविज्ञान का महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्तम्भ है। कदाचित् लौम्ब्रौज़ी ने ही अपराधियों का प्रथम महत्त्वपूर्ण स्वभावाधारित वर्गीकरण भी किया। विधि एवं समाजशास्त्र के साहित्य में अपराधियों को अपराधानुसार वर्गीकृत करने की परम्परा रही है। एक विद्वान् मेटेलमान ने जैवी आधार मानते हुए भी इसी परम्परा का अनुसरण किया था और अपराधियों को इन दस स्वभाव-प्रकारों में विभाजित किया था—

१. व्यावसायिक सेंधमार तथा भयंकर राजनीतिक अपराधी।
२. अधिक विचारपूर्वक और सावधानी से काम करनेवाले व्यावसायिक सेंधमार और राजनीतिक अपराधी।
३. धमकाकर लूट लेनेवाले और अन्य क्रूर अपराधी।
४. ठग, भड़ुए, धमकाकर धन ले लेने वाले।
५. "पैन हैन्डलर"
६. धन एकत्रित करनेवाले आवारा और अन्तर्मुखी चोर।
७. कभी-कभी परिस्थितिवश परन्तु दोष-बोध-सहित अपराध करनेवाले।
८. परिस्थिति से अनुचित लाभ उठानेवाले।
९. नित्य अवसर की ताक में रहनेवाले, हरफ़नमौला, जालिये और व्यापारिक ठग।
१०. दब्बू अपराध-सहायक, जो आज्ञापालन करते हैं, परन्तु स्वयं अधिक लाभ नहीं उठाते और जिन्हें वास्तव में अपराध प्रिय नहीं हैं।

इसके विपरीत लौम्ब्रौज़ी ने पाँच मुख्य अपराधी प्रकारों में भेद किया—(१) जन्मजात अपराधी, (२) मिरगीग्रस्त अपराधी, (३) अरोध्येच्छात्मक अपराधी, (४) क्षिप्त एवं अल्पबुद्धि अपराधी तथा (५) अवसरीय अपराधी। इसके पश्चात् अपराधियों के अनेक वर्गीकरण हुए हैं। अवसरीय तथा व्यसनी अपराधियों में भेद किया गया है। क्षणिक, सुधार्य एवं असुधार्य अपराधी-वर्ग भी प्रतिपादित हुए हैं। एक वर्ग क्षीणकाय अन्तराबन्धवत् घोर अपराधियों का बनाया गया है तो दूसरा स्थूलकाय साधारण अपराध करने वालों का।

स्वाभाविक अपराधवृत्ति

धीरे-धीरे अपराधियों के वर्गीकरण का प्रश्न अपराध की मूल आधारभूत मानसिक अवस्थाओं अर्थात् विभिन्न मनोवैज्ञानिक कारणों का प्रश्न बन गया है और इन कारणों की खोज अपराध-मनोविज्ञान का प्रमुख सुविकसित कार्य रहा है। जिन कारणों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है, उनमें सर्वाधिक चमत्कारयुक्त गहरी स्वभाव विकृति है। इसकी प्रचलित धारणा के अनुसार कुछ व्यक्ति स्वभाव से ही समाजविरोधी वृत्ति वाले होते हैं। आक्रमण करना और अपराध करना उनके चरित्र का स्वाभाविक अंग ही होता है। उनके उद्वेग परिपक्वावस्था को प्राप्त नहीं होते। परन्तु उन्हें अपनी अपराध-वृत्तियों का बोध हुआ करता है। उनमें से कुछ के अन्दर पराहम् की सबलता के कारण समाजानुकूल तथा समाजविरोधी वृत्तियों का परस्पर संघर्ष इतना तीव्र हो जाता है कि वे असामान्य संशय में डूबे रहते हैं और कुछ भी करने में असमर्थ हो जाते हैं। कभी-कभी वे संशयग्रस्तता के साथ-साथ संयम में कठिनाई अनुभव करने के कारण बारम्बार हाथ धोना आदि पुनरावृत्त्यात्मक क्रियाएँ करने को बाध्य रहते हैं। उनके विपरीत अविकसित एवं निर्बल अहम् व परमाहम् वाले विकृतस्वभाव व्यक्ति होते हैं, जो तत्काल उत्पन्न प्रेरणा पर बिना पूर्व विचार किये अपराध क्रियाएँ एवं अन्य समाजविरोधी क्रियाएँ किया करते हैं। वे सर्वथा अपनी क्षणिक प्रेरणाओं के वश में रहते हैं और उनका उत्तरदायित्व भावना-रहित अनुसरण किया करते हैं। इनके इस व्यवहार में दूसरों के प्रति आक्रामकता कभी स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है और कभी किसी अस्पष्ट रूप में विद्यमान रहती है। मद्यप तथा आत्महत्यारों में यह अपनी ओर आक्रामकता का रूप ले लेती है और कभी-कभी आत्मदण्ड के रूप में अपनी ओर आक्रामकता दूसरों के प्रति अपराध का रूप भी लिया करती है। सामान्यतः यह सभी चरित्रविकृत व्यक्ति क्षणिक प्रेरणावश क्रिया किया करते हैं।

यह स्वभावविकृति साधारण मनोविकृति से बहुत भिन्न होती है। इसमें मनो-विक्षिप्ति के मनःक्षिप्ति अथवा मिरगी, अल्पबुद्धिता, मस्तिष्क रोग आदि के कोई लक्षण नहीं होते। यथार्थ में जब इन सबके लक्षण न हों और फिर भी व्यक्ति में कई वर्ष तक अथवा जीवन भर, सामाजिक समायोजन में असामर्थ्य अथवा कठिनाई की अभिव्यक्ति होती हो, अथवा वह बारम्बार या निरन्तर समाजविरोधी आचरण करता रहे, तभी उसमे उपर्युक्त आचारविकृति कही जाती है। बहुधा इस प्रकार के स्वभाव के व्यक्ति योग्यता में श्रेष्ठ होते हैं, सामाजिक व्यवहार में मिलनसार होते है और बातचीत में प्रभावोत्पादक होते हैं। कभी-कभी वे इस प्रतिभा की आड़ में अपने को प्रचलित सामाजिक मानों से परे भी जताते हैं। वास्तव में वे अत्यन्त मात्रा में आत्मकेन्द्रित, स्वार्थी और हृदयहीन होते

हैं तथा स्वार्थसिद्धि के लिए अनौचित्य की किसी भी सीमा तक स्पष्ट कोरेपन से जा सकते ह। वह यह तर्क किया करते हैं कि उनके लिए किस ने क्या किया है, जो वह किसी का ध्यान रखें। फिर भी वे परिवारजनों एवं मित्रों के स्नेह, रक्षण और सहयोग से जितना अधिक हो सकता है, अनुचित लाभ उठाने में नहीं चूकते। कभी-कभी वे पश्चात्ताप भी करते हैं परन्तु वह भी क्षणिक एवं नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अधिक होता है, वास्तविक एवं स्थायी कम। वे बहुधा पकड़े भी जाते हैं और अनेक अवसरों पर उन्हें हानि अथवा दंड सहन भी करना पड़ता है। परन्तु इस सबसे उनमें कोई विशेष अथवा स्थायी परिवर्तन नहीं होता।

इस मानसिक विकार अथवा रोग को विकृताचार-व्यक्तित्व, विकृताचार-निकृष्टि, विकृताचार-विचलन, स्वाभाविक आचार विकृति अवस्था, विकृत सामाजिक व्यक्तित्व अथवा अत्यात्मकेन्द्रण विकृति भी कहा जाता है।

इसका प्रश्नावली-परीक्षणों के द्वारा निदान संभव हुआ है। इनमें अपराधवृत्ति, औद्वेगिक अस्थिरता, व्यक्तित्व अनुपयुक्तता, कामविकार, घुमक्कड़पन और आचारविकृति के अन्य गुणों की, उपयुक्त प्रश्नों अथवा वाक्यों के उपस्थापन द्वारा जाँच की जाती है। ऐसे वाक्यों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

अपराधवृत्ति से संबंधित प्रश्न

(१) धन पाने के सरल साधनों से काम लेने के लिए मैं सदा तैयार रहता हूँ, फिर चाहे वह उचित हों चाहे अनुचित।

(२) मेरे दो तीन मित्र जेल हो आये हैं।

(३) अधिकांश पुलिस वाले कुटिल होते हैं और घूस खाने को तैयार हो जाते हैं।

औद्वेगिक अस्थिरता

(१) मेरा बचपन सुखी नहीं रहा।

(२) लोग मुझसे मेरी योग्यता से अधिक की आशाएँ करते हैं।

(३) मैं अधिकांश लोगों की अपेक्षा अधिक मात्रा में अस्थिर प्रकृति का हूँ।

व्यक्तित्व-असामर्थ्य

(१) मेरी वृत्ति अपने धन को अपनी सुविधाएँ बढ़ाने की अपेक्षा बचाकर रखने की ओर अधिक रहती है।

(२) मेरे न बहुत मित्र हैं और न कोई घनिष्ठ मित्र हैं।

(३) मेरा कोई विशेष लक्ष्य नहीं है, न मेरी कोई विशेष अभिलाषा है।

काम-विकृति

(१) मेरे जीवन में ऐसे भी काल रहे हैं जब मैंने दिन में चार-पाँच बार हस्तमैथुन किया है।

(२) मुझे लैंगिक मैथुन का बहुत अनुभव है।

(३) मैं कम से कम एक वेश्या को अच्छी तरह जानता हूँ।

घुमक्कड़पन

(१) यदि मैं किसी एक कार्य अथवा स्थान से अधिक देर के लिए बँध जाता हूँ तो मुझे घबराहट होने लगती है कि मैं कहाँ फँस गया हूँ।

(२) मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो घुमक्कड़ होते हैं।

(३) मुझे अपने वातावरण को बदलते रहना अच्छा लगता है।

अपराधवृत्ति के अन्य लक्षण

(१) मुझमें एक भी बहुत बुरी आदत नहीं है।

(२) मुझे पुराने मित्रों की जगह लेने के लिए नये मित्र बनाने में कठिनाई होती है।

(३) मुझ पर कभी न्यायालय में कोई अभियोग नहीं लगा है।

प्रश्नावली पर किसी व्यक्ति से प्राप्त उत्तरों के आधार पर उसे आचार-विकृति-अंक दिया जाता है। अलग-अलग अपराध-वृत्ति, औद्वेगिक अस्थिरता, व्यक्तित्व असामर्थ्य, कामवृत्ति, घुमक्कड़पन आदि अन्य विविध लक्षणों की मात्रा भी ज्ञात की जा सकती है। पूर्वज्ञात विकृताचारियों और अन्य व्यक्तियों के प्राप्तांकों की तुलना से आचार-विकृति के निदानोपयोगी अंकमान भी निर्धारित किये जा सकते हैं।

एस. डी. पोर्टिअस ने अपने व्यूह-परीक्षण के द्वारा भी उन व्यक्तियों को पहचानना संभव बताया है जिनके भविष्य में अपराधी होने की संभावना है। उसने यह निष्कर्ष अपने परीक्षण पर प्राप्त प्रकारांकों, व्यक्तिस्वभाव तथा अपराध के संबंध की खोज से निकाला है। व्यूह-परीक्षण में प्रकारांक, कटी हुई रेखाओं, रेखाओं में विषम टूट, चले हुए मार्ग पर थोड़ा-सा लौट जाना आदि के प्रेक्षण के आधार पर दिये जाते हैं। पोर्टिअस ने देखा कि सामान्यतः अपराधियों के मात्रात्मक अंक सामान्य व्यक्तियों के समान ही होते हैं। उनके परीक्षण कार्य की प्रकारात्मक विशेषताओं से वे असावधान, नियमहीन एवं क्षणिक इच्छावश कार्य करने वाले सिद्ध होते हैं। पोर्टिअस ने ऐसे ही महत्त्वपूर्ण अंतर संतोषजनक एवं असंतोषजनक विद्यार्थियों में और संतोषजनक एवं असंतोष-जनक श्रमिकों में पाये हैं। इसलिए उसने व्यूह-परीक्षण के प्रकारांकों को सामान्य अप-

राधियों के पहचानने के लिए और संभाव्य अच्छे व्यावसायिक श्रमिकों अथवा विद्यार्थियों के पहचानने के लिए भी उपयोगी माना है।

इस प्रकार के अपराधी स्वभाव की उत्पत्ति कैसे हो जाती है अभी तक स्पष्ट नहीं है। न ही ऐसे स्वभाव के व्यक्ति के अपराध-व्यवहार को सामाजिक रक्षा, दंड अथवा मनश्चिकित्सा द्वारा रोकना अथवा सुधारना संभव ही हुआ है। यह अवश्य देखा गया है कि प्रायः अपराधी स्वभाव अल्पायु में ही प्रकट होने लगता है और कभी-कभी प्रौढ़ायु में किसी समय पता नहीं कैसे एकाएक परिवर्तित हो जाता है। बैठे-बैठे, टहलते हुए अथवा किसी से बात करते हुए अबतक अपराधविवश व्यक्ति अपने में चमत्कारपूर्ण जाग्रति का अनुभव करने लगता है। उसे लगता है कि एक स्वप्न-सा टूट गया। उसका चित्त औचित्य-बोध के प्रकाश से भर जाता है। वह अपने पूर्व अपराधों के परिणामों को समझने लगता है और पश्चात्ताप से दुखी हो जाता है। उसे अपराध से और अपराधी साथियों से घृणा हो जाती है। उसमें नीतिभावनाओं का उदय होता है और वह मर्यादावान्, पौरुषयुक्त, आकांक्षी नागरिक बन जाता है।

वैयक्तिक विकास

अपराध के अध्ययन की वैयक्तिक विकास-विधि अपराधी की जीवन-परिस्थितियों के बाह्य घटनारूप को नहीं, उनके बढ़ते हुए व्यक्ति के मानसिक जीवन पर पड़नेवाले प्रभावों को विशेष महत्त्व देती हैं। उन्हें व्यक्ति के विकास का परिवेश मानकर इस परिवेश में होनेवाले व्यक्तिविकास पर ध्यान केन्द्रित करती है। इस विधि में प्रायः व्यक्ति के शैशव काल की मानसिक घटनाओं को उसके विकास का मुख्य निर्धारक माना जाता है और इन घटनाओं में भी सर्वाधिक महत्त्व अन्तर्व्यक्तिगत संबंधों और मनोभावों को दिया जाता है। अपराधवृत्ति की जड़ें इन्हीं संबंधों एवं मनोभावों की विकृतियों में खोजी जाती हैं।

अपराध के इस प्रकार के अध्ययन का विकास अपराध-व्यवहार के निदान, न्याय-निर्णय तथा उपचार के उद्देश्य से हुआ है। इसका मुख्य अंग स्वयं अपराधी से उसके जीवन का, उसके अनुभवों का और उसके मन में जो कुछ भी आये उसका मुक्त साहचर्यात्मक स्मरण एवं वर्णन प्राप्त करना होता है। इस वर्णन में जहाँ कहीं कोई महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने वाला औद्वेगिक प्रसंग आ जाता है, तब उससे नये सिरे से स्वतन्त्र विचार-प्रवाह की अभिव्यक्ति करायी जाती है। इससे पहले मनोवैज्ञानिक अपराधी से अनुकूल भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करना है। तब अपराधी से उसके वैयक्तिक इतिहास के पारिवारिक जीवन, स्वास्थ्य, मनोभावों, औद्वेगिक संबंधों, कामानुभवों और अपराधात्मक झुकावों

का वर्णन प्राप्त किया जाता है। इस वर्णन के समय उसके व्यवहार का प्रेक्षण भी किया जाता है, जिसमें विशेषतया इस ओर ध्यान दिया जाता है कि अपराधी में क्या उस समय अशान्ति, तनाव अथवा उदासीनता प्रकट होती है? क्या वह पहले से बनी-बनायी रटी हुई सी कथा सुना रहा है और क्या उसका भाव मनोवैज्ञानिक की ओर अनुकूलता अथवा विरोध लिये हुए है। यह भी देखने का प्रयत्न किया जाता है कि अपराधी का व्यक्तित्व अपराध करने से पहले कैसा था और अब उसमें कोई परिवर्तन हुआ है कि नहीं। इन सब विषयों पर विश्वसनीय निष्कर्ष निकालने के लिए अपराधी के विषय में ऐतिहासिक, दैहिक तथा मनःप्रक्रियात्मक तथ्य भी एकत्रित किये जाते हैं। कभी-कभी मनःपरीक्षणात्मक तथ्य भी महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं।

ऐतिहासिक तथ्यों में व्यक्ति के पारिवारिक इतिहास, विकास-इतिहास शिक्षा-इतिहास, व्यवसाय-इतिहास, सामाजिक इतिहास, चिकित्सा-इतिहास, काम-इतिहास तथा अपराध-इतिहास को प्रमुख स्थान दिया जाता है।

अपराधियों के वैयक्तिक विकास के अध्ययन में बहुधा उनको मानसिक विकासग्रस्त पाया जाता है। यह भी देखा गया है कि अपराधियों और मनोविकारियों दोनों के व्यवहार में सामाजिक जीवन के प्रचलित नियमों की उपेक्षा पायी जाती है। इससे अनेक विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि अपराध की उत्पत्ति मनोविकार से ही होती है। आज अधिकांश अपराध मनोवैज्ञानिक सब अपराधों का कारण मनोविकार को नहीं मानते, और यह नहीं समझते कि सब मनोविकारग्रस्त व्यक्ति अपराध किया करते हैं। फिर भी उन्हें यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि अपराधियों में बहुधा मनोविकार होता है और मनोविकारग्रस्त व्यक्तियों को अपराध करते देखा जाता है। बहुत से बड़े घोर अपराध करनेवालों में वैसा ही अत्यन्त मतिविभ्रम देखा गया है, जैसा संविभ्रमी अन्तराबन्ध में हुआ करता है। वे प्रायः अत्याचारभ्रम से पीड़ित रहते हैं और आत्मरक्षा अथवा बदले की दृष्टि से दूसरों पर किसी न किसी प्रकार का आक्रमण कर बैठते हैं। साधारण अंतराबन्ध में रोगी भी चोरी आदि अपराध करते पाये गये हैं। अन्तराबन्ध में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का लोप होता ही है। अतः एक विचारधारानुसार सभी अपराधों की जड़ में अन्तराबन्ध अथवा अन्य आनुवंशिक मानसिक रोग होता है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार कुछ व्यक्ति क्षिप्त तो नहीं परन्तु क्षिप्तवत् वर्ग के होते हैं। यह झक्की होते हैं। विचित्र असामान्य क्रियाएँ करते हैं और भावनाविहीन से होते हैं। वे सामाजिक व्यवहार में काम चलाने भर की उपयुक्तता बनाये रखते हैं; परन्तु इतनी मनोविकृति अवश्य रहती है कि उनको अपनी क्रियाओं के लिए उत्तरदायी

न ठहराया जा सके। वे अपराधक्रियाएँ करते हैं परन्तु उनकी यह क्रियाएँ अर्थहीन, अनावश्यक और अभिप्रायहीन होती हैं। दंडित होने पर वे दंड को बिना किसी उद्वेग के स्वीकार कर लेते हैं। बिना किसी भावनात्मक हलचल के दंडित जीवन के कार्यक्रम में पड़ जाते हैं। उसी को अपना स्वाभाविक रुचिकर जीवन मानकर उसमें संतुष्ट रहते हैं और घनिष्ठ मानव-संबंधविहीन, निर्भय और विचारों में परम्परा-उपेक्षी होते हैं। यह व्यक्ति न सामान्य ही होते हैं और न पूर्णतया क्षिप्त ही। इस प्रकार के व्यक्तियों में बिना किसी पूर्व संकेत के हिंसात्मक अपराध करने की प्रवृत्ति देखने में आती है। इनमें सबसे अधिक प्रवृत्ति हिंसात्मक लैंगिक अपराधों की ओर होती है।

बहुत से विद्वान् मनःक्षिप्ति को तो नहीं, परन्तु मनोविक्षिप्तिरूपी मानसिक उपद्रव को अपराध का एक कारण अवश्य मानते हैं। मनोविक्षिप्त अपराधी अपनी विक्षिप्ति का शिकार होने के कारण अपराधमार्ग पर चलता है। मनोविक्षिप्ति उसके लिए बोझ बन जाती है। उसे अपनी किसी अज्ञात आन्तरिक समस्या से संघर्ष करना पड़ता है और वह भी अवचेतन रूप से। अपनी इस अज्ञात समस्या पर विजय प्राप्त करने के लिए और इस बोझ को हलका करने के लिए वह अपने से अपराध करके स्वयं को अपराधीपन का दंड देता है और अपराध के दण्ड की ओर ले जाता है। उसे यह पता होता है कि वह अपराध कर रहा है और वह जान-बूझकर उसे स्वेच्छा से ही करता है, परन्तु उसके पीछे उत्प्रेरक विचार विकृत होता है। वह अपने अवचेतन संघर्ष से उत्पन्न दोषभावना के बोझ से दबा हुआ होता है। उस दोषभावना के बोझ से मुक्त होने के लिए और न्यायोचित पक्ष के पुनःस्थापन का श्रेय पाने के लिए वह अपराध करके अपने को पकड़ाने और दंड दिलाने का अवसर प्राप्त कर लेता है। इसीलिए वह प्रायः अपराध करने में अवचेतन द्वारा प्रेरित असावधानियाँ भी करता है, जिससे वह आसानी से पकड़ भी लिया जाये और दोष-हारी दंड प्राप्त कर ले। मनोविश्लेषणवादी अपराध के इस दोषभावनामूलक आधार पर ध्यान विशेषतः केन्द्रित करते हैं। इस प्रकार वे अपराध को प्रतिस्थापक, प्रतीकात्मक व्यवहार मानते हैं। अपराध को मानसिक, शारीरिक एवं नैतिक अन्तर्गति से उत्पन्न भी माना गया है। कुछ भी हो, एक मुख्य प्रचलित विश्वास यह है कि अपराध का मानसिक आधार समाज-विरोधी उत्प्रेरण है। अतः अपराधी व्यवहार की जड़ें अपराधी के मन के अन्दर होती हैं। मनोविश्लेषकों ने हमें बताया है कि अपराधी में दो विलक्षणताएँ अवश्य होती हैं—असीम स्वार्थ और प्रबल नाशवृत्ति। इन दोनों की जड़ में मनुष्य के प्रति प्रेम-भाव का अभाव होता है। अपराधी के मन की रचना अन्य व्यक्तियों से भिन्न नहीं होती। मनुष्यमात्र में एक अंश कामरूपी अहम् है, जो सदा ही उसे असामाजिक व्यवहार की ओर उत्प्रेरित करता है। पराहम् की ओर से नियंत्रण और समाज की ओर से पड़ने

वाले प्रभाव इसकी सामाजिक धकेलों का विरोध करते हैं। व्यक्ति का अहम् इन संघर्ष-शील वृत्तियों में बीच-बचाव करता रहता है। परन्तु किसी न किसी व्यक्ति में अहम् या तो स्वभाव से निर्बल होता है या थकान, रोग, नशे, मानसिक संघर्ष आदि के कारण निर्बल पड़ जाता है और वह व्यक्ति अपराध की ओर झुक जाता है। अपने काम में कौशलहीन अथवा चरित्रहीन प्रशासन अधिकारी भी अपराधी व्यवहार की ओर आकर्षित होते हैं। ऐसे ही, सामाजिक उथल-पुथल के दिनों में सामाजिक बन्धन भी ढीले पड़ जाते हैं और अपराध का आकर्षण बढ़ जाता है। स्वप्नों में, कल्पनाओं में और किसी मनोवृत्ति के रूप में बहुत से लोग अपराध किया करते हैं। बहुत से व्यक्ति अनिच्छा होते हुए भी भूल से ऐसा काम कर जाते हैं, जो अपराध होता है। कुछ लोगों में कामनावश अपराध करते हुए भी आन्तरिक संघर्ष का अनुभव साथ रहता है। कभी-कभी साधारण व्यक्ति भी भाव विशेष के आवेश में या किसी विशेष परिस्थिति के वश होकर ऐसे काम कर बैठता है। परन्तु अपराधियों में प्रायः अहम् अपराधवृत्ति के साथ इतना एकाकार हो जाता है कि वे बिना किसी विशेष आन्तरिक संघर्ष के अपराधी क्रियाएँ करते चले जाते हैं। कभी-कभी ऐसा इसलिए हो जाता है कि व्यक्ति के स्वस्थ विकास अथवा उसके अहम् के स्वस्थ व्यापार में कोई हानिकारक परिस्थितियाँ रुकावट डालती हैं और उसमें अपराधवृत्तियों का आन्तरिक निरोध नहीं होता या नहीं हो पाता। कम आयु में ही माँ का अथवा माँ के स्थान पर जो भी व्यक्ति हों उनका छूट जाना, माता-पिता से पर्याप्त स्नेह की अप्राप्ति और उनकी ओर से क्रूर अनुशासन भाव, उनके व्यवहारों और भावों में असंगतियों का प्राधान्य, उनकी ओर से अपराधी व्यवहार में किसी प्रकार का बढ़ावा या उनमें स्वयं अपराधी व्यवहार के लक्षण, यह व्यक्ति के विवेक को निर्बल करने वाली कुछ परिस्थितियाँ हैं। कभी-कभी अपराधी व्यवहार के अचेतन उत्प्रेरक भी होते हैं। छोटी आयु में रोग, पारिवारिक अति अनुशासन, रूप की विलक्षणता, बड़ों का अत्यधिक स्नेह प्रदर्शन, अन्यावलम्ब, पुंस्त्वहरण, भय आदि के कारण उत्पन्न होने वाले बलिदान भाव का अचेतन परिणाम अपराधरूपी प्रतिवाद हो सकता है। कभी-कभी अपराध के शिकार का, अपना व्यवहार ही ऐसा होता है, जैसे वह स्वयं अपराधी को दूषित व्यवहार के लिए आमन्त्रित कर रहा हो। समाज में कुछ लोगों को अत्यधिक सरल बुद्धि, मूर्ख, अल्प बुद्धि, कुंठित बुद्धि होना या समय कुसमय सुनसान जगह जाना या राजनीतिक नेता होना, उनके प्रति अपराध बहुत ही सरल काम बना देता है।

खिन्न चित्त से हानि को सह लेना, कष्ट रहने से आनन्द लेना, दूसरों को सताना, धन का संग्रह करना, आकर्षक व्यवहार करना और स्वयं अपराधी होना भी ऐसे व्यवहार हैं, जो दूसरों को नियम-उल्लंघन कार्य का निमंत्रण देते हैं। सफलता या सौभाग्य का नशा

भी प्रायः व्यक्तियों से ऐसा व्यवहार करवा लेता है जो दूसरों को उनके प्रति अपराध करने का आमन्त्रण देता है।

अपराध के अवचेतन कारणों की समस्या विशेषतया उन अपराधों के विषय में उठती है, जो अनचाहे ही संयोगवश होते प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी की गाड़ी के नीचे दब कर कोई मर जाय, तो हत्या का स्पष्ट मन्तव्य न होने पर भी गाड़ीवाले की अवचेतन प्रेरणाओं द्वारा गाड़ी के हानिकारक नियंत्रण की संभावना रहती है।

ऐसे ही अपना अथवा स्वजनों का अहित करने वाले अपराधियों के पीछे अवचेतन प्रेरणा का महत्त्वपूर्ण हाथ हो सकता है। आत्महत्या, स्वदेहांगभंग आदि अपराधों के अवचेतन आधारों को समझना अत्यन्त आवश्यक है और जब संयोगवश प्रतीत होने वाली दुर्घटनाओं से अपनी अथवा स्वजनों की हानि हो तब तो ऐसी अवचेतन प्रेरणाओं की, खोज अनिवार्य-सी ही है। नहीं तो अपराध उत्तरदायित्व ही दुर्घटना की आड़ में छिपा रह सकता है।

अपराध आकस्मिक अतिपीड़ाजनक अपराधवृत्ति से भी उत्पन्न हो सकता है। जैसे, एक बालक का व्यवहार आठ वर्ष की आयु तक सर्वथा साधारण था, परन्तु उसी वर्ष की आयु में वह एक बस दुर्घटना में फँस गया। तब से उसमें स्मृति-लोप के साथ-साथ घुमक्कड़पन देखा गया। साथ ही अपराध वृत्ति भी प्रगट हुई। अपराधी व्यवहार किशोरावस्था तक बढ़ता ही गया। प्रत्याशित चिन्ता लक्षण नहीं पाये गये। निष्कर्ष यही निकला कि उसका अपराधी व्यवहार दुर्घटना अर्थात् उसमें होने वाली आकस्मिक अति-पीड़ा का ही परिणाम था।

कुछ अपराधियों में अपराध की जड़ में बाध्यतारूपी मनोविक्षिप्ति होती है। किसी व्यक्ति को चोरी करने की झक होती है। उसे अपने अन्दर ऐसे तनाव और अशान्ति का अनुभव होता है कि बिना चोरी किये चैन ही नहीं पड़ती, चाहे चोरी की हर वस्तु मूल्यहीन ही क्यों न हो। पकड़ा जाने पर वह दुखी भी होता है और पश्चात्ताप भी करता है, परन्तु समय पाकर फिर वही झक सवार हो जाती है और वह पुनः वही कर्म करके हटता है। दंड मिलने से भी वह पुनरावृत्ति रुकती नहीं। कुछ लोगों को आग लगाने की झक होती है, तो कुछ को हत्या करने की, किसी को अपने गुप्त अंगों को प्रदर्शन की, तो किसी को मदिरापान की, किसी को घुड़दौड़ में जाने की, तो किसी को जुआ खेलने की और किसी-किसी को घूमने की। इस प्रकार के बाध्यता विक्षिप्ति या धारित अपराधों के पीछे प्रायः अतिदमित कामेच्छाएँ होती हैं। यह समझा जाता है कि इन अपराधों से अपराधियों को अवचेतन कामसंतुष्टि प्राप्त होती है। चोरी की झक अधिकांशतः स्त्रियों में पायी गयी है। मनोविश्लेषकों का विचार है कि इस झक वाली स्त्रियों को

लिंग ईर्षा और पुंस्त्वहरण भय के कारण सामान्य कामसंतुष्टि के अभाव के बदले में लिंग के प्रतीक के रूप में कोई वस्तु चोरी से ले लेने में वैसा ही आनन्द का अनुभव होता है जैसा काम संतुष्टि में हुआ करता है। यदि उनमें अपनी कामेच्छा का अर्थात् लिंग को लेने की इच्छा का कुछ बोध होता है, तो उनमें दोषभावनाएँ रहती हैं और वे इन भावनाओं को संतुष्ट करने के लिए अवचेतन रूप से चोरी करने की ओर खिंचती हैं, जिससे वे पकड़ी जायें और दंडित हों। ऐसे ही आग लगाने की झक अधिकांशतः पुरुषों में पायी जाती हैं। इस झक वाले पुरुष आत्मप्रेमी एवं आत्मरत व्यक्ति होते हैं। वे अपनी कामेच्छाओं का इतना दमन किये होते हैं कि अपने को नपुंसक समझने लगते हैं। आग लगाकर पीड़ा देने अथवा नाश करने में वह अपने अंदर रहस्यमय प्रेम, शक्ति एवं कामसंतुष्टि के आनन्द का अनुभव करते हैं।

इसी प्रकार जुआ खेलने की झक को भी वास्तव में कामसंतुष्टि के आनन्द की प्रतिस्थानात्मक खोज समझा गया है। इसकी जड़ में हस्तमैथुनवृत्ति भी मानी गयी है, इसलिए कि दोनों का उद्देश्य औद्वेगिक तनाव से मुक्त होना और विश्राम प्राप्त करना है तथा दोनों क्रियाओं में प्रायः दोनों हाथों का उपयोग भी होता है।

मनोविक्षिप्ति के लक्षण कामापराधियों, हत्यारों, गबन करने वालों और चोरों में भी पाये जाते हैं। इन सब की आक्रामकता को मौखिक परतन्त्रता और निष्क्रियता से इन्कार करने का प्रयत्न समझा गया है।

हत्या अपराध के प्रचलन में कुछ योग तो सामाजिक परिस्थिति तथा संस्कृति के कुछ अंश भी दिया करते हैं। इनमें मुख्य हैं सामाजिक जीवन में स्वाग्रह एवं प्रतियोगिता की प्रतिष्ठा, बड़े-बड़े नगरों में अतिजनता के कारण घिरे और दबे हुए रहने की भावना और उसके कारण औद्वेगिक तनाव, विरोध तथा आक्रामकता की ओर झुकाव, बराबर वालों और बड़े-छोटे में भी बल प्रयोग एवं बल प्रयोग की धमकी का प्रचलन, सामूहिक पीड़न-वृत्ति तथा समाज के कुछ वर्गों में अन्य वर्गों के प्रभत्व के कारण कुण्ठा एवं निरुत्साह के भाव। परन्तु जो शक्ति किसी व्यक्ति विशेष को हत्या करने के लिए बाध्य करती है, वह काम बुद्धि, सामाजिकता, अर्थ आदि के क्षेत्र में पुनरावृत्ति कुण्ठा से उत्पन्न उसकी चेतन अथवा अवचेतन हीन भावना है।

कोई-कोई हत्याकाण्ड अर्थहीन अथवा उद्देश्यहीन हुआ करते हैं। अपराध-मनोवैज्ञानिक इनमें भी प्रबल अवचेतन प्रयोजन देखता है। इस प्रकार की हत्या प्रतिरूपक हत्या होती है। वास्तविक शिकार हत्यारे की अवचेतन दृष्टि से अभिप्रेत शिकार का प्रतिरूप अथवा प्रतीकरूप होता है। संभव है उनमें केवल आकृति की ही समानता हो। बहुत-सी हत्याओं के पीछे अवचेतन दोषभावना से उत्पन्न आत्मदण्ड की आवश्यकता का

अवचेतन भाव होता है, जिसके कारण हत्यारा अवचेतन रूप से ही कोई असावधानी भी कर देता है जिससे वह पकड़ा भी जाय। अवचेतन रूप से ही वह विचित्र व्यवहार भी करने लगता है, जिससे लोगों का ध्यान विशेषतया उसकी ओर जाय। वह बार-बार ऐसे व्यक्तियों के समक्ष पहुँचता है, जिन्हें उसको पकड़ना चाहिए। वह स्वयं भी जाकर अपना अपराध अधिकारियों या और दूसरों को बताता है। जब अन्त में उसे दण्ड मिल जाता है तो वह दण्ड को सहर्ष स्वीकार भी करता है। यही तो वह अवचेतन रूप से चाहता था। और इस प्रकार उसकी दोषभावना हल्की हो जाती है। क्षिप्तावस्था में की हुई हत्याओं के पीछे भी ऐसे अवचेतन कारण हो सकते हैं। हत्या का कारण मद्यपता, मिरगी आदि रोग अथवा कोई शारीरिक दोष, व्यक्तिगत व्यावसायिक लाभ अथवा चेतन अवचेतन मानसिक तनाव भी हो सकता है।

अपराध के उपर्युक्त सब प्रकार के कारणों के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अपराध की जड़ तक पहुँचनेके लिए उसके बाह्य तथा स्पष्ट ही नहीं, उसके गहरे मनोविश्लेषण द्वारा ज्ञात हो सकने वाले स्तरों को भी खोजना होगा। यह भी विश्वास किया जाता है कि मनश्चिकित्सा-शास्त्र को अपराध की समस्या के सुलझाने में विशेष अनुदान देना है। मनोविक्षिप्त अपराधियों को मनश्चिकित्सा द्वारा सन्मार्ग पर लाने की आशा की जाती है।

कुछ अनुसंधानों से यह भी सिद्ध हुआ है कि अनेक अपराधियों में मनोदैहिक रोग भी होते हैं। एक अध्ययन में साधारण जनता की अपेक्षा १० प्रतिशत अधिक अपराधियों में मनोदैहिक आमाशयांत्र विकार, १२ प्रतिशत से अधिक में मनोदैहिक चर्मविकार, १२ प्रतिशत अधिक में मनोदैहिक कंकाल एवं पेशीतंत्र विकार तथा १० प्रतिशत अधिक में दुर्घटना प्रवृत्ति के लक्षण मिले हैं और सभी अपराधियों में जीवन के किसी-न-किसी काल में मनोदैहिक विकारों का इतिहास मिला है। इससे अनुमान किया गया है कि मनोदैहिक विकार भी अपराधवृत्ति की उत्पत्ति में किसी-न-किसी प्रकार का आंशिक योग अवश्य देते होंगे।

अपराध मनोविज्ञान की एक विचारधारा में अपराध का मुख्य कारण अल्पबुद्धिता को माना गया है। निम्नस्तर के अल्पबुद्धियों अर्थात् मूढ़ों और जड़बुद्धियों में अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी होने की भावना नहीं होती। अतः उनसे बड़े घोर अपराध हो सकते हैं। इससे अनुमान होता है कि संभव है अपराध का आधार अल्पबुद्धिता ही हो। बुद्धिपरीक्षणों के निर्माण से इस अनुमान को पुष्ट करने की संभावना प्रतीत हुई है और इस दिशा में कई प्रयत्न भी हुए हैं। अपराध और मानसिक योग्यता के संबंध के प्रथम बुद्धिपरीक्षणात्मक अध्ययनों में साधारण जनता की अपेक्षा अपराधियों में अल्पबुद्धिता बहुत अधिक पायी

गयी। प्रायः अल्पबुद्धि व्यक्तियों की संख्या का माध्य सामान्य जनता में २ प्रतिशत और ९ प्रतिशत के बीच और अपराधियों में ५० से ६४ प्रतिशत तक पाया गया। कहीं-कही तो अपराधियों में ९० प्रतिशत अल्पबुद्धि पाये गये। परिणामस्वरूप लगभग ४० वर्ष पूर्व अपराध का प्रमुख कारण अल्पबुद्धिता को ही समझा जाने लगा। यह निष्कर्ष भी निकाला गया कि अल्पबुद्धि व्यक्तियों में सामाजिक जीवन के लिए उत्तरदायित्व की भावना लुप्त होने के कारण उन सबके अपराधी हो जाने की अधिक संभावना रहती है और इसलिए उन्हें विशेष संस्थाओं के संरक्षण तथा निरीक्षण में रहना चाहिए।

परन्तु प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त इन निष्कर्षों के प्रति शंका उत्पन्न की गयी है। सेना के सामूहिक बुद्धिपरीक्षणों से पता चला है कि सामान्य वयस्कों की मानसिक आयु का माध्यम १३.०८वर्ष है, पहले माना हुआ १६.००वर्ष नहीं। पुराने माध्यम के अनुसार सेना में ही ३४ प्रतिशत अल्पबुद्धि निकले। अतः इस समस्या पर पुर्नविचार आरम्भ हुआ। अनेक अपराधियों के बुद्धिपरीक्षणांक कुछ सेनानियों और सेनाधिकारियों से अधिक निकले। अपराधियों में अल्पबुद्धियों की संख्या२० से २६ प्रतिशत ही निकली। यदि अल्पबुद्धियों की संख्या सामान्य जनता में १ मानी जाय तो अपराधियों में १–३ के लगभग ही प्रतीत होगी। कुछ अनुसंधानकर्ताओं को तो अपराधियों और साधारण नियंत्रक व्यक्तियों की बुद्धि में कोई अंतर नहीं प्रतीत हुआ। कुछ अध्ययनों में अपराधियों और साधारण व्यक्तियों की नैतिक समझ की तुलना की गयी है। इनमें भी दोनों वर्गों में कोई विशेष अन्तर नहीं पाया गया है। जिन अध्ययनों में अब भी अपराधियों में साधारण जनता की अपेक्षा अधिक अल्पबुद्धिता प्रतीत हुई है वे प्रायः पुराने ही मानों पर आधारित रहे हैं। यह अभी नहीं कहा जा सकता कि अपराधियों के कोई उपर्युक्त मनः-परीक्षणफल कहाँ तक उनके अल्प उत्प्रेरण द्वारा, उनके केवल कारागार-प्रवेशप्राप्य न्यादर्श के परीक्षित होने से अथवा उपयोग किये गये परीक्षण प्रकारों द्वारा प्रभावित हुए होंगे।

अब तक के सांख्यिकीय अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति अपराध क्यों करता है, इस पर उसकी बुद्धि का मापन कदाचित् कोई प्रकाश न डाल सकेगा। फिर भी वह अपराध जिस प्रकार करता है, वैसे ही क्यों करता है, इसे समझने में उसके बुद्धि-माप से अवश्य सहायता मिलने की आशा की जा सकती है।

परन्तु अपराधियों में अल्पबुद्धिता साधारण जनता की अपेक्षा अधिक न सही, पर पायी तो जाती है। अतः यह संभव है कि अल्पबुद्धि व्यक्ति अल्पबुद्धिता के कारण ही अपराध में रत हुआ करते हों। अल्पबुद्धिता स्वयं तो अपराधवृत्ति नहीं है। यह तो मानसिक योग्यता की हीनता मात्र है। अनेक व्यक्ति हीन मानसिक स्तर पर रहते हुए

भी राज्यनियमानुसरण करते हुए सुनागरिक जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु अल्पबुद्धि व्यक्ति परिवेश के अकल्याणकारी अंशों से सरलता से प्रभावित हो जाता है। अल्पबुद्धिता प्रायः आनुवंशिक तो होती ही है। अल्पबुद्धि बच्चों के माता-पिता यदि अल्पबुद्धि हुए तो वे उनका सामान्य निर्देशन अथवा निरीक्षण नहीं कर पाते और न उनको सामान्य ध्यान अथवा स्नेह दे पाते हैं। अन्य संकोचहीन व्यक्ति इन बच्चों की सरलता एवं विश्वासवृत्ति से अनुचित लाभ उठाकर उनसे जो चाहे अपराध करवा लेते हैं। इन बच्चों की पढ़ाई या खेल में असफलता अथवा हीनता और दूसरों की अपने प्रति उपहासशीलता से खीझ कर भी यह अल्पबुद्धि बच्चे नासमझी से अपराधी व्यवहार कर बैठते हैं।

जीवनपरिस्थितियों से अपराध की उत्पत्ति

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने अपराधियों की जीवन-परिस्थितियों पर ध्यान केन्द्रित किया है। उन्होंने तथा अनेक अन्य विद्वानों ने अपराधी व्यवहार की सामाजिक परिस्थितियों का महत्त्वपूर्ण अध्ययन किया है। उन्होंने अपराध के परिवेश में सामाजिक, विशेषतया आर्थिक एवं जनसामूहिक विकृति पायी है। युद्ध का वातावरण, सामूहिक स्थानान्तरण, अकाल (भुखमरी), व्यापारिक मंदी आदि से होने वाली सामाजिक उथल-पुथल व्यक्तियों में अपराधवृत्तियाँ जगाती हैं। अवनत पड़ोस, खचाखच भरे निवास, बेकारी, असंतोषजनक आर्थिक स्तर एवं कार्यपरिस्थितियाँ, निर्धनता, अति सम्पन्नता, स्थानान्तरोत्पन्न सामाजिक एवं औद्वेगिक अस्थिरता, विद्यालयों में अति संख्या, शिक्षकों-शिष्यों से अपर्याप्त औद्वेगिक समायोजन, योग्य व्यक्तियों की कमी, विद्यार्थियों की औद्वेगिक समस्याएँ, मनोरंजन तथा खेल की सुविधाओं एवं सुसंगठित सामूहिक जीवन की अपर्याप्तता, परिवारों के जीवन में असंतुलन एवं तनाव, पिता अथवा माता का अत्यधिक आधिपत्य, औद्वेगिक तनाव, पति-पत्नी के अलग हो जाने से खंडित परिवार-जीवन, अनुपयुक्त बालपालन विधियाँ, भाई-बहिनों तथा सहपाठियों के व्यवहार का अकल्याणकारी प्रभाव, अनुशासन एवं निर्देशन का अभाव, स्नेहाभाव, रोग, निर्धनता अथवा सामाजिक व्यस्तता के कारण माता-पिता के द्वारा बच्चों की उपेक्षा, शारीरिक अथवा मानसिक अस्वास्थ्य, अति विद्रोह, अत्यनुसरण, अनुचित विरोध, अतिसंकोच-शीलता एवं मादकप्रियता; ये सब परिस्थितियाँ व्यक्तियों को अपराध की ओर झुकाती पायी गयी हैं।

कुछ अपराधमनोवैज्ञानिकों ने अपराधी की परिस्थिति को उसके अपराध का एक मात्र तो नहीं परन्तु एक मुख्य निर्धारक माना है। इनमें से एक अमरीकन विद्वान् डेविड एब्राहमसेन हैं, जिन्होंने अपराध व्यवहार के निर्धारण के विषय में निम्न सूत्र प्रस्तावित किया है—

$$\text{अपराध व्यवहार} = \frac{\text{अपराधवृत्ति} + \text{परिस्थिति}}{\text{आन्तरिक प्रतिरोध}}$$

एब्राहमसेन ने बाह्य परिवेशात्मक परिस्थिति के अतिरिक्त मानसिक अवस्था रूपी आन्तरिक परिस्थिति का महत्त्व भी दर्शाया है, और परिस्थिति के इन दोनों अंगों के परस्पर गहरे सम्बन्ध पर बल दिया है। परन्तु साथ ही उन्होंने अन्तिम निर्धारक व्यक्ति की अपनी मनोवृत्तियों एवं प्रतिक्रियाओं को ही माना है।

अपराध विशिष्ट अवसरगत परिस्थिति से भी उत्पन्न हो सकता है। ऐसी अवस्था में प्रायः अपराधी को अपने कार्य के अपराध होने का बोध रहता है, परन्तु वह अपनी विशिष्ट वर्तमान परिस्थितियों में अपने को अपराध करने के लिए बाध्य समझा करता है। इसलिए कभी तो वह अपने अपराध को इस बाध्यता के आधार पर क्षम्य अथवा कर्तव्य मानकर सिद्ध करने का प्रयत्न भी करता है और कभी उसके लिए दंड भी सहर्ष स्वीकार कर लेता है। कुछ विशिष्ट अपराधपरिस्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जिनमें परिस्थितिवश व्यक्ति को अपने कर्म के सापराध-निरापराध होने का बोध न हो पाना मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्वाभाविक नहीं तो कम से कम संभाव्य अवश्य होता है। उदाहरणार्थ प्रबल उद्वेगों की अवस्था में बाह्य वस्तुस्थितियों के थोड़ी इधर-उधर होने से यदि वही काम दोषपूर्ण अथवा निर्दोष हो जाता हो तो यही समझना चाहिए।

कुछ अपराधी अपराध को व्यवसाय के रूप में करते हैं। वह अपराधवृत्ति नहीं कहे जा सकते। वह सामान्य व्यावसायिक वृत्ति के मनुष्य होते हैं। वे धनोपार्जन अथवा अपनी अन्य आवश्यकताओं तथा इच्छाओं की पूर्ति के लिए जागरूकता से अपराध-व्यवसाय को अपनाते हैं। वह उसे या तो अपने माता-पिता या अन्य संबंधियों से सीखते हैं या साथ घूमनेवालों से और यदि पहले किसी संयोग से कारागार पहुँच गये तो वहाँ मिलने वाले अपराधियों से। परन्तु उनका दृष्टिकोण व्यावसायिक ही रहता है। व्यावसायिक चोर व्यापारिक दृष्टि से चोरी करता है। वह अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अथवा किसी अन्य प्रकार के दबाव से चोरी को व्यापार के रूप में अपनाता है। वह सोचता है कि किसी कार्यालय अथवा कारखाने में नौकरी करने की अपेक्षा चोरी में अधिक प्राप्ति भी है और खतरों का सामना करने का आनन्द भी। व्यावसायिक अपराधी अपराध-मार्ग की संभव हानियों को जानते हैं इसलिए वे अत्यन्त सतर्कता एवं बुद्धिमानी से लाभ-हानि का लेखा रखते हुए यथासंभव विशेषज्ञता से इस व्यवसाय को करते हैं। इसी-लिए वे प्रायः राज्याधिकारियों के चंगुल से बचे रहते हैं और उनकी पकड़ में नहीं आते। कभी पकड़ भी गये तो वे अपनी व्यावसायिक चातुरी से ही तत्काल अथवा शीघ्र ही छूट भी जाते हैं। कुछ व्यावसायिक अपराधी कारागार में पहुँचना भी अपने व्यवसाय का

आवश्यक अंग समझते हैं। जब तक वे जेल में बन्द न हो जायँ वे अपने अपराध व्यवसाय में कच्चे समझे जाते हैं। इसलिए जब तक जेल न हो आये हो, तब तक वे इसे अपने लिए लज्जा की बात मानते हैं और क्षमा प्रार्थना के साथ कहते हैं। उनका जीवन दर्शन और मूल्यतंत्र अवश्य साधारण सामान्य नागरिकों से भिन्न होता है। वे अपराध-मार्ग को ही जीवन का सफलतम मार्ग मानने लगते हैं। अपराध-कौशल को प्रशंसनीय ही नहीं, वास्तव में दानवों, मानवों, देवताओं सभी द्वारा प्रशंसित मानते हैं। वह धार्मिक ग्रंथों की साक्षी देकर यह भी कहते हैं कि भगवान् की पापियों पर विशेष कृपा रहती है। उनका यह भी चिन्तन एवं कथन होता है कि मनुष्य स्वभाव से अपराधी है और सब मनुष्य अपराध करके ही जीवन या उसमें सफलता प्राप्त करते हैं। कोई व्यक्ति नहीं जो किसी-न-किसी प्रकार का अपराध न करता हो या न करना चाहता हो। वे उन्हें पकड़ने अथवा उपदेश देने वालों की, विशेषतया राज्याधिकारियों की, कड़ी आलोचना करते हैं। उनके कथनानुसार जो अपराध नहीं करता, उन्हें या तो सौभाग्यपूर्ण परिस्थितियों के कारण आवश्यकता नहीं है या उनमें पर्याप्त साहस नहीं है या फिर अपराध से वंचित रहते-रहते और अपराध के विरुद्ध आदेशों एवं अन्य परिस्थितियों को सुनते-सुनते, देखते-देखते उनकी अपराध-योग्यता कुण्ठित हो गयी है। उनका यह भी विचार और आग्रह होता है कि अपराधी भी नीतिहीन, नियमहीन, भावनाहीन अथवा मनुष्यत्वहीन नहीं होते। उन्हें एक-दूसरे के प्रति तथा अपराधी वर्ग के प्रति भक्ति होती है। वे सहृदय भी होते हैं, देशभक्त भी और धार्मिक भी।

अपराधियों के सामान्य गुण

कुछ प्रयास अपराधियों के सामान्य मानसिक गुणों को ज्ञात करने का भी हुआ है। इस दिशा में भी प्रथम प्रयत्न लौम्ब्रोज़ो ने किया था। उसके अनुसार अपराधियों के विशिष्ट मानसिक गुण अस्थिरता, क्षणिकप्रेरणावशता, स्नेहाविकास, दम्भ, असत्यभाषण, जुआ और असंयम हैं। अन्य अध्ययनों में उन्हें क्रोधशील, असाध्य तथा मूर्ख पाया गया है। अपराधी बालक-बालिकाओं में प्रायः दृष्टिदोष एवं मनोविक्षिप्ति के लक्षण मिले हैं। इस प्रकार अपराधियों के व्यक्तित्वगुणों के विषय में अनेक अध्ययन हुए हैं। परन्तु इन अनुसंधानों से यह पता नहीं चलता कि यह व्यक्तित्व-गुण उसके अपराधी व्यवहार के कारण हैं अथवा उसके अपराधी जीवन के अनुभवों के परिणाम हैं। बहुत-से अनुसंधानों के निष्कर्ष इसलिए संदिग्ध हैं कि उनमें अपराधियों और साधारण नियन्त्रक व्यक्तियों के आयु, बुद्धि, संस्कृति आदि में समान न्यादर्श नहीं लिये गये। इन अनुसंधानों के विषय में यह आपत्ति भी उठाई जाती है कि इसमें प्रायः सभी प्रकार के अपराधियों के मापफलों को

एक साथ मिला दिया गया है। लोगों का मत है कि सभी प्रकार के अपराधियों के व्यक्तित्वगुण एक से नहीं होंगे।

कुछ अनुसंधानकर्त्ताओं का अनुमान है कि अपराधी की अपराध क्रिया के समय विशिष्ट मानसिक दशा हुआ करती है। परन्तु उस समय की दशा के पर्याप्त अध्ययन अभी प्राप्त नहीं हैं। अपराधियों की मनोवस्थाओं के अध्ययन प्रायः दण्डित अर्थात् बंदी अपराधियों और उनके व्यवहार को लेकर ही किये जाते हैं। बंदी व्यवहार के विषय में दो प्रमुख समस्याएँ रही हैं, बंदी समायोजन और बंदी पलायन। बंदी समायोजन के अध्ययनों से बंदी अपराधियों के अपराधाधार व्यक्तित्व गुणों को ज्ञात करने का प्रयत्न भी किया जा सकता है और उनके वर्तमान कारागार जीवन के प्रति समायोजन भी। अपराधी पर बंदी जीवन का मानसिक प्रभाव अपराध मनोविज्ञान का महत्त्वपूर्ण विषय है। परन्तु अभी इस विषय का पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ है।

१९४० ई० में प्रकाशित जिम फेलन कृत आत्मकथारूपी ग्रन्थ जेल जरनी (अर्थात् जेल यात्रा) में अंग्रेज़ी जेलों में बिताये १३ वर्षों के अनुभव के आधार पर यह दिखाया गया है कि कारागार मनुष्य के मस्तिष्क का धूर्तता के साथ नाश कर देता है और उसे जड़बुद्धि बनाकर छोड़ता है। उसे स्वयं कारागार में अपने बौद्धिक शक्तियों की रक्षा के लिए घोर आन्तरिक मोर्चा लेना पड़ा था। सौभाग्य से उसे जेल में पहुँचने से पहले अपनी लेखन प्रतिभा का पता चल चुका था। और लिखने के अभ्यास द्वारा वह कारागार जीवन के विष को रोकता रहा। फिर भी वहाँ का विषैला वातावरण कदाचित् उसे ले ही डबता, यदि सौभाग्यवश समय से वहाँ से मुक्ति प्राप्त न हो जाती। इस विषैले प्रभाव से लेखक ही नहीं, चोर भी बहुत कुछ बच पाते हैं, क्योंकि वे भी सावधान स्वभाव के होते हैं और उनके व्यावसायिक चोरों ने उनकी बौद्धिक योग्यताओं को दक्ष और जागरूक बना दिया होता।

बन्दी पलायन, बहुधा बन्दीगृह से मुक्ति के लिए नियत समय से कुछ ही समय पूर्व होता हुआ देखा गया है। ऐसे बन्दी पलायनों के पश्चात् बन्दी आसामी से फिर पकड़ लिये जाते हैं। परिणामस्वरूप उनकी कारावास-अवधि बढ़ जाती है। मनोवैज्ञानिकों ने इन बन्दी पलायनों का मनोविश्लेषण किया है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह बन्दी-पलायन वास्तव में सामाजिक जीवन की वास्तविकता से मुक्ति पाने के लिए मनोविक्षिप्त्यात्मक पलायन होते हैं।

दण्डभुक्ति व्यक्तियों का पुनर्व्यवस्थापन और दण्डकालोपरान्त व्यवहार भी अपराध मनोविज्ञान के महत्त्वपूर्ण विषय हैं। पुनव्यवस्थापन के अध्ययन म दंडमुक्त अपराधी को फिर से नागरिक जीवन में लगाने और उसका उसके समायोजन करा देने की कुशलतम

विधियों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। दंडकालोपरान्त व्यवहार के अध्ययन में यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि दंड की अवधि समाप्त होने के उपरान्त मुक्त होकर अपराधी व्यक्ति का जीवन कैसा रहता है।

अपराध के मनोवैज्ञानिक कारणों की खोज का उद्देश्य अपराध निदान है। अपराध-मनोविज्ञान का दूसरा मुख्य उद्देश्य अपराध को कम करने के लिए अपराधोप्रचार का विकास है। इसमें प्रचलित एवं संभव अपराधोपचार विधियों का अध्ययन और मूल्यांकन तथा सफलतम अपराधोपचार का निर्माण एवं निरूपण है। यन्त्रणा, निर्वासन, मृत्यु, कारागार, पुनर्व्यवस्थापन, प्राचीन पद्धतियाँ हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने विलोम-अभ्यनुबंधन, व्यवसाय वृत्ति निर्माण, सामाजिक शिक्षा, शास्त्र शिक्षा, आत्मबोध, मनोविश्लेषण आदि पद्धतियाँ प्रस्तावित की हैं। अपराध-मनोविज्ञान की एक प्रमुख समस्या इन सभी अपराधोपचार विधियों की कुशलता एवं सफलता का सापेक्ष अर्थात् तुलनात्मक वैज्ञानिक मूल्यांकन है।

दो नवीन अपराधोपचार विधियाँ विशेषतः उल्लेखनीय हैं। एक है वाग्विश्वास-व्यवस्था। इसकी सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि इसमें अपराधी का व्यवहार कैसा रहता है, वह कहाँ तक फिर अपराध के चक्कर में पड़कर फँसने से बच पाता है। इस व्यवस्था में आने पर उसका अपराध में फिर फँसने से बचे रहना किन-किन बातों पर निर्भर है, इस विषय की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है और उपयुक्त सांख्यिकीय अध्ययन किये जा रहे हैं। ऐसे समीकरणों का निर्माण किया जा रहा है जिनमें इन निर्धारकों का उपयुक्त महत्त्व या (भार) निश्चित हो और जिनके द्वारा व्यावहारिक प्रामाण्य के साथ वाग्विश्वास की सफलता का पूर्वानुमान किया जा सके।

अपराध की पोल खोल देना तो एक प्रकार का दंडात्मक उपचार है ही। यह स्पष्ट कर देना कि यदि अपराध किया तो वह अवश्य ही खुल जायेगा, आगे के लिए अपराध को रोकने का एक और ढंग है। इसीलिए मिथ्याखोजी परीक्षणए का उपयोग अपराध खोज ही नहीं, अपराधोपचार के लिए भी किया गया है। एक व्यापारिक संस्था ने अपने सब कर्मचारियों को दोषखोज प्रयोगशाला में भेज दिया। अधिकांश कर्मचारियों ने डाक टिकट, पेन्सिलों और कागज से लेकर बहुमल्य वस्तुओं तक की चोरी स्वीकार की। जिन्होंने स्वीकार नहीं किया वे मिथ्याखोजी यंत्र द्वारा पकड़े गये। व्यापार संस्था से उन्हें कोई दंड नहीं दिया गया, केवल यह कह दिया गया कि अगले वर्ष फिर उनकी इसी प्रकार की परीक्षा की जायेगी। फलस्वरूप पुनः परीक्षा में केवल दो अथवा तीन प्रतिशत ही दोषी निकले, उन्हें निकाल दिया गया।

अपराधियों की बड़ी संख्या और उनमें बहुत-सी समानताएँ देखते हुए सामूहिक

अपराधोपचार का प्रस्ताव भी हुआ है और इसके लिए उपयुक्त विधियाँ निर्मित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। पर्याप्त सक्रिय प्रयोगों से ही सामूहिक अपराधोपचार का यथार्थ मूल्यांकन हो सकेगा। कदाचित् पर्याप्त सफलता प्राप्ति के लिए अपराधियों का वर्गीकरण तथा प्रत्येक वर्ग को अलग रखकर उसका अलग से उपचार करना उपयोगी होगा। अपराधियों के वर्गीकरण के अनेक आधार प्रस्तावित अथवा व्यवहृत हुए हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि सामूहिक अपराध-चिकित्सा में व्यक्तित्व-प्रकारों पर आधारित वर्गीकरण विशेषतया उपयोगी होगा। एक ऐसे ही वर्गीकरण में अपराधी छः वर्गों में विभाजित किये गये हैं——मनोविक्षिप्त अपराधी, क्षिप्तवत अपराधी, स्वाभाविक वृत्ति अपराधी, व्यावसायिक अपराधी, परिस्थित्यात्मक अपराधी, तथा सांयोगिक अपराधी।

कभी-कभी अपराधियों में इस प्रकार के वर्गगत अथवा व्यक्तिगत अंतरों को प्रमुख महत्त्व दिया गया है और इसके आधार पर आग्रह किया गया है कि प्रत्येक अपराधी अथवा प्रत्येक प्रकार के अपराधी का भिन्न प्रकार का उपचार होना चाहिए। विशेषतया अर्वाचीनतम दृष्टिकोण व्यक्तिगत अंतरों को अत्यन्त महत्त्व देता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सभी अपराधियों और सभी अपराधों का न तो एक-सा ही कारण होता है और न ही उनका एक ही ढंग से उपचार हो सकता है। प्रत्येक अपराधी के विषय में अलग से विचार करना होगा कि वह कर्त्तव्य पथ से क्यों डिगा और उसके साथ क्या व्यवहार होना चाहिए। इसलिए समाज में सभी प्रकार के अपराधियों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के उपचार का प्रबंध करना होगा। इस विचार-धारा के अनुसार अपराधोपचार के लिए विभिन्न प्रकार के प्रयास किये जा रहे हैं। जैसे, विक्षिप्त अपराधी के लिए मनश्चिकित्सा, क्षिप्त अपराधी के लिए रासायनिक तथा मानसिक चिकित्सा, स्वाभाविक वृत्ति-अपराधी के लिए दया एवं स्नेह और व्यावसायिक अपराधी के लिए विलोम अभ्यनुबन्धन का पक्ष लिया गया है। अल्पबुद्धि अपराधियों के लिए तत्काल विशेष संस्थाओं में रक्षा तथा देखरेख ही उपयुक्त समझी गयी है। सामाजिक संस्थाएँ जीवन-परिस्थितियों में सुधार कर रही हैं और मनोरंजन की सुविधाएँ जुटा रही हैं तथा सामान्य सुरक्षा-भावना की वृद्धि करने के प्रयत्न कर रही हैं। मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञ मानसिक स्वास्थ्य एवं व्यक्तित्व समायोजन की वृद्धि का प्रयास कर रहे हैं। न्यायालय बहुत-से मुकदमों में मनोवैज्ञानिकों से मंत्रणा माँगते हैं। अपराधी-सुधार-सदनों में अपराधियों के निर्देशन के लिए मनोवैज्ञानिक नियुक्त किये जाते हैं। वे उनके सुधार-सदन से बाहर आने पर उनकी आर्थिक सामर्थ्य-प्राप्ति के उद्देश्य से उन्हें व्यावसायिक निर्देशन भी देते हैं और उनके मनोभावों तथा उनकी औद्वेगिक वृत्तियों का निर्देशन भी करते हैं। दंड देने में व्यक्ति की विशेषताओं का ध्यान रखा जाता है।

बाल-अपराध

अपराधमनोविज्ञान का एक विशेष विषय बालापराध है। यह राज्य से विरोध में आने वाला उग्र बालव्यवहार-विकार है। बालापराध प्रायः बालिकाओं की अपेक्षा बालकों में अधिक देखने में आता है। बालकों द्वारा सबसे अधिक होने वाले अपराध, चोरी घर से अथवा स्कूल से भाग जाना, आवारागर्दी और कामापराध समझे जाते हैं। परन्तु किशोरों में, जहाँ पहले छोटी-छोटी चोरी, बटुआ आदि कुछ छीन कर भाग जाना, सम्पत्ति नाश, शैतानी आदि देखने में आती थी, वहाँ अब हत्या, डाका, बलात्कार, सेंधमारी आदि वयस्कों जैसे अपराध भी देखने में आने लगे हैं। केवल कूटरचना अर्थात् जालसाजी उनमें नहीं के बराबर मिलती है और कदाचित् वह इतना अधिक कौशल चाहती है, जो उनमें नहीं होता।

अमरीकन बाल-न्यायालयों के समक्ष बालिकाओं द्वारा आने वाले कृत अपराधों में सबसे अधिक संख्या कामापराधों की है। इसका एक कारण यह भी है कि बालकों की अपेक्षा बालिकाओं द्वारा कामापराध अधिक गंभीर समझा जाता है।

बालापराध के कारण

बालापराध के कारण मुख्यतया वही हैं जो प्रौढ़ावस्था के होते हैं। इनमें प्रमुख कारण मनोविकार और समाजविकार माने गये हैं। समाजविकारात्मक कारणों में मुख्य ये हैं :

(१) सामाजिक पृष्ठभूमि :
- (क) असंतोषजनक पारिवारिक स्थितियाँ, जैसे
  - (१) उपेक्षा, अस्वीकृति, अनानुशासन अथवा माता-पिता में झगड़ा,
  - (२) पिता की अथवा माता-पिता दोनों की अनुपस्थिति,
- (ख) सामाजिक विघटन,
- (ग) टोलियों का निर्माण,
- (घ) विशेष प्रकार के दुर्गुण,
- (च) युद्ध परिस्थितियाँ,
- (छ) सामान्य आक्रामक वृत्ति,

(२) आर्थिक पृष्ठभूमि, जैसे, (१) धन-हीनता, (२) अपर्याप्त वास-प्रबंध, (३) अपर्याप्त मनोरंजनार्थ धन,

(३) सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, जैसे जुआ घरों की उपस्थिति,

(४) अल्पबुद्धिता (बुद्धि लब्धि ७०–९०),

(५) बालिकाओं में कामापराधों का एक प्रमुख कारण—साधारण बालकों से

मित्रता की सुविधाओं का अभाव अथवा अवरोध और परिणामस्वरूप फौजियों, पुलिस वालों अथवा नाव सैनिकों में मनोरंजन उपलब्ध करने की उत्कंठा।

कभी-कभी प्रगतिशील शिक्षा और व्यक्ति-स्वातंत्र्य वृत्ति को भी बालापराध का कारण माना जाता है। कदाचित कुछ प्रोत्साहन मनोविश्लेषण वाद के प्रसार तथा उसकी अयथार्थ अर्थ व्याख्या से भी मिला है। औद्योगिकरण, माता अथवा पिता दोनों का अधिकांश घर से बाहर रहना, उनके और उनके बच्चों के बीच पर्याप्त तादात्म्य की कमी, बाल-समूहों का उदय और अधिकारों का माता-पिता के बालसमूहों की ओर बहाव, मूल्य भावों में अस्थिरता एवं अनिश्चितता, धर्म और नीति का ह्रास तथा जनसंख्या में वृद्धि बालापराध के परिवेशस्थित कारण समझे जाते हैं।

बालापराधियों की मानसिक विशेषताओं को समझने का बहुत प्रयत्न किया गया है। अनुमान किया गया है कि बालापराध-प्रकारों से उनके व्यक्तित्व गुणों का पता चल सकता है। अधिकांश विद्वानों ने बालापराधियों को मनोविक्षिप्त माना है। बालापराधी की बुद्धि साधारण बच्चों से कम नहीं होती। उसमें मानसिक संघर्ष भी प्रायः साधारण बच्चों से अधिक नहीं होते किन्तु वह औद्वेगिक अप्रौढ़ता के कारण तनाव, कष्ट और दुःख को सहन नही करता और अपनी इच्छाओं की तत्काल पूर्ति को स्थगित नहीं कर पाता। उसमें आत्मनियन्त्रण की योग्यता साधारण से बहुत कम होती है। परिवेश के प्रभाव उसे अशान्त कर देते हैं। अतः वह अपनी अशान्ति से मुक्ति प्राप्त करने के लिए अपनी प्रेरणाओं को कार्यरूप दे देता है। बहुधा वह कुछ आधारभूत दोष भावनाओं के कारण आक्रामक अपराध इसलिए और करता है कि उसे दंड द्वारा कष्ट प्राप्त हो। इस प्रकार उसका अपराध पीड़ानुरक्तियुक्त होता है। अपराधी बच्चे अन्य बच्चों की अपेक्षा अपनी इच्छाओं अथवा माँगों के विषय में अधिक अड़ियल भी होते हैं। इसकी जड़ में कदाचित् चेतन अथवा अवचेतन रूप से स्नेहादि से वंचित रहने की भावना होती है। कुछ मनोविश्लेषण-वादियों ने इसे कामकुण्ठा माना है, परन्तु दूसरे विद्वान् दूसरी प्रकार की कुण्ठाओं को भी स्वीकार करते और महत्त्व देते हैं।

मनोविश्लेषणवादियों ने बालापराध के पीछे बाल-विकास-विकार भी देखे हैं। उनके विचारानुसार बच्चे के विकास के मौखिक काल में उसकी मौखिक इच्छाओं के प्रति प्रौढ़ों का अनुपयुक्त व्यवहार उससे आत्मप्रियता तथा निष्क्रियता उत्पन्न करता है और इन्हीं की अति से आक्रामक अपराधों को प्रेरणा मिलती है। लैंगिक अपराध भी इसी के कारण होते हैं। इसी के कारण बालापराधियों में तोड़-फोड़ की, क्ररता की और पीड़नानुरक्ति की वृत्तियाँ मिलती हैं।

बाल-अपराधियों में प्रायः आघातात्मक अनुभवों की बहुलता पायी जाती है। इसके परिणामस्वरूप बच्चे में वास्तविकता और कल्पनात्मकता में भेद करने की योग्यता की हानि होती है। तभी वह अपने अपराध का दोष अपनी परिस्थिति अथवा अपने परिवेश के सिर मढ़ा करता है। अन्तराबन्धों की भाँति वह अपनी अपराधवृत्ति के उद्‌गम को अपने बाहर प्रक्षेपित किया करता है। इस प्रकार वह अपनी प्रवृत्तियों को कार्यान्वित करने में दोषभावना से बच जाता है। ऐसे असमन्वित व्यक्तित्वविकास के कारण उसका पराहम् उसके अहम् से असम्बद्ध रहता है। पराहम् अविकसित रह जाता है और अहम् विकृत।

एक अनुसंधान में अपराधी तथा निरपराधी किशोर बालिकाओं के पुरुषत्व-स्त्रीत्व-परीक्षण द्वारा व्यक्तित्व समायोजन में दोनों वर्गों में महत्त्वपूर्ण अन्तर ज्ञात हुआ है, परन्तु सामाजिक प्रौढ़ता में जो अन्तर पाये गये हैं वह बुद्धि से अधिक संबंधित हैं, अपराध से कम, रुचि, मनोभाव एवं पुरुषत्व-स्त्रीत्व में दोनों समूहों में कोई अन्तर नहीं पाया गया।

अल्पबुद्धि बालापराधियों के विशेष अध्ययन भी हुए हैं। कुण्ठा-आक्रमण-परीक्षण में उनमें कुण्ठा-प्रकारविषयक स्थिति इस प्रकार मिली है—

प्रतिशत आवृत्ति	प्रतिक्रियाप्रकार	मध्यक बुद्धिलब्धि	उद्वेगिक स्थिरता	मनोविक्षिप्ति प्रकार
४२.५	अदंडनात्मक	.५७	उच्चतम	मिरगी
२२.०	आत्मदंडनात्मक	.७३		आवृत्तिबाध्यता
३५.५	अन्यदंडनात्मक	.७५		संविभ्रम

बच्चों के गुणों में बालापराध के पूर्वलक्षण पहचानने की समस्या भी उठायी गयी है। सामान्यतः बालापराध के सभी संभव पूर्व लक्षण औद्वेगिक विकार के लक्षण हैं और औद्वेगिक विकार से अपराध की उत्पत्ति आवश्यक नहीं। फिर भी बालापराध का एक पूर्व लक्षण विशेषतया उपयोगी एवं विश्वासयोग्य माना गया है। वह है बच्चे का अपने विद्यालय से बारम्बार अकारण अनुपस्थित अथवा भागे हुए रहना। कुछ पूर्व लक्षणों से यह अनुमान करना भी संभव समझा गया है कि बच्चे का झुकाव किस प्रकार के अपराध की ओर होगा। उदाहरणार्थ, बारम्बार अनैच्छिक मूत्रस्राव एवं आग लगाने की प्रवृत्ति को पूर्व लक्षण समझा गया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से बालापराधियों के छः वर्ग पहचाने गये हैं —(१) क्षणिक बालापराधी, (२) विक्षिप्त बालापराधी, (३) चरित्र-विकारी बालापराधी, (४) अपराधी स्वभाव बालापराधी, (५) क्षिप्त बालापराधी तथा (६) मस्तिष्कार्तिक बालापराधी।

बाल-अपराध के उपचार के विषय में अभी तक प्राप्त निष्कर्ष बहुत आशापूर्ण नहीं हैं। एक सहस्र बालापराधियों के एक विख्यात अध्ययन में देखा गया है कि मनश्चिकित्सात्मक उपचार के पश्चात् भी उनमें से ८८ प्रतिशत ने फिर से अपराध किये। इनमें से प्रत्येक मध्यकरूपेण ३.६ बार फिर पकड़ा गया। पकड़े जाने वालों में से ७० प्रतिशत भीषण अपराधों के लिए दंडित हुए।

फिर भी, कुछ बालापराधोपचार विधियाँ भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा प्रतिपादित हुई हैं। कुछ विद्वान् परिवेश परिवर्तन के समर्थक हैं। उनका विचार है कि बालापराधी को अपने पुराने परिवेश से हटाकर नवीन, श्रेष्ठतम परिवेश में, यदि हो सके तो उसका पालन करने को प्रस्तुत किसी अन्य परिवार में, रख देना चाहिए। उनका कथन है कि किसी उपपरिवार में रखने से कुसंगति द्वारा उत्पन्न अपराधवृत्तियों में सुधार की अत्यन्त संभावना होती है। पुराने ही परिवेश में रहने से आधे या तीन चौथाई बालापराधी पुनः अपराध करने लगते हैं। बालापराधोपचार के लिए निरीक्षित सामूहिक मनोरंजन की व्यवस्था, पुरानी गंदी तथा तंग श्रमिक बस्तियों का निराकरण करके वासस्थिति-सुधार, व्यावसायिक अवसरों की वृद्धि एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण के उचित प्रबंध अन्य प्रस्ताव हैं। निर्धनता के निराकरण, पारिवारिक स्थितियों के सुधार, बाल-व्यक्तित्व समस्याओं के सुलझाव तथा पर्याप्त बालनिर्देशन से भी बालापराधोपचार के उद्देश्य की सिद्धि संभव समझी गयी है।

सैन्य-अपराध

विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष एवं युद्ध की प्रधानता के कारण सैन्य-अपराधों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन का महत्त्व बढ़ गया है। सैनिक जीवन के विशिष्ट अपराधों में छुट्टी बिना अनुपस्थिति की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। बिना छुट्टी अनुपस्थित हो जाने वाले सैन्य बंदियों में लगभग ६०% मुख्यतः मानसिक रोगग्रस्त पाये गये हैं। उनका मानसिक रोग प्रायः देहरचनात्मक अपराधवृत्ति अथवा अल्पबुद्धिता पाया गया है। शेष छुट्टी बिना अनुपस्थितों में वैवाहिक, व्यावसायिक अथवा सैन्य-विषमायोजन से संबंधित व्यवहार-विकार पाये गये हैं। परिवारखंडितता, निम्न जीवन-परिस्थितियाँ, शिक्षालयी, व्यावसायिक अथवा सैन्यनिकृष्टता, समाज नियम विरोधी वृत्तियाँ, मद्यपान एवं सैनिक-अधिकारी-संबंध-विकृतियाँ विशेषतया पायी गयी हैं। यह लोग अपने अपराधी व्यवहार का जो कारण बताते हैं वह उसका वास्तविक कारण नहीं होता। वास्तविक कारण वे स्वयं जानते भी नहीं। गारदीय दंड इस अपराध को रोकने के लिए पर्याप्त नहीं सिद्ध होता। अनुकूलक विधि द्वारा अच्छी मानसिक घनिष्ठता स्थापित कर लेने के बाद अन्त-

वार्ता विधि की सहायता से पता चला है कि छुट्टी बिना अनुपस्थित हो जाना, किसी समायोजन समस्या से पलायन का ढंग है । यह समायोजन समस्या प्रायः प्रबल गृहानुराग पर आधारित गृहमनोविक्षिप्ति होती है । यह सुझाव दिया गया है कि साहस बनाये रखने से यह पलायन वृत्ति कम हो सकती है ।

१३

न्याय-मनोविज्ञान

इस अध्याय का उद्देश्य पाठकों का ध्यान मनोविज्ञान के उन कल्याणकारी अनुप्रयोगों की ओर आकर्षित करना है जो न्याय निर्णय के क्षेत्र में हो रहे हैं अथवा हो सकते हैं और जिनके द्वारा धीरे-धीरे मनोविज्ञान की उस शाखा का निर्माण हो रहा है जिसे न्याय-मनोविज्ञान कहा जा सकता है।

न्याय-मनोविज्ञान का विकास-न्यायाधीशों, वकीलों और न्यायकार्य से सम्बन्धित अन्य व्यवसायियों के हितार्थ हुआ है। इसका उद्देश्य न्याय निर्णय में उपयोगी हो सकने वाले सभी मनोवैज्ञानिक तथ्यों का अन्वेषण है।

विकासकथा

पाश्चात्य संसार में न्याय मनोविज्ञान का प्रथम अस्पष्ट उदय धर्मप्रवर्तक ईसा के दण्ड विषयक इस वाक्य से हुआ कि "अपराधी पर पहला पत्थर वह मारे जो स्वयं निष्पाप हो।" परन्तु इसकी प्रथम स्पष्ट उत्पत्ति कदाचित् अठारहवीं शती के अन्त में फ्रांसीसी विचारक काबानी द्वारा उठाये गये इस प्रश्न से हुई कि फाँसी पर लटकाये गये व्यवित को कष्ट होता है कि नहीं। काबानी ने इस प्रश्न का यह उत्तर दिया कि फाँसी पर लटके हुए व्यक्ति की देह में केवल निम्न स्तर की यंत्रवत् होने वाली मेरुरज्ज्वीय सहज क्रियाएँ ही होती हैं, मस्तिष्क निष्क्रिय रहता है। इसलिए मानसिक प्रक्रिया नहीं हो सकती और कष्ट का अनुभव भी असम्भव होगा।

परन्तु काबानी की रुचि मुख्यतया अपराधी अथवा अपराध में नहीं, संवेदनाकेन्द्रित मनोविज्ञान को दैहिक आधार देने में थी। अपराधी के व्यक्तित्व में सर्वप्रथम नवपौराणिक सम्प्रदाय ने रुचि प्रदर्शित की। इस सम्प्रदाय ने यह कहा कि अपराधी को दण्ड अपने अपराध के अनुपात में तो मिलना ही चाहिए, उसकी व्यक्तित्व-रचना के अनुसार भी होना चाहिए, और अल्पायु, अल्पबुद्धि अथवा मनःक्षिप्त व्यक्तियों को तो देना ही नहीं चाहिए।

१८८० ई० में जर्मन मनश्चिकित्सक एमिल क्रेपेलिन ने मानवता के नाम पर दण्ड-प्रथा के उन्मूलन का प्रतिपादन करने वाली एक पुस्तिका प्रकाशित की जिससे बड़ी

हलचल मची। परिणामस्वरूप अपराधी के प्रति बदले की नीति के स्थान पर उसे सुधारने की नीति का स्थापन हो गया। साथ ही, बँधे हुए दण्ड के स्थान पर अपराधी को अनिश्चित दण्ड देने की धारणा बनी।

धीरे-धीरे न्यायालयों में मनोवैज्ञानिकों की सेवा का उपयोग भी आरम्भ हुआ। १९२४ में अमरीका में लियोपोल्ड तथा लोएब के मुकदमे में प्रतिरक्षा-वकील ने दोनों अभियुक्तों की मानसिक परीक्षा कई मनश्चिकित्सकों से करवायी। इससे मुकदमे के चेतन तथा अचेतन लैंगिक अंग प्रकाश में आये और न्यायाधीशों को प्रतिवाद के समझने में बहुत सहायता मिली। तब से न्यायालयों में मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञों का उपयोग बहुत धीरे-धीरे बढ़ रहा है।

समस्याएँ

उपर्युक्त प्रकार से विकसित न्याय-मनोविज्ञान में न्याय कार्य से सम्बन्धित नाना प्रकार की समस्याओं के विषय में मनोविज्ञान का अनुप्रयोग होता है। स्वाभाविक है कि इन समस्याओं का वर्गीकरण न्यायनिर्णय के मुख्य अंगों के अनुसार किया जाय। अतः यहाँ न्यायकार्य में मनोविज्ञान के अनुप्रयोग के क्षेत्रों का निरूपण ऐसे ही वर्गीकरण के आधार पर किया जायगा।

अभियोग

न्यायालयों में न्याय-कार्य अभियोग से आरम्भ हुआ करता है। कुछ मनोवैज्ञानिक प्रश्न अभियोग के विषय में ही उठते हैं। अभियोक्ताओं अर्थात् अभियोग लगाने वालों के उत्प्रेरणों को तथा उनकी मनोऽवस्थाओं को समझना आवश्यक है। क्योंकि कोई अभियोग केवल वास्तविक परिस्थिति अर्थात् अपराधघटना के विषय में निरपेक्ष वर्णन अर्थात् अर्थाभिव्यक्ति मात्र नहीं होता। अभियोग लगाना एक सामाजिक अन्तर्व्यक्तिगत व्यवहार होता है। न्याय की दृष्टि से इसकी यथार्थता ही नहीं इसके द्वारा उचित न्याय होने की संभावना और उसके अन्य सम्भव मनोवैज्ञानिक परिणामों की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त अभियोग के आकृतिक रूप का अभियुक्त पर क्या मानसिक प्रभाव पड़ता है यह भी मनोवैज्ञानिक खोज के योग्य प्रश्न है। एल० कर्शबाउमर ने एक संभ्रम-युक्त अन्तराबन्ध रोगी द्वारा उस पर लगाये गये 'पागलपन' के अभियोग पर एक पत्र में लिखी हुई प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण करते हुए दर्शाया है कि न्यायालयों में अभियुक्तों पर पागलपन अथवा उन्माद आदि शब्दों में अभियोग लगाना मानसिक हानि का उत्पादक होता है।

मिथ्या भाषण

मनोविज्ञान का न्यायक्षेत्र में दूसरा अनुप्रयोग इस प्रश्न के विषय में हो सकता है कि न्यायालय में अभियोक्ता अथवा अभियुक्त अथवा इनमें से किसी भी पक्ष का कोई साक्षी सत्य कह रहा है या जान-बूझकर सत्य को छिपाने अर्थात् न्यायाधिकारियों को धोखा देने के लिए झूठ बोल रहा है। न्यायनिर्णय में स्वयं अभियुक्त से पूछना कि वह दोषी है या नहीं, सर्वदा आवश्यक समझा जाता है। साथ ही, अपराध तथा उससे सम्बन्धित घटनाओं के स्थान पर उपस्थित व्यक्तियों के साक्ष्य को भी बहुत महत्त्व दिया गया है। परन्तु न्याय-कर्त्ता यह भी जानते हैं कि दोषी अभियुक्त तथा उनके पक्ष में साक्षी और कभी-कभी अभि-योक्ता भी, सत्य को छिपाने का प्रयत्न किया करते हैं। इसलिए जब भी अभियोग और प्रतिवाद दोनों द्वारा दिये गये घटना-वर्णनों में अन्तर हो, तब अभियुक्त के दोषी अथवा निर्दोष होने के विषय में निर्णय करने के लिए यह पता चलाना बहुत महत्त्वपूर्ण होता है कि दोनों में से किसी भी पक्ष के साक्षी कहाँ तक झूठ बोलते हैं अर्थात् वास्तविकता को छिपाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक समस्या मिथ्याभाषण की पहचान की समस्या है।

इस समस्या को सुलझाने के लिए कई उपयुक्त मनोवैज्ञानिक विधियों का निर्माण हो चुका है। इन सबका आधारभूत सिद्धान्त यह है कि साक्षीरूप में झूठ बोलने वाला अपराधकर्त्ता अथवा उसके पक्ष का कोई भी व्यक्ति, उसके अपराध को छिपाने का अर्थात् न्यायाधिकारियों को धोखा देने का प्रयत्न किया ही करता है। परन्तु झूठ बोलने, अपराध को छिपाने अथवा धोखा देने के प्रयत्न में सदा ही व्यक्ति में औद्वेगिक उथल-पुथल अथवा अशान्ति हुआ करती है। इससे उसमें कुछ न कुछ बाह्य, तथ्यात्मक, व्यावहारिक, शारी-रिक अथवा भाषात्मक असामान्यता अथवा विकृति अवश्य उत्पन्न हो जाती है। इसके सहारे उसके झूठ अथवा धोखे का अनुमान किया जा सकता है। विस्तृत आंतरिक शारीरिक गति भी इतनी बढ़ जाती है कि इसका मापन तक किया जा सकता है। सम्भव है कि पेशीप्रेक्षण, नेत्रगति प्रेक्षण और मुखाकृति प्रेक्षण से भी धोखे को पहचानने और माप लेने में उपयोगी संकेत मिल सकें।

इस आधारभूत सिद्धान्त के अनुसार, अपराध की खोज लगाने में धोखे को पहचानने के लिए अथवा अपराध सम्बन्धी घटनाओं के बारे में किसी के कथनों की सत्यता की खोज के लिए, जो अनेक विधियाँ विकसित हुई हैं, उनमें से सर्वाधिक उपयोग निम्नलिखित चार विधियों का हुआ है—

(१) मुक्त शब्द-साहचर्य-प्रतिक्रिया परीक्षण
(२) प्रश्वास-निश्वास अनुपात परीक्षण

(३) रक्त-प्रवाह में परिवर्तनों का अर्थात् रुधिर-दाब-परीक्षण

(४) अनैच्छिक गतियों की परीक्षा, जिसमें प्रमुख स्थान मनोविद्युन्मापी प्रतिक्रिया-परीक्षण का है।

धोखे अथवा मिथ्याभाषण के देहक्रियात्मक लक्षणों के मापन के लिए कई प्रकार के यंत्रों का निर्माण किया गया है, जिनको झूठपरिज्ञापक कहा जाता है। झूठपरिज्ञापक के रूप में ऐसे कई प्रकार के यंत्रों का उपयोग हुआ है जिनमें से कुछ यह हैं—

(१) हृद्-मापी

(२) श्वास-मापी

(३) रुधिर-दाब-मापी

(४) प्रतिक्रियाकाल-मापी

(५) विद्युत्तरंगशक्ति-मापी

इन सब यंत्रों में से कुछ को एक में मिलाकर बहु-अंग-लेखी यंत्र भी बने हैं और इनका बड़े विस्तृत रूप से उपयोग किया गया है।

मुक्त शब्द-साहचर्य प्रतिक्रिया-परीक्षण

झूठ अथवा धोखे को पहचानने के उपयुक्त सब साधनों में से मुक्त शब्द-प्रतिक्रिया परीक्षण का सर्वप्रथम विकास हुआ है। इसमें वक्ता के सामने कुछ शब्द एक-एक करके उत्तेजना-स्वरूप बोले जाते हैं और उसे यह आदेश होता है कि वह जितनी शीघ्रता से हो सके प्रत्येक शब्द रूपी उत्तेजना की प्रतिक्रिया मन में सर्वप्रथम आने वाले शब्द से करे। उत्तेजना-शब्दों में दो प्रकार के शब्द होते हैं—

(१) अपराध से सम्बन्धित निर्धारक शब्द,

(२) अपराध से सर्वथा असम्बन्धित नियंत्रक शब्द।

जिस समय वक्ता इनके उत्तर में प्रतिक्रिया करता है उसी समय शब्द-सूची और प्रतिक्रिया कालमापी यंत्र अथवा रोक घड़ी की सहायता से प्रत्येक उत्तेजना शब्द का प्रतिक्रियाकाल एक सेकेंड के सहस्रवें अथवा अन्य सुविधाजनक अंशों में माप लिया जाता है और साथ ही यह भी लिख लिया जाता है कि उसका प्रतिक्रियाशब्द क्या है। मान्यता यह है कि यदि वक्ता वास्तव में अपराधी है तो निर्धारक शब्दों का प्रतिक्रियाकाल नियंत्रक शब्दों के प्रतिक्रिया काल से बहुत भिन्न होगा। अपराध-सम्बन्धी उत्तेजनाओं की स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं का अवरोध होगा, प्रतिक्रिया काल बढ़ेगा, एवं अस्वाभाविक अथवा किसी एक ही ढाँचे में बँधी प्रतिक्रियाएँ होंगी। अतः अपराध-सम्बन्धी अर्थात् निर्धारक तथा अन्य अर्थात् नियंत्रक शब्दों का प्रतिक्रिया काल अलग-अलग ज्ञात करके इन दोनों के परस्पर तुलनात्मक विश्लेषण से यह अनुमान लगाया जाता है कि शाब्दिक

प्रतिक्रिया में कितनी मात्रा में विकृति आयी। प्रतिक्रिया शब्दों के अध्ययन से यह अनुमान लगाया जाता है कि व्यक्ति अपनी किन-किन बातों के ज्ञान को छिपा रहा है और उसे किन बातों का ऐसा ज्ञान है जो यदि वह निर्दोष होता तो उसे न होना चाहिए था।

इस विधि के उपयोग में कठिनाई यह पड़ती है कि किसी भी अपराध के समाचार अधिक प्रसारित हो जाया करते हैं और पर्याप्त संख्या में ऐसे अपराध संबंधी उत्तेजना-शब्दों का मिलना कठिन हो जाता है, जिनकी प्रतिक्रियाएँ केवल अपराधी व्यक्ति में ही विकृत हों और अन्य व्यक्तियों में न हों। यह भी देखा गया है कि संज्ञाएँ तथा विशेषण प्रतिक्रियाकाल के मापन में कुछ स्थिर त्रुटि उत्पन्न करते हैं। यह भी प्रश्न उठा है कि इस परीक्षण में दृश्य उत्तेजनाशब्दों का उपयोग अधिक उपयुक्त है या श्रव्य उत्तेजना शब्दों का। इनकी कुछ तुलनात्मक खोज की भी गयी है।

मुक्त शब्द-साहचर्य प्रतिक्रिया परीक्षण-विधि में शाब्दिक प्रतिक्रिया के साथ-साथ साक्षी से हस्त-प्रतिक्रिया कराने का सुझाव भी दिया गया है। विधि के इस रूप में साक्षी प्रतिक्रिया शब्द कहने के साथ ही, अपनी उँगली से एक बटन दबाता है। उसकी उँगली इस बटन से बँधी हुई होती है। इसका परिणाम यह होता है कि उसकी उँगली की प्रत्येक स्थिति और गति का लेखा बहु-अंगी लेखाचित्र पर आ जाता है। यदि संभव होता है तो उसी समय एक और बटन उसके प्रतिक्रियाशब्द बोलने का लेखा भी कर लेता है। इससे यह पता चल जाता है कि वह व्यक्ति कहाँ तक अपनी शाब्दिक तथा हस्त-प्रतिक्रिया को एक साथ एक ही क्षण कर लेता है। इन प्रदत्तों का मुख्यतः प्रकारात्मक विवेचन किया जाता है।

मनोविद्युत्-मापी प्रतिकिया परीक्षण

यह व्यक्ति की विद्युत्तरंग के प्रतिरोध की परीक्षा होती है। प्रतिरोध-प्रतिक्रिया एक मापदंड पर किसी चलते हुए प्रकाश-विन्दु द्वारा व्यक्त हुआ करती है। व्यक्ति को एक हलकी विद्युत्तरंग के परिपथ में ले लिया जाता है। मनुष्य-शरीर कुछ परि-स्थितियों में विद्युत्तरंग का अधिक आसानी से चालन करता है और कुछ परिस्थितियों में कम आसानी से। विद्युत्तरंग शरीर के अतिरिक्त एक विद्युत्-मापी में से भी निकलती है। इस विद्युत्-मापी की सुई से एक दर्पण लगा रहता है। विद्युत्तरंग में परिवर्त्तन के साथ यह दर्पण डोलता है। जब व्यक्ति का प्रतिरोध कम हो जाता है, तरंग अधिक प्रबल होती है और दर्पण का अधिक दोलन होता है। इस प्रकार प्रतिरोध-मात्रा प्रकाश-बिन्दु के विचलन से ज्ञात हो जाती है। प्रतिरोध-मात्रा में परिवर्तन थकान, विषाद, अवधान-परिवर्तनों तथा कायिकी-परिवर्तनों से भी हो सकते हैं, और कुछ उद्वेगों के कारण भी।

इसलिए विशेष अर्थ अथवा महत्त्व वाले शब्दश्रवण अथवा शब्दोच्चारण पर व्यक्ति के शरीर के विद्युत्तरंग-प्रतिरोध में ऐसे परिवर्तन हो जायँगे जिन पर स्वयं उसका कोई नियंत्रण न होगा। अतः अपराध की पहचान के लिए मनोविद्युत्मापी के प्रयोग में यह देखा जाता है कि त्वचा के विद्युत्तरंग-प्रतिरोध में अपराध-सम्बन्धी बातचीत के समय क्या परिवर्तन होते हैं। यह परीक्षण विशेषतया हाथ की त्वचा पर किया जाता है, क्योंकि हाथ में उद्वेगोत्पन्न पसीने से विद्युत्तरंगप्रतिरोध कम हो जाने की सम्भावना होती है। प्रयोगशालाओं में सभी प्रकार की औद्वेगिक परिस्थितियों में त्वचा में विद्युत्तरंग के परिवर्त्तन देखे गये हैं और इनका रेखा-चित्र बनाना भी सम्भव हुआ है। किसी व्यक्ति के चौंक जाने और घबरा जाने से उसकी त्वचा में विद्युत्-गति का विचलन पाया गया है। इसलिए इस प्रकार के विचलन को प्रकट करने वाले यंत्र बनाये गये हैं। इनके उपयोग में नियंत्रक प्रश्नों पर होने वाला प्रसामान्य विचलन ज्ञात कर लिया जाता है और तब निर्धारक प्रश्नों पर उससे अधिक विचलन का होना झूठ बोलने का चिह्न माना जाता है।

झूठ पकड़ने में मनोविद्युत्तरंग प्रतिरोध-परीक्षण उपयोगी सिद्ध हुआ है और अपराध की खोज में इसका व्यवहार भी हुआ है। परन्तु इस परीक्षण के फलों का अर्थ कुछ संदिग्ध हुआ करता है। इसका कारण यह है कि विद्युत्तरंग-प्रतिरोध में परिवर्तन औद्वेगिक विकार से ही नहीं, मानव व्यक्तियों में पेशीय गति अथवा चेतन विचारक्रिया के परिणाम-स्वरूप भी होते देखे गये हैं। इसलिए उपर्युक्त चारों प्रमुख झूठ-पकड़ाऊ विधियों में यह परीक्षण सबसे कम उपयोगी माना गया है।

इसके अतिरिक्त विद्युत्-प्रतिरोध-परीक्षण की अपेक्षा रुधिर-दाब-परीक्षण अपेक्षाकृत अधिक सफल पाया गया है। डैरो नामक एक अनुसंधानकर्त्ता ने इन दोनों विधियों का एक साथ प्रयोग करके देखा है कि चौंकने जैसे संवेदनोत्पन्न उद्वेगों में तो विद्युत्-प्रतिरोध-परीक्षण अधिक काम देता है, परन्तु धोखाधड़ी के विचारोत्पन्न उद्वेग में रुधिर-दाब-परीक्षण ही अधिक स्थितिग्राहक सिद्ध होता है। अमरीका के नॉर्थवेस्टर्न विश्वविद्यालय में किये गये प्रयोगों में भी रुधिर-दाब परीक्षण का पल्ला ही भारी रहा है।

रुधिर-दाब-परीक्षण

यह परीक्षण इस अनुभवगत तथ्य पर आधारित होता है कि झूठ बोलने अर्थात् धोखा देने में प्रकुञ्चक रुधिर-दाब में परिवर्तन देखे गये हैं। व्यावहारिक दृष्टि से अपराध-सम्बन्धी झूठ अथवा धोखा पकड़ने के लिए कदाचित् यह सर्वोपयोगी विधि है। इससे सच और झूठ सबसे अधिक सफलतापूर्वक अलग किया जा सकता है। इस परीक्षण में रबड़ की एक चौड़ी नली व्यक्ति की भजा के ऊपरी भाग में लपेटकर उसमें फूक भर दी जाती

है, जिससे रुधिर का बहना रुक जाय। अब फूँक का दबाव धीरे-धीरे तब तक घटाया जाता है जब तक कि कलाई पर नाड़ी-स्पन्द का पता न चले। नाड़ी-स्पंद के प्रथम प्राकट्य पर, यंत्र द्वारा रुधिरदाब का माप पढ़ लिया जाता है। यह रबड़ की नली के अन्दर की हवा का वह दाब है जिस पर धमनियों के अन्दर का वायुदाब विजय प्राप्त करके ज्ञात होने लगता है। सत्य बोलते समय और झूठ बोलते समय के रुधिर-दाब-मापों में महत्त्वपूर्ण अन्तर पाये जाते हैं। इसलिए अपराध खोज के लिए पुलिस के विभागों में इस विधि का सर्वाधिक उपयोग हुआ है। इस परीक्षण से प्राप्त फलों को न्यायालयों ने भी मान्यता प्रदान की है।

रुधिर-दाब-मापी में दाब कम रखकर बहुअंग-लेखी के ऊपर सतत लेखाचित्र भी प्राप्त किया जा सकता है। जब झूठ-पकड़ की इस विधि का गम्भीर प्रयोग १९१४ में अमेरिकन मनोवैज्ञानिक मुन्स्टरबर्ग की प्रयोगशाला में मार्स्टन द्वारा आरम्भ किया गया था, तब व्यक्ति से प्रश्न करते समय, चिकित्सकों में प्रचलित ढंग का अनुसरण करते हुए, प्रत्येक एक या दो मिनट के उपरान्त उसका रुधिरदाब मापा जाता था। इस प्रकार एक खंडित लेखाचित्र बन जाता था। जब इसमें सफलता प्राप्ति से कुछ प्रोत्साहन मिला, तो बीच की औद्वेगिक अवस्थाओं को भी ज्ञात कर लेने की दृष्टि से सतत लेखाचित्र प्राप्त करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। सतत लेखाचित्र सम्भव करने के लिए भुजा पर लिपटी नली में फूँक के दबाव की साधारण मात्रा भरकर उसे बाह्य वायुदाब के स्तर पर ले आने का प्रबन्ध किया गया। इस उपकरण को ठीक से चालू रखने में और विशेषतया कुछ देर तक लम्बा लेखाचित्र प्राप्त करने में कठिनाई तथा असुविधा अवश्य होती है। फिर भी अमेरिका के कैलीफोर्निया राज्य के बर्कले नगर की पुलिस-प्रयोगशाला में लार्सन नामक खोजकर्त्ता ने ऐसे ही उपकरण से काम लेकर रुधिरदाब-लेखाचित्रों से धोखे का पता लगाया है।

धीरे-धीरे इस परीक्षण की विधि में एक और सुधार हुआ है। रबड़ के बेलनों के स्थान पर धातु की धौंकनियों से काम लिया जाने लगा है। साथ ही घूमते हुए कागज के फीते पर वायुदाब-लेखी रोशनाई युक्त लेखनियों का प्रयोग होने लगा है। धौंकनी को भुजा पर लिपटी नली के अन्दर के हलके दाब-परिवर्तनों के प्रति इतना ग्रहणशील बनाया जाता है कि उससे वायुदाब के स्तर की धातु की एक और धौंकनी चल सके और लेखाचित्र बना सके। इस सुधार के पश्चात् रुधिरदाब-परीक्षण विधि बहुस्वीकृत हुई है। कालर जैसे कुछ विद्वान् जो पहले इस विधि को विशेष महत्त्व नहीं देते थे, इस सुधार के पश्चात् इसे काम में लाने लगे हैं। अमेरिका के नॉर्थवेस्टर्न विश्वविद्यालय की अपराध-खोज प्रयोग-शाला में इसका प्रयोग होने लगा है और बहुत-सी विधिप्रवर्तक संस्थाओं में इस प्रकार की

विधियों में प्रशिक्षणप्राप्त व्यक्तियों को नियुक्ति मिल रही है। कुछ व्यापारिक संस्थाओं ने इस विधि के उपयोग में प्रशिक्षण के लिए प्रामाणिक ग्रन्थ तैयार कराये हैं ।

यंत्र सुधार के साथ-साथ प्रश्नविधियों का मानकीकरण भी हुआ है । अब केवल ऐसे नियंत्रक प्रश्न किये जाते हैं जिनके विषय में निश्चित होता है कि साक्षी सत्य उत्तर ही देगा । साथ में निर्धारक प्रश्न तो किये ही जाते हैं, पर ऐसे भी प्रश्न किये जाते हैं जो निरुपाधिक हों और जिनके उत्तर में साक्षी को कम से कम बोलना पड़े ।

रुधिर-दाब-लेखे की विवृत्ति अर्थात् अर्थव्याख्या भी मानकीकृत हो गयी है । प्रत्येक प्रश्न पर रुधिर-दाब थोड़ा-सा बढ़ता है और कुछ क्षणों के पश्चात् फिर घट जाता है । परन्तु जब प्रतिकर्त्ता धोखा देने का प्रयत्न करता है अर्थात् झूठ बोलता है, तो रुधिर-दाब की वृद्धि कुछ अधिक मात्रा में कुछ अधिक देर तक रहती है । कभी-कभी विवृति में तनाव-शिखर-परीक्षण का उपयोग किया जाता है । अभियुक्त अथवा उसके साक्षी के समक्ष कई वस्तुओं की एक शृंखला उपस्थापित की जाती है । उनमें से एक वस्तु अपराध से विशेषतया सम्बन्धित होती है । परीक्षक उससे एक-एक करके प्रत्येक वस्तु के विषय में कुछ प्रश्न करता है । यदि प्रतिकर्त्ता अथवा अभियुक्त वास्तव में दोषी है तो जब अपराध सम्बन्धित वस्तु की बारी आने वाली होती है उसके अथवा उसके साक्षी का मानसिक तनाव बढ़ने लगता है और तब तक बढ़ा हुआ रहता है जब तक निर्धारक वस्तु निकल नहीं चुकती ।

मिथ्या भाषण की पहचान करने में रुधिर-दाब-परीक्षण के साथ सदैव ही श्वसन-परीक्षण भी अवश्य किया जाता है। वह यों है—

प्रश्वास-निश्वास अनुपात-परीक्षण

पूरक-रेचक अर्थात् प्रश्वास-निश्वास-अनुपात-परीक्षण का सिद्धान्त यह है कि झूठ बोलने से पहले व्यक्ति में पूरक काल और रेचक काल का अनुपात स्वाभाविक अनुपात से कम हो जाता है और झूठ बोलने के पश्चात् बढ़ जाता है । पूरक तथा रेचक का मापन श्वास-मापी यंत्र तथा धूम्रलेखी यंत्र की सहायता से किया जाता है । श्वासमापी यंत्र व्यक्ति के वक्ष में बाँध दिया जाता है, जिससे हृदय तथा फेफड़ों की प्रत्येक गति का एक बेलन पर घूमते हुए धूम्रपत्र पर चिह्न अंकित हो जाता है । साथ ही धूम्रपत्र पर समय की इकाइयाँ भी अंकित होती जाती हैं । इस प्रकार श्वसन परिवर्तनों का लेखाचित्र बन जाता है । द्रुत श्वसन में श्वास-चिह्न पास-पास बनते हैं और गहरे श्वासों के चिह्न ऊपर से नीचे तक अधिक लम्बे होते हैं । इस यंत्र को व्यक्ति पर लगाकर उससे कोई उपयुक्त प्रश्न पूछा जाता है और उसे आदेश होता है कि कुछ क्षण रुककर प्रश्न का उत्तर दे । इस आदेश का

उद्देश्य यह होता है कि प्रश्न का औद्वेगिक प्रभाव व्यक्ति पर अच्छी तरह हो सके और परीक्षण में स्पष्टतया प्रकट हो जाय । प्रश्न के पूर्व तथा प्रश्न के उपरान्त श्वासों के प्रश्वास-निश्वास का लेखा-चित्र तैयार करके कई नाप लिये जाते हैं और कई प्रकार की गणना करनी होती है जिससे पूरक-रेचक अनुपात ज्ञात हो जाता है । विवृति प्रायः प्रकारात्मक होती है । कभी-कभी निर्धारक प्रश्न के पश्चात् उत्तर में झूठ बोलते समय श्वसन तत्काल रुक जाता है । कभी श्वसन की गहराई बढ़ जाती है और कुम्भक काल पन्द्रह बीस सेकण्ड का हो जाता है।

नाड़ी-गति-परीक्षण

नाड़ी-गति-परीक्षण यंत्र कलाई पर बाँध दिया जाता है । नाड़ी के प्रत्येक स्पंदन से यंत्र में लगा हुआ एक सुग्राही उत्तोलक हिलता है और उससे एक बेलन पर लगाये गये धूम्र-पत्र पर चिह्न छोड़ने वाली लेखनी हिलने लगती है । साथ ही एक ओर लेखनी धूम्रपत्र पर प्रत्येक सेकण्ड अथवा अन्य समय की इकाई के चिह्न लगाती चलती है । इस प्रकार व्यक्ति की नाड़ी-गति का लेखाचित्र प्राप्त हो जाता है ।

बहु-अंग-लेखी यंत्र

मिथ्या भाषण की पहचान द्वारा दोष खोज के लिए बहु-अंगलेखी यंत्र बनाने की दिशा में प्रथम प्रयास १९२१ ई० में उपर्युक्त पुलिस अधिकारी जौन ए० लार्सन का था । उसने बेनुसी एवं मास्टर्न के प्रयोगों के आधार पर एक मिथ्याखोजी यंत्र का निर्माण किया था । इस यंत्र में नाड़ीगति, रुधिर-दाब तथा श्वसन-परिवर्त्तनों का अभिलेख बन जाता था । कुछ वर्ष पश्चात् नौर्थवेस्टर्न विश्वविद्यालय के लेओनार्ड कीलर ने लार्सन की दोष खोज विधि में सुधार किया और एक नया यंत्र बनाया जिसे उसने पौलीग्राफ अर्थात् बहु-अंगलेखी कहा । इसमें रुधिरदाब, श्वसन एवं मनोविद्युत्त्वक्प्रतिक्रिया के परिवर्तनों का अभिलेख बन जाता था । यह यंत्र बहुत से वैध मामलों में दोष की खोज में सहायक सिद्ध हुआ है । परन्तु इसका उपयोग केवल किसी विशेषज्ञ द्वारा, किसी पूर्णतया शान्त स्थान पर ही हो सकता है । जिस व्यक्ति के कथनों की सत्यता की परीक्षा करनी होती है उससे कहा जाता है कि यंत्र के प्रयोग से पता चल जायगा कि वह प्रश्नों के उत्तर सचाई से दे रहा है अथवा नहीं । उसे यह भी विश्वास दिलाया जाता है कि यदि वह सत्य कह देता है तो उसके लिए डरने की कोई बात नहीं है । यह बताने से निर्दोष व्यक्ति में मानसिक तनाव घटता है तथा दोषी अथवा मिथ्यावादी व्यक्ति में तनाव बढ़ता है । इस प्रकार मिथ्या भाषण तथा दोष की पहचान सरल हो जाती है। यंत्र के उपयोग का उद्देश्य इस प्रकार बता देने के पश्चात्, व्यक्ति से आरम्भ में कुछ निरुपयोगी प्रश्न पूछे जाते हैं—जैसे, क्या आपका अमुक नाम

है ? क्या आप सबेरे चाय पीते हैं ? धीरे-धीरे इन प्रश्नों के बीच-बीच अपराध के विषय में महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछ लिये जाते हैं—जैसे, क्या आपने अमुक को गोली मारी ? आपको पता है कि उसे किसने गोली मारी ? अधिकांश यही होता है कि इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के पूछे जाने पर निर्दोष व्यक्तियों एवं सत्य बोलने वालों की अपेक्षा दोषी एवं मिथ्यावादी व्यक्तियों में घबड़ाहट अधिक होती है। इस प्रकार भेद खुल जाता है। यों भेद खुल जाने पर प्रायः दोषी अथवा मिथ्यावादी व्यक्ति अपने दोष अथवा मिथ्याभाषण को स्पष्ट-तया स्वीकार भी कर लेता है। निर्दोष व्यक्ति प्रसन्नता से यह परीक्षा देते हैं, क्योंकि उन्हें भरोसा होता है कि इससे उनकी निर्दोषिता सिद्ध हो जायगी। कीलर ने विश्वास प्रकट किया है कि यह परीक्षण ८० प्रतिशत ठीक उतरता है।

परन्तु बहुअंगलेखी विधि कभी-कभी असफल भी हो जाती है। इसका कारण. यह है कि निर्दोष व्यक्ति भी अपराध विषयक प्रश्नों से घबड़ा सकते हैं। इस संभावना को ध्यान में रखकर बहुअंगलेखी के उपयोग के साथ-साथ उपर्युक्त तनाव शिखर-परीक्षण कर लेने का सुझाव दिया गया है। यह परीक्षण निम्न प्रकार किया जाता है। जिस मार्ग पर अपराध हुआ हो, उस मार्ग के नाम को कुछ अन्य मार्गों के नामों के साथ मिलाकर मार्गनामों की एक सूची बना ली जाती है। ऐसे ही जिस समय पर अपराध हुआ है, उसे अन्य समयों के बीच रखकर एक समय-सूची बनायी जाती है। इसी प्रकार अपराध से सम्बन्धित अन्य विषयों को अपने सजातीय शब्दों के साथ मिला दिया जाता है। अब प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जिस पर संदेह हो यह बता दिया जाता है कि उससे इन मार्गों, समयों आदि पर हुए अपराधों के बारे में पूछा जायगा। वह प्रत्येक बार अपराध के विषय में कुछ भी जानना अस्वीकार करेगा, परन्तु जब खोजाधीन अपराध से सम्बन्धित कोई शब्द आयेगा, तब दोषी व्यक्ति का रुधिरदाब बढ़ जायगा और उसकी श्वसन-गति कम हो जायगी। यदि कई परीक्षित व्यक्तियों में से केवल एक ही व्यक्ति प्रत्येक शब्द-सूची के खोजाधीन अपराध-सम्बन्धी शब्द सुनकर तनावशिखर पर पहुँचता है तो स्पष्ट हो जाता है कि वही वास्तव में दोषी है और उस अपराध के विषय में कुछ भी जानना अस्वीकार करने में झूठ बोल रहा था।

बहुअंगलेखी का उपयोग बड़े विस्तृत रूप से हुआ है। अमेरिका में पिछले २५ वर्षों में इससे २००,००० से अधिक व्यक्तियों की परीक्षा की जा चुकी है और लगभग १०० पुलिसविभाग तथा संघ-सरकार के कई विभाग इसका उपयोग कर रहे हैं। वहाँ के अणुशक्ति-आयोग की कई संस्थाओं में जहाँ गोपनीयता बहुत आवश्यक है, विशेष कर्मचारियों की समय-समय पर बहुअंगलेखी द्वारा परीक्षा की जाती है। सैनिक टुकड़ियों में बंदियों से प्रश्न करते समय इसका व्यवहार किया जाता है। धन-सम्बन्धी

कार्यालय अपने कर्मचारी नियुक्त करने में इसका प्रयोग यह देखने के लिए करते हैं कि किसी नियुक्त प्रार्थी को धन सुपुर्द करने में हानि की कितनी सम्भावना है।

न्यायालयों में बहुअंगलेखी मिथ्याभाषण-खोजी यंत्र के प्रयोग पर आधारित निष्कर्षों का साक्ष्यरूप में तीन प्रकार से उपयोग किया जाता है। प्रथम सम्भावना यह है कि कोई अभियुक्त किसी बहुअंगलेखी विशेषज्ञ से अपनी परीक्षा कराये और यदि परीक्षण-फल उसके निर्दोष होने के पक्ष में हो तो उसका वकील बहुअंगलेखी विशेषज्ञ को यह परीक्षणफल साक्ष्यरूप में न्यायालय में न्यायाधीशों के समक्ष रखने के लिए मना ले। न्यायाधीशों को इस प्रकार के साक्ष्य को स्वीकार करने में यह आपत्ति होना स्वाभाविक है कि विशेषज्ञ प्रतिवादी द्वारा बुलाये जाने और उसकी ओर से शुल्क प्राप्त होने के कारण विश्वास योग्य नहीं होगा।

द्वितीय सम्भावना यह है कि दोनों पक्षों के वकील पहले इस बात पर सहमत हो जायें कि प्रतिवादियों की किसी उपयुक्त प्रयोगशाला में बहुअंगलेखी परीक्षा हो जाय। वे एक दूसरे को यह भी वचन दें कि उनमें से कोई परीक्षक विशेषज्ञ के साक्ष्य की स्वीकार्यता के विषय में कोई आपत्ति न करेगा। तब विशेषज्ञ का साक्ष्य अन्य साक्ष्यों के साथ न्यायकर्ताओं के समक्ष पहुँचे। ऐसी परिस्थिति में विशेषज्ञ का शुल्क आधा अभियोजन पक्ष की ओर से तथा आधा प्रतिवादी पक्ष की ओर से दिया जाता है।

तृतीय सम्भावना यह है कि न्यायाधीश स्वयं इस बात को उपयुक्त समझ कर यह निर्णय करे कि साक्षियों की झूठ-पकड़-परीक्षा हो जाय और विशेषज्ञ परीक्षक भी न्यायाधीश स्वयं ही चुने। इस परिस्थिति में भी विशेषज्ञ का शुल्क दोनों पक्षों की ओर से आधा-आधा दिलाया जा सकता है।

बहुअंगलेखी के उपर्युक्त तीनों प्रकार के उपयोग में से प्रत्येक से यह लाभ है कि मुकदमे में बुलाये गये सब साक्षियों में से कुछ ऐसे साक्षी चुने जा सकेंगे, जिनके साक्ष्य पर कुछ अधिक भरोसा किया जा सके। यदि अभियुक्त कई हों तो उनमें से भी एक अभियुक्त ऐसा चुना जा सकता है, जिसके दोषी होने की सबसे अधिक सम्भावना है और तब उसके दोष की खोज पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है।

मिथ्या भाषण पहचानने के उपर्युक्त यंत्रों की उपयोगिता की कुछ सीमाएँ भी हैं। इनसे कुछ विशेष प्रकार के व्यक्तियों की परीक्षा नहीं हो सकती। अल्प बुद्धियों, अपराध-वृत्ति व्यक्तियों एवं असाधारण दैहिक प्रक्रियाओं वाले व्यक्तियों के परीक्षण में यह काम नहीं देते। परन्तु इन वर्गों के अपराधियों की पहचान आसानी से हो जाती है और इनकी मिथ्या-परिज्ञापक परीक्षा की आवश्यकता ही नहीं होती।

कभी-कभी मिथ्या-परिज्ञापक यंत्रों के उपयोग से प्राप्त परीक्षण फल इतने अस्पष्ट

होते हैं कि उनसे कोई असंदिग्ध निष्कर्ष नहीं निकल पाते। ऐसी अवस्था में न्यायाधिकारियों को दोष-निर्णय के लिए किसी अन्य प्रकार के आधारों का आश्रय लेना ही पड़ेगा।

मिथ्या-परिज्ञापकों की उपयोगिता की एक सीमा यह भी है कि इन यंत्रों के प्रयोग में बड़े कौशल की आवश्यकता होती है और यह कौशल पर्याप्त प्रशिक्षा द्वारा बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुआ करता है। इन यंत्रों के चालकों के अकौशल से त्रुटिपूर्ण अनुमानों पर पहुँचने की संभावना रहती है।

कभी-कभी यह भी हो सकता है कि परीक्षक यंत्र के प्रयोग में तो पर्याप्त मात्रा में कौशलप्राप्त हो, परन्तु उसके मन में वास्तविक स्थिति ज्ञात करने की अपेक्षा किसी प्रकार अभियुक्त से अपराध-स्वीकृति प्राप्त करने में अधिक रुचि हो। ऐसी परिस्थिति में भी परीक्षण-फल संदिग्धार्थ हो जाते हैं। इस प्रकार की त्रुटि-वृत्ति सामान्य वैज्ञानिक प्रशिक्षण द्वारा कम की जा सकती है।

साक्षियों के प्रेक्षण-वर्णनों में त्रुटि-संभावना

न्यायालयों में दिये गये साक्ष्य मिथ्याभाषण के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी अविश्वास योग्य हो सकते हैं। कोई सत्यवादी गवाह भी प्रेक्षण अथवा स्मरण में त्रुटि के कारण गलत साक्ष्य दे सकता है। इसलिए न्याय-निर्णायकों के लिए यह जान लेना बहुत आवश्यक है कि गवाही में किस-किस प्रकार की अनचाही त्रुटियाँ हो सकती हैं।

गवाह के किसी भी प्रत्यक्षानुभव की यथार्थता इस बात पर निर्भर होती है कि उसका वह प्रत्यक्षानुभव किस पार्श्व में हुआ था। तारे दिन में आकाश में से कहीं चले नहीं जाते और न ही उनकी चमक कम या लुप्त हो जाती है। सूर्य से आनेवाला प्रकाश उनकी चमक के साथ मिल जाने से बढ़ता ही होगा। परन्तु सूर्य के बहुत ही तीव्रतर प्रकाश के पार्श्व में उनका प्रकाश प्रत्यक्षानुभव में नहीं आता। रात में उस पार्श्वी प्रकाश की अनुपस्थिति में वे दृष्टिगोचर होने लगते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने इस नियम का पता लगाया है कि किसी भी संवेदना की तीव्रता में वृद्धि का अनुभव तभी होता है जब वह किसी विशेष मात्रा में नहीं, किसी विशेष अनुपात में बढ़े। किसी शब्द की तीव्रता में वृद्धि तभी प्रत्यक्षानुभव में आयेगी, जब उसकी तीव्रता में कम-से-कम एक तिहाई वृद्धि होगी। ऐसे ही प्रकाश की तीव्रता में वृद्धि तभी प्रत्यक्षानुभव में आयेगी जब उसकी तीव्रता में कम से कम एक प्रतिशत वृद्धि होगी। अर्थात् किसी भी वस्तु अथवा घटना का प्रत्यक्षानुभव में आना तभी संभव होगा, जब उसकी तीव्रता पार्श्व की तीव्रता से कम-से-कम किसी ज्ञात अनुपात में अधिक हो। इस नियम को ध्यान में रखकर ही सुप्रकाशित नगरपथों पर और देहात के अप्रकाशित या अर्द्धप्रकाशित मार्गों पर गाड़ियों के दीपों की दृश्यता के

सम्बन्ध में दी जानेवाली गवाहियों का मूल्यांकन किया जा सकता है। किसी पार्क के किसी शान्त कोने में या किसी भीड़वाले रेल के प्लेटफार्म पर सुनी जानेवाली वार्ताओं के सम्बन्ध में दी जानेवाली गवाहियों के बारे में भी यही बात है।

साक्ष्य की यथार्थता इस बात पर भी निर्भर होगी कि गवाह को निकट दृष्टि का नेत्र-रोग तो नहीं है। निकट दृष्टि के नेत्ररोग वालों को दूर की वस्तुएँ स्पष्ट नहीं दीखतीं। इसलिए उनका दूर की वस्तुओं के बारे में दिया गया बयान बहुत कुछ अयथार्थ हो सकता है। निकट दृष्टि के नेत्ररोगी उनकी ऐनकों के शीशों की मोटाई से पहचाने जा सकते हैं।

ऐसे ही गवाही की विश्वस्तता इस बात पर भी निर्भर रहती है कि बयान में वर्णन की हुई वस्तुएँ गवाह से कितनी दूरी पर थीं और प्रकाश कितना और कैसा था। कोई परिचित व्यक्ति भी अच्छी रोशनी में चालीस-पचास गज से अधिक दूरी पर पहचाना नहीं जा सकता। हाँ, यदि उसे किसी विचित्र चाल-ढाल से पहचानना हो तो कुछ और दूरी तक पहचाना जा सकता है। परन्तु चमकती हुई चाँदनी में भी उसे दस ग्यारह गज़ से अधिक दूरी पर नहीं पहचाना जा सकता। किसी वस्तु के प्रत्यक्ष की सत्यता उसके आकार पर भी निर्भर होती है।

साक्षी बहुधा अपने बयान में वस्तुओं का रंग बताते हैं। परन्तु रंग के सम्बन्ध में बयान की वास्तविकता इस बात पर निर्भर होती है कि गवाह वर्णान्ध तो नहीं है। लगभग चार प्रतिशत पुरुष आंशिक वर्णान्ध होते हैं और लाल और हरे रंग की पहचान कर ही नहीं सकते। इसलिए यदि किसी पुरुष गवाह के बयान में वर्णित किसी वस्तु के लाल या हरे होने से न्याय निर्णय में कुछ अंतर पड़ने की संभावना हो तो गवाह के मनोवैज्ञानिक परीक्षण द्वारा देख लेना चाहिए कि वह वर्णान्ध तो नहीं है। वर्णान्धता के मनोवैज्ञानिक परीक्षण में प्रायः रंगीन बिन्दियों के बने ऐसे नमने काम में लाये जाते हैं जिनमें कोई एक अंक लाल रंग की बिन्दियों से बना होता है और सब ओर से हरे रंग की बिन्दियों से घिरा रहता है। साधारण दृष्टिवाला व्यक्ति लाल अंक को हरी बिन्दियों के बीच में से स्पष्ट पहचान लेता है, परन्तु वर्णान्ध व्यक्ति को लाल-हरी सभी बिन्दियाँ एक-सी लगती हैं और वह अंक को नहीं देख पाता। साधारण दृष्टिवाले व्यक्ति भी अल्प प्रकाश में वर्णान्ध हो जाते हैं। किसी बहुरंगे कपड़े को संध्या के घटते हुए प्रकाश में देखिए तो सबसे पहले लाल रंग दिखना बन्द हो जाता है और धीरे-धीरे सभी रंग पहचान से परे हो जाते हैं। इसलिए यदि कोई गवाह अपने बयान में कहता है कि उसने धुँधले प्रकाश या चाँदनी में किसी वस्तु के लाल रंग को देखा, या कहीं रुधिर देखा, तो उसकी इस बात को माना नहीं जा सकता, क्योंकि वह असम्भव बात कह रहा है। इसी प्रकार

सभी साधारण दृष्टिवाले व्यक्ति हर समय हर प्रकार के प्रकाश में दृष्टिक्षेत्र के किनारों पर वर्णान्ध होते हैं। इसलिए यदि कोई गवाह कहता है कि उसने अपनी आँख के कोने से किसी वस्तु का रंग देख लिया था तो वह मानने योग्य बात नहीं है। वर्णान्धता के अतिरिक्त व्यक्तियों की ज्ञानेन्द्रियों में अन्य दोष भी होते हैं। उनकी दृष्टि अथवा श्रवण शक्ति भी सीमित अथवा विकृत हो सकती है। ऐसी अवस्था में वे घटनाओं के यथार्थ प्रेक्षण में असमर्थ होते हैं। अतः उनके साक्ष्य त्रुटिपूर्ण हो सकते हैं। उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

किसी इंद्रियानुभव का महत्त्व इंद्रियानुकूलन पर भी निर्भर होता है। किसी अँधेरे कमरे में तत्काल आनेवाले व्यक्ति के वहाँ पड़ी किसी वस्तु के न देख पाने के दावे के विरुद्ध यदि वहाँ देर से बैठा कोई व्यक्ति गवाही दे कि उसे वस्तु स्पष्ट दिखाई दे रही थी, तो यह गवाही सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि दोनों के नेत्रानुकूलन में अंतर था।

कई बार गवाही देशप्रत्यक्ष के सम्बन्ध में होती है। दूरी का अनुमान बताया जाता है। दूरी का अनुभव दोनों नेत्रों के अपने-अपने अलग-अलग अनुभवों के सम्मिश्रण से हुआ करता है, अर्थात् द्विनेत्री होता है और इसलिए दोनों नेत्रों की शक्तियों की समानता अथवा असमानता पर निर्भर होता है। दोनों नेत्रों में समान शक्ति वाला व्यक्ति जिस वस्तु को ३० फुट दूर से देखता है, वही वस्तु असमान शक्ति नेत्रोंवाला व्यक्ति कदाचित् केवल २० फुट दूर होने पर ही देख सकेगा।

कभी-कभी गवाही का विषय यह होता है कि कोई शब्द किधर से अथवा कितनी दूर से आ रहा था। ऐसी परिस्थिति में साक्षी को शब्द का स्थान निश्चयन करना होता है और मनोविज्ञान ने शब्द के स्थान निश्चयन में कई प्रकार की त्रुटियों की संभावना पर प्रकाश डाला है। शब्द की दिशा का अनुभव इस बात पर निर्भर होता है कि शब्द दायें या बायें किस कान में सापेक्षतः पहले और अधिक तीव्रता से पहुँचा है। परन्तु यदि शब्द का उद्गम दोनों कानों से समान दूरी पर है तो शब्द दोनों में एक साथ और समान तीव्रता से पहुँचेगा। ऐसी अवस्था में शब्द की दिशा के अनुमान के लिए कोई वास्तविक आधार नहीं रह जाता और यदि व्यक्ति केवल श्रवण के आधार पर शब्द की दिशा के सम्बन्ध में कुछ कहता है तो उसका यह कथन वस्तुस्थिति का परिचयाक नहीं माना जा सकता। इसलिए गवाह यदि शब्द को अपने सिर के ऊपर किसी अदृष्ट स्थान से आया बताता है तो हो सकता है कि वास्तव में वह उसकी ठोड़ी के नीचे से हुआ हो या उसके पीछे से आया हो। ऐसे ही गवाह यदि किसी शब्द को अपने पीछे से आया बताता है तो इसका कोई भरोसा नहीं, जब तक उसने पीछे घूमकर शब्द के उद्गम को देख न लिया हो।

कभी गवाही शब्द की दूरी के विषय में होती है। कोई भी व्यक्ति किसी शब्द की दूरी का अनुमान उसकी तीव्रता से ही लगाता है। क्योंकि वह जानता है कि शब्द दूर हो जाने से हल्का सुनाई पड़ने लगता है। परन्तु ऐसे अनुमान का विश्वास तभी किया जा सकता है, जब अनुमानकर्ता उस शब्द की पास से सुनाई देनेवाली तीव्रता से परिचित हो। इसलिए यदि गवाह पूर्वानुभव में शब्द की पास की किसी तीव्रता से परिचित है, तब उसे उस शब्द की दूरी का अनुमान करने में असमर्थ नहीं माना जा सकता। और यदि वह उस शब्द की पास की तीव्रता से परिचित नहीं है, तब उसके उस शब्द की दूरी के अनुमान को माना नहीं जा सकता।

यदि गवाही में किसी वस्तु का दृष्टि-आधारित और श्रवण-आधारित स्थानानुभव भिन्न-भिन्न हों, तब श्रवण की अपेक्षा दृष्टि का अधिक भरोसा करना चाहिए, क्योंकि साधारणतया मनुष्यों में श्रवण की अपेक्षा दृष्टि ही प्रधान होती है।

स्पर्शानुभवों पर आधारित साक्ष्यों को भी मान लेने में सतर्कता से काम लेना चाहिए। क्योंकि त्वचा के सभी भागों की संवेदनशीलता एक-सी नहीं होती। उँगलियों के सिरों, गालों और दाँतों-जैसे हिलते रहनेवाले अंगों की त्वचा में स्पर्श ग्रहणशीलता अधिक सूक्ष्म होती है। यहाँ बहुत थोड़ी दूर पर होते हुए दो स्पर्श भी दो ही लगते हैं। इसके विपरीत भुजाओं के ऊपरी भाग, टाँगों और पीठ-जैसी जगहों पर त्वचा की स्पर्श ग्रहणशीलता बहुत कम सूक्ष्म होती है। इन पर दो एक साथ होते हुए स्पर्शों का अलग-अलग अनुभव तभी हो सकता है जब उनके बीच की दूरी काफी ज्यादा हो। इसका अर्थ यह है कि किसी व्यक्ति के लिए किसी वस्तु को अँधेरे आदि में टटोल कर सूक्ष्मता से समझना उस समय तो सम्भव है जब उसने उसे उँगलियों के सिरों से टटोला हो, परन्तु यदि वह वस्तु उसकी उँगलियों की पकड़ में आने के बजाय सीधी उसकी भुजाओं में टकरायी या आ गिरी हो तब कदापि संभव नहीं।

साक्षी को स्पर्श के क्षेत्र में अभी अनुकूलनोत्पन्न भ्रम संभव है। साधारण जीवन में कभी-कभी किसी वृद्ध में इतना स्पर्शानुकूलन पाया जाता है कि वह अपने माथे पर चढ़ी ऐनक के अत्यन्त आदी हो जाने के कारण उसकी ओर से अबोध होकर उसे इधर-उधर ढूँढ़ा करते हैं।

ऐसे ही गवाह से स्पर्श द्वारा ताप-बोध के क्षेत्र में भी अनुकूलनोत्पन्न त्रुटि हो सकती है। साक्षी का किसी कक्ष के ताप का अनुमान सुलगती हुई रसोई से आने पर वास्तविक से बहुत कम हो सकता है, और सरदी में बाहर से आने पर वास्तविक से बहुत अधिक यह भी हो सकता है कि कभी स्पर्श के विभिन्न गुणों का ऐसा सम्मिश्रण हो गया हो कि साक्षी बहुत बड़ा धोखा खा गया हो—जैसे, अँधेरे में किसी ठंडी और चिकनी जगह का

स्पर्श हो जाने से गीलेपन का भ्रम हो गया हो और वह समझ बैठा हो कि वही खून लगा हुआ था।

साक्ष्य गतिमान् वस्तुओं के सम्बन्ध में हो सकता है। संभव है गवाह अपनी गति के सम्बन्ध में अथवा अपने वाहन के सम्बन्ध में कुछ कह रहा हो। उसके कथन भ्रमपूर्ण हों। किसी दुर्घटना-सम्बन्धी साक्ष्य में, संभव है किसी वाहन की गति का आंकन महत्त्वपूर्ण हो, परन्तु गति से आंकनों में भी व्यक्तिगत अंतरों एवं त्रुटियों की संभावना होती है।

अपनी गति के अनुभव हमें अपने अंतःकर्ण के प्रविवरांगों के द्वारा हुआ करते हैं। इनमें द्रव भरा होता है। यदि शरीर आगे को गतिमान् होता है तो द्रव पीछे रह जाता है और प्रविवरोपकरणों के पिछले सिरे को संवेदित करता है। अनुभव द्वारा व्यक्ति सीख लेता है कि इस प्रकार की संवेदना का अर्थ यह होता है कि वह आगे को जा रहा है। परन्तु यदि व्यक्ति चलते-चलते धीमा हो जाय या रुक जय तो द्रव आगे को धक्का लगाता है और उन्हीं अंगों के अगले सिरे को संवेदित करता है, जिससे व्यक्ति यदि आँखों से न देखे कि क्या हो रहा है तो उसे यह भ्रम हो जाय कि वह पीछे को जा रहा है। इसलिए यदि कोई गवाह अपने बयान में यह कहता है कि उसकी गाड़ी पीछे जाती हुई लगी तो संभव है कि वास्तव में गाड़ी केवल धीमी ही हुई हो।

यदि गवाह दूर बाहर से सामने चलती हुई किसी गाड़ी अथवा व्यक्ति की गति के विषय में साक्षी दे रहा है, तो भी उसके बयान का महत्त्व देने में सतर्क रहने की आवश्यकता होती है। सामने दायें से बायें या बायें से दायें जानेवाली वस्तुओं के सम्बन्ध में ही गबाही ठीक मानी जा सकती है। गवाह के सामने से पास आती हुई या दूर हटती हुई वस्तुओं की गति के बयान पर सदा ही आपत्ति हो सकती है। क्योंकि दायें से बायें या बायें से दायें जाने में तो वह वस्तु दृष्टि क्षेत्र के विभिन्न विशिष्ट भागों में से स्पष्टतया जल्दी-जल्दी निकल जाती है। परन्तु सामने से पास या दूर हटने में उसका दृश्य स्थान तो स्पष्टतया बदलता नहीं, केवल उसके आकार में बहुत ही धीमी गति से थोड़ा-थोड़ा अन्तर होता है, जिससे उसकी गति का अनुमान विश्वासयोग्य नहीं रहता।

गति बोध पर गति के अतिरिक्त गतिमान् पदार्थ के शब्द की उच्चता और देखने-वालें की अनुभवयुक्तता अथवा अनुभवहीनता का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। गतिमान् पदार्थ जितना ही अधिक शब्द करता है उतना ही उसकी गति अधिक लगती है, चाहे उसकी वास्तविक गति कितनी ही हो। ऐसे ही, गति अनुमान की योग्यता अनुभव द्वारा विभिन्न प्रकार के संकेतों के अर्थ जान लेने से आती है। इसलिए किसी गवाह के गतिबोधों पर विश्वास कर लेने से पहले उसके पूर्व गतिबोध अनुभव की पर्याप्तता पर ध्यान देना चाहिए। इस सतर्कता की विशेष आवश्यकता तब होती है जब कोई गवाह किसी चलती हुई वस्तु

का अनुभव करते समय स्वयं किसी चलते हुए वाहन पर रहा हो। स्वयं चलते हुए किसी चलती हुई चीज की गति का ठीक अनुमान कर लेना बहुत कठिन होता है और यह अनुमान ऐसी परिस्थितियों के विशेष अनुभव से ही आता है।

कालांतर-सम्बन्धी गवाहियाँ

कभी-कभी न्याय निर्णय, किसी कालान्तर विशेष के परिमाण पर निर्भर होता है। शायद, यह प्रश्न किया जा सकता है कि किसी गाड़ी के, किसी सड़क पर से निकलने के कितनी देर बाद, उसी सड़क पर आगे जाकर गोली चलने की आवाज़ हुई थी, या यह कि किसी चेतावनी रूपी शब्द के कितनी देर बाद कोई विस्फोट हुआ था। ऐसी परिस्थितियों में उस कालान्तर के सम्बन्ध में गवाही महत्त्वपूर्ण हो जाती है, इसलिए गवाह के कालबोध की विश्वस्तता का प्रश्न उठना न्याय संगत होता है।

काल का बोध व्यक्ति को अपने अंदर श्वसन और हृदय-स्पंदन-जैसी सूक्ष्म अनैच्छिक आन्तरिक दैहिक गति संवेदनाओं के द्वारा हुआ करता है। यदि वह किसी कार्य अथवा खेल में व्यस्त हो तो उसे इन आन्तरिक देहगतियों का पता नहीं चलता और इसलिए उसे समय बीतने का भी पता नहीं चलता। इसके विपरीत यदि उसे अवकाश हो या वह किसी व्यक्ति अथवा घटना की प्रतीक्षा में बैठा हो, तो उसकी चेतना में आन्तरिक देहगति संवेदनाएँ उभर आती हैं और एक-एक क्षण पहाड़ लगने लगता है। मनोवैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में यह बड़े सरल प्रयोगों द्वारा सिद्ध हुआ है। एक प्रयोग में प्रयोगाधार व्यक्तियों से २४ सेकंड, ४८ सेकंड और ७२ सेकंड की अवधियों का कई बार, कभी निष्क्रिय बैठकर, कभी प्रयोगकर्ता से रोचक कहानी सुनते हुए और कभी प्रयोगकर्ता द्वारा जल्दी-जल्दी बोले हुए वाक्यों को लिखते हुए, अनुमान कराकर देखा गया। सब प्रयोगाधार व्यक्तियों के साथ प्राप्त प्रयोगफलों का औसत लगाने पर देखा गया कि १४४ सेकंड का कुल समय निष्क्रिय अवस्था में २१४ सेकंड अर्थात् सबसे लम्बा लगा, कहानी पाठ सुनते हुए १८९ सेकंड अर्थात् उससे कम लम्बा लगा और इमला लिखते हुए १६२ सेकंड अर्थात् सबसे कम समय लगा। ऐसे ही, यदि गवाह सड़क के किनारे बेंच आदि किसी स्थान पर बैठा पैर हिला रहा था और उसका ध्यान किसी विशेष और नहीं था, तो उसके समय-बोध में अधिक अत्यनुमान होने की सम्भावना है। यदि वह उस अवधि में किसी से बातचीत में मस्त था, तो उसको वह समय कम लम्बा लगने की सम्भावना होगी। गवाह के कालबोध की विश्वस्यता इस बात पर भी निर्भर होगी कि उसकी आयु क्या है और उसे समय के ठीक-ठीक बोध का अनुभव कितना है। बच्चों के कालान्तर बोध में तो अधिक त्रुटि होने की संभावना होती ही है। प्रौढ़ व्यक्तियों की कालानुमान योग्यता में वैयक्तिक अन्तर हुआ करते हैं और ये अंतर बहुत कुछ अनुभव के अन्तरों के कारण होते हैं। यदि

किसी व्यक्ति का कार्य किसी भोजनालय में ग्राहकों के मनोरंजन के लिए ग्रामोफोन रेकार्ड बजाना ही है, और यदि वह जानता है कि यह सब रेकार्ड तीन-तीन मिनट चलते हैं, तो उसका तीन मिनट का अन्दाजा अधिक ठीक मानना ही चाहिए।

किसी काल के आंकन की यथार्थता या त्रुटिपूर्णता इस बात पर निर्भर होती है कि उस काल के अन्दर कितनी और किस प्रकार की घटनाएँ घटित होती हैं। ऐसे ही, किसी अवधि के आंकन में भले ही व्यक्तियों का ध्यान पूरी तरह केन्द्रित हो, फिर भी उनके आंकनों में बहुत व्यक्तिगत अंतर हो सकते हैं।

इस सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी गवाह के कालान्तर बोध को मान लेने से पहिले यह प्रश्न उठाना चाहिए कि वह उस अवधि में क्या कर रहा था और उसकी कालांतरानुमान-योग्यता कैसी है। यदि उसकी कालांतरानुमान-योग्यता की परीक्षा करनी हो तो वह परीक्षा किसी ऐसी वैज्ञानिक रीति से होनी चाहिए. जिसमें धोखा खाने की सम्भावना न हो। मान लीजिए तत्काल न्यायालय में ही गवाह की इस योग्यता की परीक्षा के लिए उसके सामने कोई शब्द किया जाय और उससे कहा जाय कि अपने अनुमान से एक मिनट बाद वह स्वयं वैसा ही शब्द करे। उपस्थित अधिकारी अपनी-अपनी घड़ियों में देख सकते हैं कि उसका अनुमान कितना ठीक होता है। परन्तु ऐसी परीक्षा-विधियाँ अवैज्ञानिक होती हैं और उनमें त्रुटि होने की संभावनाएँ होती हैं। पहली बात तो यह कि न्यायालय में प्रायः ऐसा एक ही बार करके व्यक्ति की योग्यता का अनुमान लगा लिया जायगा। योग्यताओं का किसी एक अवसर पर ही देखने से ठीक पता नहीं चला करता। दूसरी बात यह भी है कि यदि न्यायालय में परीक्षित व्यक्ति स्वयं घड़ी आदि किसी एक मिनट निर्देशक संकेत का उपयोग नहीं भी करता, तो भी उसे प्रायः बाहर से बहुत-से संकेत मिल जाने की संभावना होती है। पचास-पचपन सेकंड बीतने पर उपस्थित लोग अपने आप ही उससे कालानुमान संकेत पाने की आशा में कुछ आगे को झुकने लगेंगे, या उनके पैर हिलने लगेंगे, या ऐसा और कुछ होने लगेगा, जिससे उसे लगभग एक मिनट हो जाने का संकेत मिल जायगा और वह अपनी पूर्व निश्चित प्रतिक्रिया कर डालेगा। इसलिए यह आवयक है कि यदि गवाह की कालान्तर-बोध-योग्यता की परीक्षा न्याय-निर्णय के लिए महत्त्वपूर्ण हो तो उसे मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला में सुनियंत्रित परिस्थितियों में ही करवाया जाय।

साक्षियों की ध्यान-त्रुटियाँ

किसी वस्तु या घटना के प्रत्यक्ष अनुभव की वास्तविकता इस बात पर भी निर्भर करती है कि देखनेवाला उसे कितना ध्यान देता या दे पाता है। पहले तो प्रत्येक गवाह के प्रत्यक्षानुभव अथवा प्रेक्षण में, चाहे वह कितना भी अच्छा देखनेवाला क्यों न हो एक

सामान्य अविश्वस्यता अर्थात् त्रुटि की सभावना होती है। कारण यह है कि अधिक घटनाएँ अप्रत्याशित हुआ करती हैं। जब वे घटनाएँ घटती हैं उस समय गवाह का ध्यान उधर कम मात्रा में लगा हुआ हो सकता है। उसे पहले से पता भी नहीं होता कि उसे उन घटनाओं के सम्बन्ध में कहीं और कभी ध्यान देना पड़ेगा। परिणाम यह होता है कि उसके साक्ष्य में वर्णित घटनाओं के समय उसका ध्यान विशेषतया सक्रिय नहीं होता। संभव है उस समय उसका ध्यान उन महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर नहीं,बल्कि कहीं और केन्द्रित हो। तब वे महत्त्वपूर्ण घटनाएँ उसके बोध में सर्वथा अथवा पूर्णतया न आयी होंगी: उदाहरणतया साधारण व्यक्ति प्रायः तीव्र गति से भागती हुई गाड़ी का लाइसेन्स नम्बर नहीं देख पाते। इसके लिए या तो व्यक्ति का ध्यान पहिले से उसकी ओर केन्द्रित होना चाहिए या फिर देखनेवाला जासूस अथवा ध्यानपूर्ण प्रेक्षण की विशेष शिक्षा प्राप्त कोई अन्य व्यक्ति हो। असावधानी की अवस्था में किये गये अनुभवों के साक्ष्य रूप वर्णनों में घटनास्थल पर उपस्थित व्यक्तियों की संख्या, उनके पहनावे, उनके द्वारा कहे गये वाक्यों और घटनाओं के क्रम आदि के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें अयथार्थ होती हैं। बहुत-सी किसी अन्य वस्तु की ओर ध्यान देने में लगे होने के कारण ऐसी शारीरिक स्थिति में ऐसी वस्तुएँ वर्णित होती हैं, जो घटनास्थल पर थीं ही नहीं। बहुत-से वाक्य उपस्थित व्यक्तियों द्वारा कहे हुए बताये जाते हैं, जो साक्षी ने वास्तव में सुने ही नहीं होंगे, परन्तु जो उसके उपयुक्त समझने के कारण मान लिये होंगे। अवधान का नियम है कि जितना ही ध्यान हम किसी एक वस्तु को देते हैं उतना ही कम ध्यान उसी समय अन्य किसी वस्तु को दे पायेंगे। किसी वस्तु के अवधान क्षेत्र के केन्द्र में आ जाने से उसका स्पष्टतम बोध होता है। अवधान क्षेत्र के छोर पर होने से उसका बोध सापेक्षतः बहुत ही अस्पष्ट होता है। इसलिए यदि गवाह किसी वस्तु का आँखों देखा हाल भी बता रहा तो यह प्रश्न उठाना चाहिए कि उस समय उसका ध्यान कौन-कौन-सी वस्तुएँ अपनी ओर खींच रही थीं। ध्यान देने की मानसिक क्रिया के बँट जाने के अतिरिक्त, यह भी हो सकता है कि उस समय किसी अन्य वस्तु की ओर ध्यान देने में लगे होने के कारण व्यक्ति ऐसी शारीरिक स्थिति में रहा हो कि उसके लिए केवल उस अन्य वस्तु को ही स्पष्टतया और सूक्ष्मता से देखना संभव रहा हो। ध्यान जिस वस्तु पर पहले से केन्द्रित होता है, उसकी ओर सिर घूमा हुआ होता है, नेत्र उस पर गड़े हुए होते हैं और उसकी ओर देखने या उसका शब्द सुनने में साँस भी रुकी हुई होती है। इसलिए ऐसी अवस्था में किसी अन्य उपस्थित वस्तु का वास्तविक प्रत्यक्ष कर सकने की आशा व्यक्ति से नहीं की जा सकती। यदि गवाह का ध्यान आकाश में जाते हुए किसी वायुयान को देखने में लगा था तो उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि उसने सड़क पर जाती हुई गाड़ी को गलत पटरी पर जाते हुए वास्तव में देखा होगा।

गवाह का ध्यान उस समय किस ओर रहा होगा यह जानने के लिए यह भी देखा जा सकता है कि उस समय ऐसी कौन-सी उत्तेजनाएँ उपस्थित थीं, जिनकी ओर साधारणतया व्यक्तियों का ध्यान हठात् खिच ही जाता है। उच्च शब्द अथवा उदीप्त प्रकाश की अवहेलना नहीं की जा सकती। गाड़ियों का लड़ जाना ध्यान अपनी ओर खींच ही लेता है। नवीनता एवं विलक्षणता भी अवधान निर्धारक है। किसी अपरिचित व्यक्ति का घर में घुसना या घर से निकलना ध्यान आकर्षित करता ही है। गति स्वयं आकर्षक होती है। कहीं पड़ी हुई वस्तु की अपेक्षा कोई चलती हुई वस्तु अधिक ध्यानाकर्षक होगी। बड़े आकार की वस्तुएँ भी अवधान का स्वाभाविक विषय होती हैं। कोई भी गुण विपरीत गुणों के बीच या साथ पड़कर अधिक आकर्षक हो जाता है, चाहे वे बड़े से पति के साथ उसकी छोटी-सी पत्नी हो, या काली मोटर पर सफेद धारी हो, या फिर देशवासियों के बीच कोई विदेशी। फिर प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी अलग-अलग, रुचियों के अनुसार अलग-अलग विषयों की ओर खिंचते ही हैं। इस दृष्टि से यह जान लेना अच्छा होगा कि गवाह जिन बातों के बारे में गवाही दे रहा है वह उसके व्यवसाय अथवा अन्य रुझानों से कहाँ तक सम्बन्धित हैं। जितना ही यह सम्बन्ध गहरा होगा उतना ही उसकी गवाही की वास्तविकता की सम्भावना भी बढ़ जायेगी। यदि किसी परिस्थिति के किसी एक अंश का वर्णन उससे माँगा जा रहा है, परन्तु परिस्थिति के कोई अन्य अंश भी ऐसे थे जिनमें उसकी व्यावसायिक अथवा स्वाभाविक रुचि के बारे में हम जानते हैं, तो उसके कथनों पर विशेष भरोसा नहीं किया जा सकता।

मानव अवधान की एक विस्तार सीमा भी होती है। मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से पता चलता है कि एक दृष्टिपात में किसी भी परिस्थिति की लगभग छः से अधिक बातें नहीं पहचानी जा सकतीं। बहुत विशेष अभ्यास से यह सीमा आगे अवश्य बढ़ायी जा सकती है। परन्तु अधिकतर व्यक्तियों को इस प्रकार के अभ्यास का अवसर ही नहीं मिलता। इसलिए यदि कोई गवाह केवल एक दृष्टिपात अथवा क्षणिक अनुभव के आधार पर बहुत-सी बातें बताता है तो अनुमान किया जा सकता है कि वह अनुभूत सत्य बताने की बजाय काल्पनिक वर्णन ही दे रहा है। यदि उसके किसी कमरे में घुसते ही बत्तियाँ बुझा दी गयी थीं, परन्तु वह कहता है कि उसने इतनी-सी देर में चौदह व्यक्तियों को पहचान लिया था, या कोई गवाह कहे कि किसी दुर्घटना से बेहोश हो जाने से पहले उसी क्षण उपस्थित हुई परिस्थिति की बहुत बातें देख ली थीं, तो गवाह की गवाही पर संदेह किया जा सकता है।

यदि कोई गवाह किसी घटना का आँखों देखा हाल बताने को प्रस्तुत होता है तो इस बात की खोज भी करनी चाहिए कि वह उस घटना के स्थल पर उपस्थित होने के

साथ उसे देखने के लिए तन और मन दोनों से तैयार भी था कि नहीं । क्योंकि किसी घटना को ठीक-ठीक तभी देखा जा सकता है जब व्यक्ति अपने मन को उस ओर लगाये हो और अपने कान, आँख, हाथ, पैर या सारे शरीर को उसे देखने के लिए अनुकूल स्थिति में रखे हो । इतनी तैयारी तभी हो सकती है जब व्यक्ति को पहले से कोई सकेत मिल चुका हो कि इस प्रकार की घटना होनेवाली है और उसे उस घटना को ध्यान से देखना चाहिए ।

साक्ष्यों में स्मरण-त्रुटियाँ

गवाही की वास्तविकता घटनाओं को देख सकने और ध्यान दे सकने पर ही नहीं, याद रख सकने पर भी निर्भर होती है । स्मृति की समय-सीमाएँ होती हैं । कोई व्यक्ति किसी देखी हुई घटना को कितना याद रख सकता है, इस बात पर निर्भर है कि उसने उस घटना अथवा घटनास्थल को कितनी देर तक अथवा कितनी बार देखा है और उसे वह घटना देखे कितना समय बीत चुका है । थोड़ी देर तक अथवा एक ही बार किये हुए अनुभवों की स्मृति अधिक त्रुटिपूर्ण होती है । समय बीतने से भी विस्मरण तो होगा ही । स्मृति कुछ समय के पश्चात् हल्की अथवा फीकी पड़ जाती है । कोई घटना जितनी पुरानी होती जायेगी उसके विषय में किसी की स्मृति भी उतनी फीकी पड़ती जायेगी और उसका साक्ष्य भी स्वाभाविक है उतना ही अविश्वसनीय होता जायेगा । फिर, विस्मरण सबसे अधिक वेग से घटना के उपरान्त पहले कुछ घंटों में ही होता है । स्पष्ट है कि गवाह का बयान घटना के उपरान्त जितनी जल्दी लिया गया होगा उतना ही उसमें घटना का यथार्थ वर्णन मिलने की सम्भावना होगी । अतः घटना के होने के तुरन्त बाद दिये हुए साक्ष्य पर ही कुछ भरोसा किया जा सकता है । समय बीतने पर संभव है कि घटना-प्रेक्षण तथा उसके साक्ष्य के बीच के समय में घटना की बहुत-सी बातें भूल जायें । यहाँ तक हो सकता है कि न्यायालय में पूछे जानेवाले प्रश्नों में सुझावकता के आधिक्य के कारण साक्ष्य अपूर्ण ही नहीं अवास्तविक भी हो जाय । इसीलिए मनोवैज्ञानिक इस बात के पक्ष में हैं कि घटनास्थल पर उपस्थित व्यक्तियों को तत्काल पुलिस के थाने या अन्य राजकीय केन्द्र पर ले जाकर उनका बयान ले लेना चाहिए ।

यह भी निश्चित है कि देखने और स्मरण रखने के इरादे से देखी गयी घटनाओं के वर्णन केवल संयोगवश देखी गयी घटनाओं के वर्णनों की अपेक्षा अधिक यथार्थ होते हैं । परन्तु न्यायालयों में साक्ष्यों में वर्णित घटनाएँ शायद ही कभी गवाही देने के उद्देश्य से देखी गयी होती हैं । इसलिए उनकी यथार्थता सदिग्ध ही होती है । और सांयोगिक प्रेक्षण व्यक्तियों का तो कुछवास्तविक होता भी है, परन्तु पदार्थों का उतना यथार्थ नहीं होता ।

साक्षी के स्मरणों के मूल्यांकन में यह भी याद रखना चाहिए कि किसी व्यक्ति के

दिल पर कोई चोट लगने अर्थात् औद्वेगिक आघात से भी उसकी स्मृति विकृत हो जाती है और उसका साक्ष्य अविश्वसनीय हो जाताहै। साधारण परिस्थितियों में भी किसी साक्षी की पुनरावर्त्तन स्मृति से उसकी पहचान स्मृति अधिक ठीक हुआ करती है। परन्तु प्रायः साक्षी से घटनाओं को याद करके सुना देने को ही कहा जाता है। जैसा ऊपर सकेत किया गया है, न्यायालय में दी जानेवाली गवाही में बहुत कुछ हाथ सुझावन का होता है। गवाह से पूछे जानेवाले बहुत-से प्रश्न सुझावों से लदे हुए होते हैं। लगभग कोई भी गवाह उन सुझावक प्रश्नों के जाल में फँसकर धोखा खा सकता है। बच्चे और अल्प-बुद्धिव्यक्ति तो विशेषतया सुझावक प्रश्नों के चक्कर में फँस जाते हैं।

साक्ष्य-विश्वसनीयता के अन्य निर्धारक

किसी साक्ष्य की विश्वस्यता साक्षी की सामान्य विश्वसनीयता पर तथा उसके मानसिक स्वास्थ्य पर भी निर्भर रहेगी। जैसे, अभियुक्त के दोष का निर्णय करने के लिए उसके मानसिक स्वास्थ्य की परीक्षा की आवश्यकता पड़ा करती है, वैसे ही साक्षी की सामान्य विश्वसनीयता की और उसके सामान्य मानसिक स्वास्थ्य की भी मनोवैज्ञानिक परीक्षा होनी चाहिए। इससे पता चलेगा कि उसके साक्ष्यों पर कितना भरोसा किया जाय और उसमें से कितने अंश को सत्य समझा जाय। साक्षी से न्यायालय में पूछे जानेवाले प्रश्न या उन प्रश्नों के पूछने के ढंग ही उत्तर सुझानेवाले हो सकते हैं। इस प्रकार के प्रश्नांतर्गत सुझावों का, गवाहों के घटना वर्णनों अथवा अन्य विवरणों पर बहुत प्रभाव पड़ सकता है। इस प्रकार दी गयी गवाही की विश्वस्यता गवाही प्राप्त करने की विधि पर निर्भर होती है।

साक्ष्य, प्राप्त करने की तीन विधियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रयोगों द्वारा हुआ है। ये तीन विधियाँ हैं—

(१) गवाह से पूरी घटना सुना जाने को अर्थात् उसका स्वतन्त्र विवरण देने को कहना।

(२) घटना की सभी बातें प्रश्नों द्वारा पूछना, और

(३) प्रतिपृच्छा अर्थात् पहले स्वतन्त्र विवरण प्राप्त करके उसका प्रश्नों द्वारा स्पष्टीकरण माँगना। एक प्रयोग में १५० अंशोंवाली एक घटना का प्रयोग किया गया था। प्रयोग के फलस्वरूप इनमें से घटना-सम्बन्धी प्रश्नों द्वारा सबसे अधिक अर्थात् ३१ प्रतिशत, प्रतिपृच्छा अर्थात् विवरण-सम्बन्धी प्रश्नों द्वारा उससे कम अर्थात् २९ प्रतिशत एवं केवल स्वतन्त्र विवरण द्वारा सबसे कम अर्थात् २३ प्रतिशत अंश साक्षी से प्राप्त हो सके। परन्तु, साथ ही यह भी देखा गया कि स्वतन्त्र विवरण में से ९१ प्रतिशत ठीक था,

प्रश्नों द्वारा प्राप्त विवरण में से ८३ प्रतिशत ही ठीक था और प्रतिपृच्छा द्वारा प्राप्त विवरण में से केवल ७६ प्रतिशत ठीक था।

साक्षी पर शपथ का प्रभाव भी खोज का विषय बना है। निष्कर्ष यह निकला है कि साक्ष्य में शपथ से त्रुटियाँ कम हो जाती हैं अर्थात् वास्तविकता बढ़ जाती है। परन्तु साथ ही साक्ष्य में अपूर्णता भी बढ़ती है।

विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से प्राप्त साक्ष्यों में वास्तविकता के अंतर देखने का प्रयत्न भी किया गया है। जैसे कि आशा की जा सकती है, जासूसों, पत्रकारों अथवा अन्य प्रेक्षण-प्रशिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों से प्राप्त साक्ष्यों में वास्तविकता अधिक होती है।

दोष की कटौती और उसकी पहचान

न्याय की दृष्टि में कोई व्यक्ति अपने किसी कर्म के लिए दोषी और दण्डनीय तभी ठहराया जाता है जब वह अपने उस कर्म के लिए उत्तरदायी माना जा सके। न्यायालयों में अधिकार स्वीकृत उत्तरदायित्व की एक कसौटी यह रही है कि अभियुक्त जानता हो कि मैं क्या और कैसा काम कर रहा हूँ। इसे दोष अथवा उत्तरदायित्व की उचित-अनुचित बोधाधारित पहचान कहा गया है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह पहचान बहुत अच्छी नहीं है। क्योंकि अपने कर्म के स्वरूप एवं गुण का कुछ-न-कुछ बोध तो जड़बुद्धियों, कुंठित बुद्धियों और ज्वरप्रलापावस्थागत रोगियों के अतिरिक्त सभी को होता है और फिर यह कसौटी सर्वथा बौद्धिक है। मनुष्य का व्यवहार बहुत कुछ औद्वेगिक भावों और मूल प्रवृत्तियों द्वारा भी प्रेरित होता है। उपर्युक्त कसौटी बहुत स्पष्ट भी नहीं है। कर्म के स्वरूप और गुण का क्या अर्थ है ठीक से कहना कठिन है। यह एक दूसरे से भिन्न है कि एक ही विषय है, नहीं कहा जा सकता। इनके बोध की परिभाषा भी स्पष्ट नहीं। कर्म के अर्थ अथवा महत्त्व को समझना ही बोध होता है कि इस समझ का उपयोग करने की क्षमता भी होनी चाहिए, इस बात का निर्णय सरल नहीं। जब यह कहा जाता है कि अभियुक्त को यह ज्ञात होना चाहिए कि मैं बुरा कर रहा हूँ तो यहाँ "बुरे" के अर्थ के सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं है। इस सबध में कहीं "बुरे" का अर्थ लगाया जाता है "समझदार लोगों द्वारा सामान्य मानदंडों के अनुसार बुरा", और कहीं "नैतिक दृष्टि से बुरा", और कहीं "विधि अनुसार दंडनीय"।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए एक विचार-धारा के अनुसार दोष अर्थात् उत्तरदायित्व तभी मानना चाहिए जब अभियुक्त ने अभियोजित कर्म किसी अरोध्य प्रेरणावश न किया हो। इस पर भी आपत्ति हो जाती है। कारण यह कि बहुत-से पागल व्यक्ति भी जान-बूझकर बड़ी सावधानी और तैयारी के साथ अपराध किया करते हैं।

इन सब मनोवैज्ञानिक विचारों के आधार पर एक मत यह प्रतिपादित हुआ है कि मानसिक रोग अथवा बुद्धिदोष से उत्पन्न न होने पर ही कोई कार्य अपराध अर्थात् विधि-विरुद्ध कर्म कहा जा सकता है।

न्याय-मनोविज्ञान के पण्डित साथ ही यह भी मानते हैं कि अपराध के लिए पूर्ण उत्तरदायित्व भी होता है और आंशिक भी। आंशिक उत्तरदायित्व तब माना जाता है जब अभियुक्त पागल तो न हो, पर उसकी मानसिक अवस्था पागलपन के आसपास ही हो, अर्थात् मानसिक विकार अथवा दौर्बल्य हो, मिरगी अथवा अपराधी रोग की अवस्था से मानसिक विकास अवरोधित हो, कोई विशेष चोट अथवा रोग हो, अथवा वह अपने शरीर अथवा मन की रचनात्मक विशेषता से बाध्य हो।

उन्माद को दोषनिवारक मानने का इतिहास कम-से-कम सौ वर्ष पुराना है। १९४३ में इंग्लैण्ड में एक संपीडनभ्रम ग्रस्त मनुष्य ने वहाँ के प्रधानमन्त्री सर रॉबर्ट पील की हत्या का प्रयत्न किया। प्रधानमन्त्री के सहायक की मृत्यु हो गयी, हत्यारा पकड़ा गया और उस पर हत्या का अभियोग लगा। न्यायकर्त्ताओं ने निर्णय किया कि मनोन्माद के कारण उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता। तदुपरान्त ब्रिटेन के हाउस ऑफ लॉर्ड्ज़ ने इस प्रकार के मुकदमों में न्यायालय के निर्देशन के लिए नियम स्थिर करने का प्रयत्न किया। एस्किवरोल ने एक विशेष व्यवहारतंत्र को पहचाना जिसमें व्यक्ति जानबूझकर नहीं अपितु अनियंत्र्य पुनरागमनक मतिभ्रमों के कारण अपराध कर डालता है। ऐसे ही बहुत-से बालापराधी समस्यारूप होते हैं अथवा झक्की होते हैं। स्वाभाविक है कि उनको दोषी नहीं रोगी समझा जाय और उनको दण्ड देने के बजाय उनकी मनश्चिकित्सा का प्रबन्ध किया जाय। कुछ बाल-अपराधी अल्पबुद्धि होते हैं। स्वाभाविक है कि उनको अपराध के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि उनमें इतनी बुद्धि और समझ नहीं है कि अपराध को अपराध समझें और उससे बचे रहें। विस्मृति रोग, मानसिक अस्पष्टता, ऐन्द्रियिक भ्रम, गूँगापन, मतिभ्रम, मनोत्तेजन, मनोविषाद अथवा नशे की अवस्था को भी प्रतिवादियों की ओर से प्रतिवाद बनाया गया है और इनके आधार पर उत्तरदायित्व एवं दंड से छूट माँगी गयी है।

दूसरी ओर यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि कुछ अभियुक्त कर्त्तव्य अथवा उत्तर-दायित्व से बचने के लिए मानसिक रोग का बहाना किया करते हैं। इस प्रकार के बनावटी रोगियों के पहचानने का प्रश्न न्यायमनोवैज्ञानिकों के लिए एक मुख्य प्रश्न रहा है। ए० एल० बेन्टन ने रोरशाक-परीक्षण द्वारा बनावटी रोग की पहचान बतायी है। उसके अनुसार बनावटी रोगियों के रोरशाक-परीक्षण करने में विचार का इतना अधिक अभाव व्यक्त हुआ करता है कि वह उनके बुद्धिपरीक्षणांकों से संगत नहीं होता। यह विचार-

न्यूनता अपनी रोगोक्ति की असत्यता के प्रकट हो जाने से बचने के लिए स्वरक्षातंत्र के रूप में उत्पन्न होगी।

यदि किसी से अपराध वास्तव में मानसिक रोग अथवा अल्पबुद्धिता के कारण हो गया है तो न्याय यह है कि राजाज्ञा द्वारा उनकी मनोवैज्ञानिक चिकित्सा होनी चाहिए। यही नहीं, वास्तव में सभी मानसिक विकारग्रस्त अथवा अल्पबुद्धि व्यक्ति सामाजिक उत्तरदायित्व भावनाहीन होते हैं और उनके अपराधी हो जाने की सम्भावना होती है। इसलिए उन सबको न्यायालयों से राजाज्ञा द्वारा विशेष संस्थाओं की संरक्षता और देखरेख में रखना आवश्यक समझा गया है।

यदि अपराध मानसिक रोग अथवा अल्पबुद्धिता से उत्पन्न सिद्ध नहीं होता तो न्याय की दृष्टि से उसका कर्त्ता उसके लिए पूरी तरह उत्तरदायी है और दंड के योग्य है। फिर भी, मनोवैज्ञानिकों ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि व्यक्ति बहुत बार बड़े नगरों की निम्न-स्तर की बस्तियों में रहते-रहते वहाँ के वातावरण से प्रभावित होते हैं, अनुचित लक्ष्य बना लेते हैं, बुराइयाँ सीखते हैं और अपराध करने लगते हैं। वे यह भी समझने लगते हैं कि वे समाज द्वारा शोषित हैं और उनकी जैसी अपराधपूर्ण जीवनशैली और नीति बन गयी है वह उनके लिए स्वाभाविक, उपयुक्त एवं उचित ही है।

दोषनिवारक मनोवस्थाओं में सबसे विलक्षण स्थान अपराधी स्वभाव का है। प्रचलित विचारानुसार कुछ व्यक्ति विधि अथवा प्रचलित नीति के विरुद्ध अपराध इसलिए कर डालते हैं कि अपराध उनकी मानसिक स्वभाव-रचना, उनके व्यक्तित्व में है। इसे अपराधी-स्वभाव-रचना अथवा अपराधी-व्यक्तित्व कहा जाता है। और इसका व्यक्ति पर प्रभाव डालने वाली सामाजिक परिस्थितियों से अलग व्यक्ति में स्वतंत्र अस्तित्व माना जाता है। अपराधी स्वभाव को पहचानने तथा उसके विषय में उपयुक्त व्यवस्था करने की ओर मनोवैज्ञानिकों का ध्यान विशेषतया आकृष्ट है। इस प्रकार के अपराधी स्वभाव की वास्तविकता का निर्णय तथा उसकी पहचान और उसके मापन के लिए उपयुक्त परीक्षणों का निर्माण, उसके प्रति समाज के कर्त्तव्य के कुशलतम रूप का निर्णय, न्याय-मनोविज्ञान की महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं।

कुछ दोष-निवारक मनोवस्थाएँ बहुत ही सामान्य प्रकार की हैं। कुछ बाल-अपराधी वे होते हैं जो अपने अभिभावकों की, अपने शिक्षकों की अथवा स्वयं अपनी भूल से अनुपयुक्त व्यवसायों में डाल दिये गये हैं। इससे उनका व्यक्तित्व-समायोजन बिगड़ जाता है और वे अपराध की ओर झुक जाते हैं। इनका निदान तथा उपचार मनोवैज्ञानिक कार्य है।

ऐसे ही कुछ बाल-अपराधी वे होते हैं, जो सामान्य गति से पढ़ाई में आगे नहीं बढ़

पाते, जो शिक्षा में अपने साथियों से पिछड़ जाते हैं। इस पिछड़ाव से उनके व्यक्तित्व में विषमायोजन आ जाता है और उन्हें अपराध की ओर ले जाता है। इनके पिछड़ाव का निदान और उपचार भी मनोवैज्ञानिक विधियों से ही संभव है।

अपराध के लिए उत्तरदायित्व निश्चित करने में अपराधी की आयु का भी प्रश्न उठता है। लगभग सभी सभ्य देशों में १८ वर्ष या इससे अधिक आयु के व्यक्तियों को ही अपराधों के लिए उत्तरदायी अर्थात् दंडनीय माना जाता है। कुछ थोड़े से क्षेत्रों में ही ऐसा नहीं है। अमेरिका के मैक्सिको राज्य के दण्डविधान में उत्तरदायित्व १२ वर्ष की आयु में आरम्भ हो जाना माना गया है। इस पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से आपत्ति की गयी है। किशोरावस्था मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से संक्रमण काल है। इसके परिणामों को समझने की आवश्यकता है। इसलिए यदि हिंसात्मक अपराधों के लिए नहीं तो कम-से-कम संपत्ति के प्रति अपराधों के लिए तो किशोरों को उत्तरदायी और दंडनीय नहीं होना चाहिए।

अपराध-निर्णय में कभी-कभी विशिष्ट प्रकार के मनोवैज्ञानिक प्रश्न उठते हैं। उदाहरणार्थ, व्यापारिक चिह्नों अथवा व्यापारिक नामों के अतिलंघन के मुकदमों में न्यायालयों के समक्ष एक विशेष प्रकार का मनोवैज्ञानिक प्रश्न उपस्थित हो जाता है। वह यह कि अतिलंघनाभियुक्त द्वारा प्रयुक्त चिह्न अथवा नाम से पहचान-भ्रम होता है कि नहीं। मान लीजिए "हमाम" साबुन के निर्माता "तमाम" साबुन के निर्माताओं के विरुद्ध अतिलंघन अभियोग की पुष्टि में यह कहें कि ग्राहक "हमाम" खरीदने जाते हैं और धोखे में "तमाम" ले आते हैं। तब न्यायालय के सामने प्रमुख प्रश्न यह होगा कि साधारण असतर्क ग्राहक कहाँ तक 'तमाम' को 'हमाम' समझ लेता है। अर्थात् कहाँ तक इन नामों के बीच की पहचान में भ्रम पड़ जाता है। प्रश्न स्पष्टतया मनोवैज्ञानिक है और मनोविज्ञान के विशेषज्ञों द्वारा सुलझने वाला है। मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञ इसको सुलझाने के लिए एक प्रयोग करेगा। वह एक नाम सूची तैयार करेगा, जिसमें एक वादी द्वारा प्रयुक्त व्यापारिक नाम होगा और एक अन्य नाम सूची बनायेगा जिसमें एक प्रतिवादी द्वारा प्रयुक्त नाम होगा। कुछ व्यक्तियों से पहले प्रथम और फिर द्वितीय नाम-सूची पढ़वायी जायगी और उनसे पूछा जायेगा कि दूसरी सूची में ऐसे कौन-से नाम हैं जो प्रथम सूची में भी हैं। तब देखा जायगा कि वादी तथा प्रतिवादी द्वारा प्रयुक्त नामों में पहचान-भ्रम कितने प्रतिशत व्यक्तियों को होता है। देखना होगा कि यह प्रतिशत संख्या उस प्रतिशत संख्या से कितनी अधिक है जिस संख्या में सभी नामों में आपस में भ्रम संयोग मात्र से हो जाता है। इससे प्रकाश-निर्णय हो जायेगा कि प्रतिवादी ने वास्तव में दण्डनीय व्यापारिक नामातिलंघन किया है कि नहीं।

इस प्रकार के विवेचनों से यह संकेत भी मिलता है कि कुछ विशिष्ट प्रकार के अपराधों ही नहीं, कुछ विशिष्ट प्रकार के अपराधियों के विषय में भी विशेष न्याय-निर्णय पद्धतियों, विशेष परीक्षण-विधियों, विशेष दण्ड, सुधार अथवा उपकार-प्रणालियों तथा विशेष सिद्धान्तों को अपनाने की आवश्यकता हो सकती है। कम-से-कम बाल-अपराधियों, स्त्री-अपराधियों और लैंगिक अपराधों से अभियुक्तों के विशेष अध्ययन किये जा रहे हैं।

दंड, सुधार और उपचार के विषय में सामान्य मनोवैज्ञानिक प्रश्न भी हैं। दंड के सम्बन्ध में कोई भी दार्शनिक मत अपनाया जाय, पर अंतिम उद्देश्य अपराधी तथा समाज के प्रति न्याय और उसका कल्याण ही है। न्याय-मनोविज्ञान की एक समस्या यह निर्णय करना है कि सर्वाधिक न्याय तथा कल्याण किस प्रकार के दंड से होता है। दंड की मात्रा का भी प्रश्न है और दंड के रूप का भी। कड़ी दंड-व्यवस्थाओं की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं की ओर विशेष ध्यान दिया गया है और प्रायः निष्कर्ष इनके विपक्ष में हो रहे हैं। अपराधियों के नव प्रस्तावित सुधार और उपचार प्रकारों के तुलनात्मक मनोवैज्ञानिक अध्ययनों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है।

न्याय-मनोविज्ञान का एक अंग अभी सर्वथा अविकसित-सा है। वह है संगठित न्याय कार्य के मानवांगों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन। संगठित न्याय-कार्य के मुख्य अंग विधिनियमों के निर्माता अर्थात् विधान सभाओं के सदस्य, विधि-उल्लंघन के अभियुक्त, अभियोक्ता अर्थात् न्याय प्रश्न को न्यायालयों के समक्ष लाने वाले, वकील, साक्षी, न्यायाधीश, पुलिस कर्मचारी अर्थात् न्याय निर्णयों का परिपालन करने-कराने वाले, न्यायाचार्य अर्थात् न्याय-विधियों की शिक्षा देने वाले और न्याय-विधान तथा न्याय-रक्षा के परिवेश तथा क्षेत्र स्वरूप जन साधारण, ये नौ वर्ग हैं। इन सबकी मनोवृत्तियों का अलग-अलग वैज्ञानिक एवं तथ्यात्मक अध्ययन न्याय-मनोविज्ञान की महत्त्वपूर्ण समस्या है।

———